शा. नरसीभाई तेजसी तरफथी

पोताना स्वर्गस्थ पिता

श्री तेजसी नत्थुना स्मरणार्थ

श्रीमदुमास्वातिरचित

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र

नामक

परमोत्तम ग्रन्थनूं भाषानुवाद

तैयार कराववामां

अने

छपाववामां सहायतारूपे

रु. २५०) अढीसोनी रकम

रायचंद्रजैनशास्त्रमालाने

अर्पण कीधी छे.

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

उत्थानिका ।

तत्वार्थसूत्र ।

तत्त्वार्थसूत्र, जिसका अपरनाम तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र भी है, जैनियोंका परममान्य और मुख्य ग्रन्थ है । इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त बड़े लाघवसे संग्रह किये गये हैं । ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है, जो इसके सूत्रोंमें संगठित न हो । सिद्धान्तसागरको एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थरूपी घटमें भर देना यह कार्य इसके क्षमताशाली रचयिताका ही था । तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगांभीर्यको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पड़ता है, और उसके रचयिताकी सहस्रमुखसे प्रशंसा करनी पड़ती है ।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम चार अध्यायोंमें जीवतत्त्वका, पांचवेंमें अजीव (पुद्गल) का, छट्टे सातवेंमें आस्रवका, आठवेंमें बंधका, नवमेंमें संवर और निर्जराका और अन्तके दशवें अध्यायमें मोक्ष-तत्त्वका वर्णन है । इस प्रकार इसमें जैनियोंके माने हुए सप्ततत्त्वोंका विवरण है । यथाः—

पढम चउक्के पढमं पंचमे जाण पुग्गलं तच्चं ।
छहसत्तमेसु आसव, अट्ठमे बंधं च णायव्वो ।
णवमे संवरणिज्जर दहमे मोक्खं वियाणेहि ।
इह सत्ततच्च भणियं दहसुत्ते मुणिवरिंदेहिं ॥

तत्त्वार्थसूत्रके मूलकर्त्ता भगवत् उमास्वामि अथवा उमास्वाति[1] हैं । इन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही पूज्य मानते हैं, और इसी प्रकार उनके बनाये हुए मोक्षशास्त्रको भी आदरणीय समझते हैं । दोनों ही सम्प्रदायोंके आचार्योंने तत्त्वार्थसूत्र पर बड़े २ भाष्य और टीकाग्रन्थ रचे हैं । और मैं समझता हूं, तत्त्वार्थसूत्रपर जितने भाष्य और टीकाग्रन्थ बने हैं, कदाचित् ही किसी दूसरे ग्रन्थपर बने हों । सुतरां कहा जा सकता है कि, तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ जैसा अद्वितीय बना; लोगोंने ि र भी उसका वैसा ही किया ।

तत्त्वार्थसूत्रपर आज तक कितने भाष्य और टीकाग्रन्थ लिखे गये हैं, साधनाभावसे उन सबका ल्लेख न करके मैं यहां कुछ टीका ग्रन्थोंकी सूची देता हूं, जो अनेक भंडारोंके सूचीपत्रों और पोटोंसे तयार की गई है ।

---

१ दिगम्बर समाजमें उमास्वामि नामका और श्वेताम्बर समाजमें उमास्वाति [illegible] है, परन्तु ग्रन्थोंमें प्रायः उमास्वाति ही आता है । [illegible] "[illegible]स्वामिनः" आदि प्रयोगोंसे उमास्वामि नाम भी मान्य[illegible] है ।

दिगम्बरसम्प्रदाय ।

१ गन्धहस्तिमहाभाष्य—भगवत्समन्तभद्रस्वामिविरचित । श्लोक संख्या–८४००० ।
२ सर्वार्थसिद्धिटीका–श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचित । श्लो० सं० ५५०० ।
३ राजवार्तिकालंकार–श्रीमद्भट्टाकलंकदेवरचित । श्लो० सं० १६००० ।
४ श्लोकवार्तिकालंकार–श्रीमद्विद्यानंदिप्रणीत । श्लो० सं० १८००० ।
५ श्रुतसागरीटीका–श्रीश्रुतसागरसूरिरचित । श्लो० सं० ८००० ।
६ तत्त्वार्थसुखबोधिनीटीका–द्वितीय श्रुतसागरसूरिरचित ।
७ तत्त्वार्थटीका–श्रीविबुधसेनाचार्यप्रणीत–श्लो० सं० ३२५० ।
८ तत्त्वप्रकाशिकाटीका–श्रीयोगीन्द्रदेव ।
९ तत्त्वार्थवृत्तिः–श्रीयोगदेव गृहस्थाचार्य ।

---

१ दुःखकी बात है कि, आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु आजसे सौवर्षके पहलेके प्रायः सम्पूर्ण बडे २ विद्वानों और आचार्योंने इस ग्रन्थका अस्तित्व स्वीकार किया है, और उसके जगह २ प्रमाण दिये हैं। इस भाष्यके प्रारभमें समन्तभद्रस्वामीने जो ११५ श्लोकोंमें मगलाचरण किया है, उसे **देवागमस्तोत्र** अथवा **आप्तमीमांसा** कहते हैं। आप्तमीमांसापर श्रीमद्भट्टाकलंकने **अष्टशती** और श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामिने **अष्टसहस्री** ऐसे दो भाष्य वनाये हैं, जिन्हें देखके वडे २ नैयायिक विद्वानोंको विस्मित होना पडता है। विद्वान् पाठक विचार करें कि, जिसके मगलाचरण मात्रपर वडे २ कठिन भाष्य रच डाले गये, वह सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसा गौरवशाली और विलक्षण न होगा? । उदयपुर तथा जयपुरादि नगरोंके भडारोंमें जैनपुस्तकालयोंमें गन्धहस्तिमहाभाष्यका अस्तित्व सुना जाता है। परन्तु उक्त भडारोंके अध्यक्षोंके प्रमादसे अथवा हम लोगोंके दुर्भाग्यसे कहिये; आज उस अमूल्यरत्नकेदर्शन दुर्लभ हो गये। और वडे खेदकी बात है कि ऐसे २ ग्रन्थरत्नोकी शोधमें प्रयत्न करनेवाला भी आज कोई दृष्टिगत नहीं होता।

२ समन्तभद्रस्वामिका अस्तित्व विक्रमसवत् १२५ के लगभग माना जाता है। **आराधनाकथाकोषमें** आपके जीवनकी एक प्रभावोत्पादक कथा मिलती है।

३ यह टीका मुद्रित हो चुकी है, और प्रायः सर्वत्र पुस्तकालयोंमें मिलती है।

४ पूज्यपादस्वामि नन्दिसघके आचार्य थे। **देवनन्दि** और **जिनेन्द्रबुद्धि** ये दो नाम भी इन्हींके हैं। **गणरत्नमहोदधिके** कर्त्ताने आपका नाम **चन्द्रगोमि** भी वतलाया है। विक्रम सवत् ३०८ जेष्ठ सुदी १० को आपका जन्म हुआ था, ऐसा पट्टावलियोंसे प्रतीत होता है। **जैनाभिषेक, समाधिशतक, चिकित्साशास्त्र** और **जैनेन्द्रव्याकरण** आदि ग्रन्थ भी आपके वनाये हुए हैं।

५ विक्रमकी छठी शताब्दिके लगभग श्रीभट्टाकलकदेवका जन्म **खेट** नामक नगरमें हुआ था। आप न्यायके अभूतपूर्व और अद्वितीय विद्वान् थे। राजा **हिमशीतलकी** सभामें एक वडे भारी बौद्धाचार्यको जिसकी ओरसे उसकी तारा नामक देवी वाद करती थी, आपने परास्त किया था। यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है। **अकलंकदेव** देवसघके आचार्य थे, और भट्ट आपका पद था। अकलंक नामके और भी अनेक आचार्य हो गये है। परन्तु **अष्टशती**, **बृहत्त्रयी, लघुत्रयी** आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ भट्टाकलकदेवके ही वनाये हुए हैं।

६ श्रीविद्यानन्दिस्वामी वि० सवत् ६८१ के लगभग हुए हैं। आपका वनाया हुआ **अष्टसहस्री** ग्रन्थ नैयायिक विद्वानोंके गर्वको खर्व करदेनेवाला है।

७ श्रीश्रुतसागरसूरि वि० स. १५५० में वर्तमान थे। **यशस्तिलकचम्पू** महाकाव्यकी यशस्तिलकचन्द्रिका टीकाके कर्त्ता भी आप ही हैं।

८ Bhandarkar 5 th 1096

१० तत्त्वार्थटीका–श्रीलक्ष्मीदेव गृहस्थाचार्य ।
११ तात्पर्यतात्त्वार्थकीटीका–श्रीअभयनन्दिसूरि[1] (तृतीय) प्रणीत ।
१२ तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान[2]–(कर्णाटकीभाषामें)

भाषाटीकायें ।

१३ सर्वार्थसिद्धिभाषा-पं० जयचन्द्रजीरचित । श्लो० सं० १०००० ।
१४ अर्थप्रकाशिका–पं० सदासुखदासजीरचित । श्लो. सं. १०८७२ ।
१५ राजवार्तिक–पं०फतहलालजी और पं० पन्नालालजी रचित ।
१६ सूत्रदशाध्याय–(श्रुतसागरीके अनुसार) पं० टेकचन्द्रजी प्रणीत ।
१७ सूत्रदशाध्याय वचनिका–पं० जयवन्तजी । श्लो० सं० ४२७० ।
१८ " " पं० शिवचन्द्रजी । श्लो० सं० ४००० ।
१९ " " पं० सदासुखजी । श्लो० सं० १९०० ।
२० सूत्रदशाध्याय वचनिका–पं० फतहलालजी ।
२१ " " पं० देवीदासजी ।
२२ " " पं० मकरन्दजी ।
२३ " " पं० प्रभाचन्द्रजी ।
२४ " " पं० वख्तावर–रतनलालजी ।
२५ सूत्रदशाध्याय (छन्दोवद्ध) पं० हीरालालजी ।
२६ " " " पं० छोटेलालजी ।
२७ तत्त्वार्थबोध " " पं० विधीचन्दजी (बुधजन) ।

श्वेताम्बरसम्प्रदाय[3] ।

१ गजगन्धहस्तिमहाभाष्य—श्रीसिद्धसेनदिवाकर[4] ।
२ श्रीसिद्धसेनगणिरचितटीका—(श्लोकसंख्या १८२८२[5])

---

१ **श्रीअभयनन्दिसूरि** तीसरे वि० स० ७७५ में हुए हैं। आपने **जैनेन्द्रव्याकरण**की **बृहद्वृत्ति**की रचना की है।

२ यह व्याख्यान **श्रीलक्ष्मीसेन** भट्टारक पट्टाचार्य **कोल्हापुर**के पुस्तकालयमें पेटी न. १४ में मौजूद है।

३ इस वातसे कोई सज्जन अप्रसन्न न होवे कि, यहापर दिगम्बरियोंकी अपेक्षा श्वेताम्बरी टीकाग्रन्थ वहुत कम बतलाये गये हैं । क्योंकि हमारा अभिप्राय किसीको निम्नोन्नत बतलानेका नही है, जो कुछ सग्रह हो सका, हमने वही किया है । श्वेताम्बरीय सम्प्रदायमें टीका ग्रन्थोंकी कमी नही है, परन्तु श्वेताम्बरीयसज्जनोंका ध्यान इस ओर कम होनेसे परिश्रम करनेपर भी हमको उनके नाम नही मिल सके, यह खेदकी वात है । शीघ्रताके कारण इस विषयकी खोजकेलिये बहुत समय नही दिया जा सका, सो पाठकगण क्षमा करें।

४ दक्षिणदेशके **प्रतिष्ठानपुर** नामक नगरमें महावीर सवत् ५०० के अनुमान **श्रीसिद्धसेनदिवाकर**का स्वर्गवास हुआ था, ऐसा कहा जाता है । **द्वात्रिंशतिका**, **एकविंशतिगुणस्थानप्रकरण**, **शाश्वतजिनस्तुति**, और **कल्याणमन्दिरस्तोत्र** आदि ग्रन्थ उक्त आचार्यके बनाये हुए प्रसिद्ध हैं । परन्तु **महापुराणकार**के **"कवयो सिद्धसेनादि"** पदसे स्मरण किये हुए सिद्धसेन इनसे पृथक् प्रतीत होते हैं ।

५ यथा,—अष्टादशसहस्राणि द्वेशते च तथा परे । अशीतिरधिका द्वाभ्या टीकाया. श्लोकसग्रहः । इति ।

६ ऐसा प्रसिद्ध है कि, यह टीका **श्रीहरिभद्रसूरि**ने प्रारभ की थी, परन्तु उनका देहोत्सर्ग हो जानेमे उनके शिष्यवर्य्य **श्रीयशोभद्रसूरि**ने पूर्ण की थी ।

३ तत्त्वार्थटीका—श्रीहरिभद्रसूरिरचित। (श्लो० सं० ११०००)

४ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम—श्रीउमास्वातिवाचक।

दिगम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियोंके अनुसार, कार्तिकसुदी ८ विक्रमशक १०१ में भगवदुमास्वामि नंदिसंघके पट पर विराजमान हुए थे। उन्होंने चालीस वर्ष ८ दिन आचार्यपदपर सुशोभित रहके परमपदका उपदेश किया। १९ वर्षकी अल्पवयमें आपने जिनदीक्षा ग्रहण की और २५ वर्ष दीक्षित रहनेके पश्चात् आचार्य पद लाभ किया। इस प्रकार विक्रम सं० ५७ के अनुमान आपने जन्म लेकर इस देशको पवित्र किया था, ऐसा जान पड़ता है। भगवान महावीर तीर्थंकरके निर्वाणके अनन्तर आचार्यपरम्पराका क्रम पट्टावलीमें इस प्रकार दिया है।

विक्रमशकसे पूर्व।

केवली—गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी,

श्रुतकेवली—विष्णुकुमार, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु।

ग्यारह अंग और दशपूर्वके पाठी—विशाखाचार्य, नक्षत्राचार्य, नागसेनाचार्य, जयसेनाचार्य, सिद्धार्थाचार्य, धृतिषेणाचार्य, विजयाचार्य, बुद्धिलिंगाचार्य, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य।

ग्यारह अंगके पाठी—नक्षत्राचार्य (दूसरे), जयपालाचार्य, पांडवाचार्य, कंसाचार्य।

दशअंग—सुभद्राचार्य।

नवअंग—यशोभद्राचार्य।

विक्रमशकके पश्चात्।

आठअंगके पाठी—भद्रबाहाचार्य (दूसरे) विक्रमशक ४ चैत्रसुदी १४ को आचार्य पदपर आरूढ हुए।

सातअंग—लोहाचार्य (इनके समयमें श्वेतांबर स्थापित हुआ)।

एक अंग—अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि।

आचार्य भूतबलिके पश्चात् अंगज्ञानका विच्छेद हो गया। उनके पीछे फागुन सुदी १४ विक्रमशक २६ में गुप्तिगुप्ति, आश्विन सुदी १४ वि. श. ३६ को माघनन्दि, फागुन सुदी १४ वि. श. ४० में जिनचन्द्र, और पौषवदी ८ वि. श. ४९ में अनेक ग्रन्थोंके रचयिता भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य क्रमसे आचार्य पदपर आरूढ हुए और उनके शिष्य भगवदुमास्वामी वि. श. १०१ में हुए, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके पद्मनन्दि[1], एलाचार्य, वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ आदि अनेक नामान्तर हैं[2]। और इसी प्रकार कोई २ कहते हैं कि, उमास्वामि भी उन्हींका एक नाम हैं। परन्तु इस विषयमें कोई बलिष्ठ प्रमाण नहीं मिलनेसे एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्दस्वामीके उपर्युक्त नामोंमेंसे एक गृद्धपिच्छ नामको उमास्वामिका वाचक भी मानते हैं। जैसे,—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंयातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

परन्तु किंचित् विचार करनेसे गृद्धपिच्छोपलक्षित यह उमास्वामिका नामान्तर नहीं किन्तु विशेषण प्रतीत हो जाता है। गृद्धपिच्छ (कुन्दकुन्द) गुरुके नामसे उपलक्षित अर्थात् गृद्धपिच्छ है, गुरु जिसका ऐसा युक्तियुक्त अर्थ उक्तपदका बन जाता है। और ऐसा माननेमें भी कोई विरोध नहीं आ सकता कि, अपने गुरुकी नाईं वे भी गृद्धकी पिच्छी रखते थे, उनका नाम गृद्धपिच्छ नहीं था।

यहांपर पाठकोंको कौतुक उत्पन्न होगा कि, गृद्धपिच्छ ऐसा नाम कुन्दकुन्दस्वामीका कैसे हुआ? सो इस विषयमें गुरुपरम्परासे एक कथा प्रसिद्ध है उसे हम यहां लिखदेना उचित समझते हैं;—

एक वार कुन्दकुन्दस्वामी स्वमनोगत किसी शंकाका निवारण करनेके लिये चारण ऋद्धिके बलसे आकाशमार्गके द्वारा विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकरभगवान्‌के समवशरणमें जा रहे थे। मार्गमें अचानक उनकी मयूरपिच्छिका हाथसे छूटकर गिर गई, और उसी समय आकाशमें जाते हुए एक गृद्धकी पिच्छि पड़ी। तब मुनिवेषकी रक्षाकेलिये उन्होंने उसे ग्रहण कर ली। और विदेहक्षेत्रको गमन किया। कहते है, तबहीसे उनका नाम गृद्धपिच्छ हो गया। उमास्वामिका अपरनाम गृद्धपिच्छ माननेवाले उपर्युक्त कथाको उमास्वामिकी ही बतलाते हैं, और ऐसा मानकर वे उमास्वामिको चारणऋद्धि प्राप्त भी मानते हैं।

कुन्दकुन्दस्वामीके[3] बनाये हुए ८४ प्राभृत (पाहुड़) ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमेसे नाटकसमयसार पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, रयणसार, षट्पाहुड़ आदि अनेक प्राकृत ग्रन्थ मिलते हैं। परन्तु उमास्वामिका[4] एक तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ ही मिलता है, जो कि संस्कृत है और इसके अतिरिक्त उनका कोई दूसरा ग्रन्थ सुननेमें भी नहीं आया।

---

१ **पद्मनन्दि** नामके धारण करनेवाले और भी ७–८ आचार्य हो गये हैं। उनमेंसे **पंचविंशतिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति**, आदिके कर्त्ता विशेष प्रसिद्ध हैं।

२—तस्यान्वये भूविदिते बभूव य. **पद्मनन्दि**प्रथमाभिधानः।
श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसा—वाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्य—स्तात्कालिकाशेषपदार्थवादी॥

इन श्लोकोंसे यह जान पडता है कि कुन्दकुन्दका पद्मनन्दि प्रथम नाम था, पश्चात् कुन्दकुन्दादि अनेक नाम हुए। और उमास्वाति उनके पीछे आचार्य हुए, जिनको गृद्धपिच्छ भी कहते थे। सो इससे कुन्दकुन्द और उमास्वातिके एक होनेकी शका तो सर्वथा मिट जाती है, रही गृद्धपिच्छ सज्ञाकी बात सो दोनोंके घटित हो सकती है।

३ कुन्दकुन्द नामके एक दूसरेभी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने **वैद्यगाहा** नामक प्राकृत वैद्यकग्रन्थ बनाया है। वैद्यगाहामें ४००० गाहा (गाथा) हैं।

४ उमास्वामिरचित **श्रावकाचार** तथा **पंचनमस्कारस्तवन** ऐसे दो ग्रन्थ और प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे लघु उमास्वामिके हैं, जो कि उनसे बहुत पीछे हुए हैं।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थकी रचनाके विषयमें कर्णाटकभाषाकी तत्त्वार्थवृत्ति नामकटीकाकी प्रस्तावनामें एक बड़ी मनोरंजक कथा लिखी है, वह इस प्रकार है कि:—

सौराष्ट्र (गुजरात) देशके किसी नगरमें एक पवित्रान्तःकरण और नित्यनैमित्तिक क्रियाओंमें तत्पर श्रद्धावान् द्वैपायक नामक श्रावक रहता था। वह बड़ा विद्वान था। और इसकी इच्छा थी कि किसी उत्तमग्रन्थकी रचना करूं, परन्तु गार्हस्थ्यजजालके कारण अनवकाशवशतः कुछ कर नहीं सकता था। निदान एकदिन उसने प्रतिज्ञा की कि, प्रतिदिन जब एक सूत्र बना लूंगा, तब ही भोजन करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा। और मोक्षशास्त्रके बनानेका निश्चय करके उसी दिन उसने "दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह प्रथम सूत्र बनाया। तथा विस्मरण हो जानेके डरसे अपने घरके एक खंभेपर उसे लिख दिया।

इसके पश्चात् दूसरे दिन वह श्रावक किसी कार्यके निमित्त कहीं अन्यत्र चला गया और उसके घर एक मुनिराज आहारके लिये आये। मुनिके दर्शनसे द्वैपायककी सुशीला गुणवती भार्याने अत्यन्त प्रसन्न होकर नवधाभक्तिपूर्वक उन्हें भोजन कराया। भोजनोपरान्त मुनिराजने खंभेपर लिखा हुआ वह सूत्र जो द्वैपायकने लिखा था, देखकर किंचित् विचार किया और तत्काल ही उसके पहले सम्यक् विशेषण लिखकर वहांसे चल दिया। तदनन्तर जब द्वैपायक आया, तो उसे अपने लिखे हुए सूत्रमें सम्यक् विशेषण अधिक लिखा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, और साथ ही सूत्रकी शुद्धता निर्दोषतासे आनन्द भी हुआ। भार्याके पूछनेसे विदित हुआ कि, मुनिराज आहारके निमित्त पधारे थे, कदाचित् वे लिख गये होंगे। तब श्रावक उसी समय बडी आतुरताने उनके ढूंढनेको निकला। यत्र तत्र बहुत भटकनेके पश्चात् एक रमणीक वनमें उसे उक्त मुनिराजके दर्शन हुए। वे एक बड़े भारी मुनियोंके संघके नायक थे। उनकी मुद्राके दर्शनमात्रसे वह श्रावक जान गया कि, इन्हीं महात्माने मेरे सूत्रको शुद्धकरनेकी कृपा की होगी। और गद्गद होके उनके चरणोंपर पड़ गया, बोला, भगवन्! उस मोक्षशास्त्रको आप ही पूर्ण कीजिये। ऐसे महान् ग्रन्थके रचनेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है। आपने बड़ा उपकार किया, जो मेरी वह बडी भारी भूल सुधार दी। सच है दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षका मार्ग नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्षमार्ग है। अतएव "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ही परिपूर्ण और विशुद्ध सूत्र है। श्रावकके उक्त आग्रह और प्रार्थनाको मुनिराज टाल नहीं सके, और निदान उन्होंने इस तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्रको रचके पूर्ण किया। पाठक! वे मुनिराज और कोई नहीं, हमारे इस लेखके मुख्यनायक भगवान् उमास्वामि ही थे।

दिगम्बरीय ग्रन्थोंके द्वारा जितना संग्रह हो सका, ऊपर लिखा जा चुका। अब श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आपके विषयमें कितना इतिहास मिलता है, देखनेका प्रयत्न किया जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके कर्त्ता भी उमास्वामि माने जाते हैं, जैसा कि, आगे कहा जावेगा और यदि वे मूलतत्त्वार्थके कर्ता ही हों, तो उनके माता, पिता, जन्मस्थानादिके विषय विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। तत्त्वार्थाधिगमके अंतमें जो प्रशस्ति दी है, उसीसे स्पष्ट होता है कि, उमास्वाति आचार्य ग्यारह अंगके ज्ञाता व श्रीघोषनन्दिक्षमणके शिष्य और वाचकमुख्य शिवश्रीके प्रशिष्य थे। तथा वाचनारूपसे महावाचकक्षमण मुण्डपादके शिष्य वाचकाचार्य मूलनामके शिष्य थे। आपके पिताका नाम स्वाति और माताका वात्सी था।

न्यग्रोधिकानगरीमें आपका जन्म हुआ था, परन्तु यह ग्रन्थ आपने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में विहार करते हुए बनाया था। कहते हैं कि, आपने एक वार सरस्वतीकी पाषाणमूर्तिसे शब्दोच्चारण करवाये थे।

जम्बूद्वीपसमासटीकामें आचार्य श्री विजयसिंहजीने लिखा है कि, उमास्वातिकी माताका नाम उमा और पिताका स्वाति था, इससे उनका नाम उमास्वाति हुआ[1]। अनेक विद्वानोंका मत है कि, आप बड़े भारी वैयाकरण भी थे। कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरिने अपने शब्दानुशासनमें अनु और उपको उत्कृष्टताके अर्थमें विधान करते हुए उमास्वातिका नाम उदाहृत किया है[2]।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उमास्वातिके बनाये हुए प्रशमरति, यशोधरचरित्र, श्रावकप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपसमास, पूजाप्रकरण आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। श्रीजिनप्रभसूरिने अपने तीर्थकल्प नाम ग्रन्थमें तथा श्रीहरिभद्रसूरिने प्रशमरतिकी टीकामे आपको पांचसौ[3] ग्रन्थोंका प्रणेता बतलाया है। इससे सिद्ध है कि, आप एक असाधारण शक्तिशाली विद्वान् थे।

श्वेताम्बराचार्योंकी पट्टावलियोंमें उमास्वातिका नाम कहीं नहीं मिलता, इससे वे किस शताब्दिमें हुए थे, इसका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि, परिश्रमपूर्वक नाना-ग्रन्थोंका पर्यालोचन करनेसे कालान्तरमें यह कठिनता दूर हो जावेगी। डाक्टर पिटर्सनकी रिपोर्टमें वीर निर्वाणके ३०० वर्ष पीछे उमास्वातिका होना बतलाया है, परन्तु जबतक इस विषयमें पूरे २ प्रमाण न दिये जावें, तबतक विश्वास नहीं हो सकता। क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टिसे ऐसी अनेक शंकायें उपस्थित होती हैं, जिनसें उमास्वातिका विक्रमके बहुत पहले होना बन नहीं सकता।

यदि दिगम्बरियोंके माने हुए उमास्वाति ही तत्त्वार्थसूत्र मूलके कर्त्ता हैं, और उन्हें श्वेताम्बरी भाई भी मानते हैं, तो इसमें सन्देह नहीं है कि, वे एक ही थे, और उनका समय भी एक ही था। ऐसा नही हो सकता कि, श्वेताम्बरियोंके उमास्वाति किसी समयमे हुए और दिगम्बरियोंके और किसी समयमें। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र एक ही है। ऐसी दशामें दिगम्बरीय सम्प्रदायमें माना हुआ समय अर्थात् विक्रमकी प्रथम शताब्दि मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। हां यह दूसरी बात है कि, उमास्वाति श्वेताम्बरी थे अथवा दिगम्बरी? परन्तु अब मैं समझता हूं, इस विषयमे विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं है, दोनोंको ही अपने २ कहके मानना चाहिये और पूजना चाहिये। उनके ग्रन्थोंने दोनोंका ही अनन्त उपकार किया है। इतनेपर भी यदि किसीको उक्त विवादके निर्णय करनेकी इच्छा हो, तो वह प्रसन्नतासे निर्णय करे। नाना ग्रन्थों और ऐतिहासिक ग्रन्थोंके पाठसे उसकी इच्छा पूर्ण हो सकती है। मैं इस विषयमें और कुछ नहीं कहना चाहता।

तत्त्वार्थसूत्रमें भिन्नता।

तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें मान जाता है, परन्तु इससे ऐसा नहीं समझलेना चाहिये कि, दोनों सम्प्रदायोंमें वह एकसा है, नहीं! उसके अनेक सूत्रोंमे भेद है, जो कि, एक पृथक् दिये कोष्टकसे विदित होगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि, भगवदुमास्वातिने एक ही

---

१ .....अस्य सग्रहकारस्योमा माता स्वातिः पिता तत्सम्बन्धादुमास्वातिः..... ।

२ उपोमास्वातिसगृहीतारः (अध्याय २ पाद २ सूत्र ३९ ।)

३ इहाचार्यः श्रीमानुमास्वातिपुत्र पञ्चशतप्रबन्धप्रणेता वाचकमुख्यः . . . ।

तत्त्वार्थशास्त्र बनाया है पीछे अपने २ मान्य पदार्थोंके प्रतिपादनके लिये आचार्योंको पाठभेद करना पड़ा। प्राय: ऐसा होता है कि, जो ग्रन्थ बहुत उत्तम होता है, तथा जिसका बनानेवाला मान्य और प्रतिभाशाली प्रसिद्ध होता है, उस ग्रन्थ तथा आचार्यको प्रत्येक सम्प्रदाय अपनाना चाहते हैं, और थोड़ा बहुत पाठभेद करके वे अपने मनोरथको पूर्ण करते हैं। मैं समझता हूं, तत्त्वार्थसूत्रमें पाठभेद इसी खेंचातानीसे हुआ है, और आज इस बातका निर्णय करना कठिन हो गया है कि, आचार्यकी असली कृति कौन है। अस्तु।

पाठभेदका जो कोष्टक दिया गया है, उसमें केवल दिगम्बरसम्प्रदायमान्यसूत्रों और इस भाष्यके सूत्रोंका विभेद बतलाया है। परन्तु कहते हैं कि, श्वेताम्बराम्नायके अन्य टीकाग्रन्थोंमें और इस भाष्यमें भी बहुत कुछ सूत्रोंका पाठभेद हैं। जो हो, मुझे अन्यटीकाग्रन्थोंके देखनेका अवसर नहीं मिला, इसलिये कुछ नहीं कह सकता। परन्तु दिगम्बरी टीकाकारोंका सूत्रपाठमें एक मत है।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।

पहले जिन टीकाग्रन्थोंकी सूची दी गई है, उन सबमेंसे जहांतक मैं जानता हूं, संस्कृत सर्वार्थ-सिद्धि तथा और दोतीन भाषाटीका ग्रन्थोंको छोड़के शेष सब अप्रकाशित हैं। और उक्त दो तीन जो छपे हुए हैं, वे केवल दिगम्बर सम्प्रदायके पदार्थोंके कहनेवाले हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदायके टीका-ग्रन्थ अभीतक कोई भी प्रकाशित नहीं हुए, और इस कारण उनके प्रकाशित होनेकी आवश्यकता थी। हर्षका विषय है कि, इसी बीचमें बंगालकी एशियाटिक सुसाइटीने अपनी संस्कृतग्रन्थ सीरीजमें तत्त्वार्थाधिगमभाष्य प्रकाशित करके जैनसम्प्रदायका गौरव बढ़ानेकी कृपा की। परन्तु हमारे समाजमें संस्कृतविद्याका एक प्रकारसे अभाव होनेके कारण उक्त मूल ग्रन्थ कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकता था, अतएव श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलके स्वामियोंने व्याकरणाचार्य पं० ठाकुर-प्रसादजीसे इसकी सार्वदेशिक हिन्दी भाषाटीका करानेका मनोरथ किया, और हर्षका विषय है कि, वह पूर्ण होके आज आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस तत्त्वार्थाधिगम भाष्यके कर्त्ता श्रीउमास्वातिवाचक हैं। और अनेक विद्वानोंका मत है कि, मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता उमास्वाति ही भाष्यके कर्त्ता हैं, अर्थात् श्रीमदुमास्वातिने स्वयं ही अपने ग्रन्थपर उक्त भाष्यके रचनेकी कृपा थी, परन्तु ग्रन्थान्तरोंसे इस विषयका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, इसलिये सहसा विश्वास करनेको जी नहीं चाहता। ग्रन्थकी रचनाप्रणाली और प्रतिपाद्य विषयकी असूक्ष्मता पर ध्यान देनेसे मैं समझता हूं, बहुत थोड़े विद्वान् इस बातको स्वीकार करेंगे कि, यह भाष्य मूलग्रन्थकर्त्ताका ही है। क्योंकि मूलग्रन्थकर्त्ताकी टीका कुछ विलक्षण ही होती है। वह ऐसे सूक्ष्म विषयोंपर अपनी लेखनी घिसता है, जिसको अन्य विद्वान् कहनेका सामर्थ्य नहीं रखते। सो वह बात इस ग्रन्थमें दिखाई नहीं देती। और कदाचित् मेरा यह भ्रम मात्र हो, तो विद्वज्जन निर्णय-करें, मेरे लेखको किसी प्रकार पक्षपातपूर्ण न समझें।

अब मैं इस विषयको यहीं समाप्त करता हूं, और साथ ही एक दो प्रार्थना किये देता हूं कि, जैन-समाजमें अच्छे विद्वानोंका अभाव होनेके कारण इस ग्रन्थकी हिन्दीटीका एक भिन्नधर्मी विद्वान्से बनवाई है। यद्यपि वे जैनधर्मके तत्त्वोंके जाननेवाले तथा परिचयी हैं, परन्तु भिन्नधर्मी होनेके कारण यदि कहींपर टीकामें भूलें रह गई हों, और ऐसा संभव भी है तो आप लोग मूलके अनुसार

१ सर्वार्थसिद्धिभाषा रायचन्द्रशास्त्रमालाद्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है।

सुधारके पढ़ें । आजकलकी पद्धतिके अनुसार इस ग्रन्थकी भूमिका विद्वद्वर्य पं० ठाकुरप्रसादजीको ही लिखनी चाहिये थी, परन्तु उनकी अनुपस्थितिके कारण प्रकाशक महाशयके आग्रहसे भूमिकाका कार्य मुझे करना पड़ा है । इसमें मेरी अल्पज्ञता तथा प्रमादसे कुछ भूल हुई हो, तो उदार पाठक क्षमा करें ।

अन्तमें श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलके सभ्योंको मैं सच्चे हृदयसे धन्यवाद देता हूं, जो जैनधर्मके अपूर्व ग्रन्थभंडारको प्रकाशित करनेमें दत्तचित्त हैं । इत्यलम् विद्वद्वरेषु—

चंदावाड़ी–गिरगांव
बम्बई । २०–१–०६ ई०

जिनवाणीका सेवक—
देवरी (सागर) निवासी.
नाथूराम प्रेमी.

दिगम्बर और श्वेताम्बराम्नायके सूत्रपाठोंका भेदप्रदर्शककोष्टक।

प्रथमोध्यायः।

सूत्राङ्क। दिगम्बराम्नायीसूत्रपाठ।	सूत्राङ्क। श्वेताम्बराम्नायीसूत्रपाठ।
१५ अवग्रहेहावायधारणाः।	१५ अवग्रहेहापायधारणाः।
× ×	२१ द्विविधोवधिः।
२१ भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणाम्।	२२ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।
२२ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।	२३ यथोक्तनिमित्तः.....................।
२३ ऋजुविपुलमाती मनःपर्ययः।	२४ ....पैर्यायः।
२८ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य।	२९ ....पर्यायस्य।
३३ नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः।	३४ ....सूत्रशब्दा नयाः।
× ×	३५ आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ।

द्वितीयोऽध्यायः।

५ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्च भेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासयमाश्च।	५ ......दर्शनदानादिलब्धयः...................................।
१३ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।	१३ पृथिव्यब्वनस्पतयः स्थावराः।
१४ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।	१४ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।
× ×	१९ उपयोगः स्पर्शादिषु।
२० स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः।	२१ ....शब्दास्तेषामर्थाः।
२२ वनस्पत्यन्तानामेकम्।	२३ वाय्वन्तानामेकम्।
२९ एकसमयाविग्रहा।	३० एकसमयोऽविग्रहः।
३० एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।	३१ एकं द्वौ वानाहारकः।
३१ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाद जन्म।	३२ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म।
३३ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः।	३४ जराय्वण्डपोतजानां गर्भः।
३४ देवनारकाणामुपपादः।	३५ नारकदेवानामुपपातः।
३७ पर पर सूक्ष्मम्।	३८ तेषां परं परं सूक्ष्मम्।
४० अप्रतीघाते।	४१ अप्रतिघाते।
४६ औपपादिक वैक्रियकम्।	४७ वैक्रियमौपपातिकम्।
४८ तैजसमपि।	× ×
४९ शुभ विशुद्धमव्याघाति चाहारक प्रमत्तसंयतस्यैव।	४९ ....चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।

१ भाष्यके सूत्रोंमें सर्वत्र मनःपर्ययके बदले मनःपर्याय है।

५२ शेषास्त्रिवेदाः ।	× ×
५३ औपपादिकचरमोत्तमदेहाःसङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।	५२ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासङ्ख्येय ....।

तृतीयोऽध्यायः ।

१ रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ।	१ ....सप्ताधोऽधःपृथुतराः ।
२ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।	२ तासु नरकाः ।
३ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।	३ नित्याशुभतरलेश्या........................... ....।
७ जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।	७ जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानोद्वीप समुद्राः ।
१० भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।	१० तत्र भरत................................ ....।
	× ×
१२ हेमार्ज्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ।	× ×
१३ मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।	× ×
१४ पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।	× ×
१५ प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः।	× ×
१६ दशयोजनावगाहः ।	× ×
१७ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।	× ×
१८ तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।	× ×
१९ तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपारिषत्काः ।	× ×
२० गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।	× ×
२१ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।	× ×
२२ शेषास्त्वपरगाः ।	× ×
२३ चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ।	× ×
२४ भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ।	× ×

२५ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षाविदेहान्ताः।	× ×
२६ उत्तरा दक्षिणतुल्याः।	× ×
२७ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।	× ×
२८ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।	× ×
२९ एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरुवकः।	× ×
३० तथोत्तराः।	× ×
३१ विदेहेषु सङ्ख्येयकालाः।	× ×
३२ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।	× ×
३८ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।	१७ ....परापरे..................।
३९ तिर्यग्योनिजानां च।	१८ तिर्यग्योनीनां च।

चतुर्थोऽध्यायः।

२ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः।	२ तृतीयः पीतलेश्यः।
× ×	७ पीतान्तलेश्याः।
८ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः।	८ ....प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः।
१२ ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च।	१३ ....प्रकीर्णतारकाः।
१९ सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।	२० सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारे-................ ....सर्वार्थसिद्धे च।
२२ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु।	२३ ....लेश्या हि विशेषेषु।
२४ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः।	२४ ....लोकान्तिकाः।
२८ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः।	२९ स्थितिः।
× ×	३० भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्।
× ×	३१ शेषाणां पादोने।
× ×	३२ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च।
२९ सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके।	३३ सौधर्मादिषु यथाक्रमम्।
× ×	३४ सागरोपमे।
× ×	३५ अधिके च
३० सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त।	३६ सप्त सानत्कुमारे।

३१ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु।	३७ विशेषस्त्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च।
३३ अपरा पल्योपममधिकम्।	३९ अपरा पल्योपममधिकं च।
× ×	४० सागरोपमे।
× ×	४१ अधिके च।
३९ परापल्योपममधिकम्।	४७ परापल्योपमम्।
४० ज्योतिष्काणां च।	४८ ज्योतिष्काणामधिकम्।
× ×	४९ ग्रहाणामेकम्।
× ×	५० नक्षत्राणामर्धम्।
× ×	५१ तारकाणां चतुर्भागः।
४१ तदष्टभागोऽपरा।	५२ जघन्या त्वष्टभागः।
× ×	५३ चतुर्भागः शेषाणाम्।
४२ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।	× ×

पञ्चमोऽध्यायः।

२ द्रव्याणि।	२ द्रव्याणि जीवाश्च।
३ जीवाश्च।	× ×
१० सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम्।	७ असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः
× ×	८ जीवस्य च।
१६ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।	१६ ....विसर्गाभ्यां....... ।
२६ भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते।	२६ सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते।
२९ सद्द्रव्यलक्षणम्।	× ×
३७ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।	३७ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।
३९ कालश्च।	३९ कालश्चेत्येके।
× ×	४२ अनादिरादिमांश्च।
× ×	४३ रूपिष्वादिमान्।
× ×	४४ योगोपयोगौ जीवेषु।

षष्ठोऽध्यायः।

३ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।	३ शुभः पुण्यस्य।
× ×	४ अशुभः पापस्य।
५ इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।	६ अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः.......... .... ।
६ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।	७ ....भाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।
१८ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।	१८ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य।

१८ स्वभावमार्दवं च ।	× ×
२१ सम्यक्त्वं च ।	× ×
२३ तद्विपरीत शुभस्य	२२ विपरीत शुभस्य ।
२४ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।	२३ ....भीक्ष्ण........................... तपसीसङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्यकरण-.... .... तीर्थकृत्वस्य ।

सप्तमोऽध्यायः ।

४ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ।	× ×
५ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।	× ×
६ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसवादाः पञ्च ।	× ×
७ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुसरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाःपञ्च।	× ×
८ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।	× ×
९ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।	४ हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ।
१२ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।	७ जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ।
२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।	२३ परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीता............. .... ।
३२ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।	२७ कन्दर्प्पकौकुच्य............................ णोपभोगाधिकत्वानि ।
३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।	२९ ....संस्तारो ....नुपस्थापनानि ।
३७ जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।	३२ .... निदानकरणानि ।

अष्टमोऽध्यायः ।

२ सकषायत्वाज्जीवः कर्म्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः	२ ....पुद्गलानादत्ते ।
× ×	३ स बन्ध. ।
४ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।	५ .... मोहनीयायुष्क नाम.......।

१ आठवें अध्यायके १२ वें सूत्रमें भी तीर्थकरत्वं चके स्थानमें तीर्थकृत्वं च पाठ है।

६ मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवलानाम् ।

७ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।

९ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीया-ख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोक-भयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ।

१३ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।

१६ विंशतिर्नामगोत्रयोः ।

१७ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।

१९ शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।

२४ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रा-वगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।

२५ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।

२६ अतोऽन्यत्पापम् ।

७ मत्यादीनाम् ।

८ ....

...स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ।

१० ....मोहनीयकषायनोकषाय.......

....

तदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्या-ख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाःहास्यरत्यरतिशोकभयजुगु-प्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः ।

१४ दानादीनाम् ।

१७ नामगोत्रयोर्विंशतिः ।

१८ ....आयुष्कस्य ।

२१ ....मुहूर्तम् ।

२५ ....क्षेत्रा-वगाढस्थिताः.............. ।

२६ सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुः... ।

× ×

नवमोऽध्यायः ।

६ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्या-गाकिंचन्यब्रह्मचर्य्याणि धर्मः ।

१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ।

१८ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्म-साम्परायययाख्यातमिति चारित्रम् ।

२२ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतप-श्छेदपरिहारोपस्थापनाः ।

२७ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मु-हूर्तात् ।

× ×

३१ विपरीतं मनोज्ञस्य ।

३६ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।

× ×

३७ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।

४० त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ।

४१ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।

६ उत्तमः क्षमा......................

.... ।

१७ ....विंशतेः ।

१८ ....

यथाख्यातानि चारित्रम् ।

२२ ... ...

..........स्थापनानि ।

२७ .... निरोधो ध्यानम् ।

२८ आमुहूर्तात् ।

३३ विपरीतं मनोज्ञानाम् ।

३७ ... .

धर्म्मप्रमत्त संयतस्य ।

३८ उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ।

३९ शुक्ले चाद्ये ।

४२ तत्त्र्येककाययोगा.......... ।

४३ ....सवितर्के पूर्वे ।

दशमोऽध्यायः।

२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।	२ ....निर्जराभ्याम्।
× ×	३ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।
३ औपशमिकादि भव्यत्वानां च।	४ औपशमिकादिभव्यत्वाभावाश्चान्यत्र केवल-सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।
४ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।	× ×
५ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात्।	५ ....गच्छत्या......।
६ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च।	६ ... ... तद्गतिः।
७ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाम्बूवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।	× ×
८ धर्मास्तिकायाभावात्।	× ×

वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका ।





रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीमत्—उमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।

हिंदीभाषानुवादसहितम्.

सम्बन्धकारिकाः

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥ १ ॥
जन्मनि कर्मक्लेशैरनुबद्धेऽस्मिंस्तथा प्रयतितव्यम् ।
कर्मक्लेशाभावो यथा भवत्येष परमार्थः ॥ २ ॥
परमार्थालाभे वा दोषेष्वारम्भकस्वभावेषु ।
कुशलानुबन्धमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म ॥ ३ ॥
कर्माहितमिह चामुत्र चाधमतमो नरः समारभते ।
इह फलमेव त्वधमो विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥ ४ ॥
परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।
मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥ ५ ॥
यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।
नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥ ६ ॥
तस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके ।
देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥ ७ ॥
अभ्यर्चनादर्हतां मनःप्रसादस्ततः समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥ ८ ॥

तीर्थप्रवर्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।
तस्योदयात्कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ ९ ॥
तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ १० ॥
यः शुभकर्मासेवनभावितभावो भवेष्वनेकेषु ।
जज्ञे ज्ञातेक्ष्वाकुषु सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीपः ॥ ११ ॥
ज्ञानैः पूर्वाधिगतैरप्रतिपतितैर्मतिश्रुतावधिभिः ।
त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्तः शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दुः ॥ १२ ॥
शुभसारसत्त्वसंहननवीर्यमाहात्म्यरूपगुणयुक्तः ।
जगति महावीर इति त्रिदशैर्गुणतः कृताभिख्यः ॥ १३ ॥
स्वयमेव बुद्धतत्त्वः सत्त्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्वः ।
अभिनन्दितशुभसत्त्वः सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवैः ॥ १४ ॥
जन्मजरामरणार्त्तं जगदशरणमभिसमीक्ष्य निःसारम् ।
स्फीतमपहाय राज्यं शमाय धीमान्प्रवव्राज ॥ १५ ॥
प्रतिपद्याशुभशमनं निःश्रेयससाधकं श्रमणलिङ्गम् ।
कृतसामायिककर्मा व्रतानि विधिवत्समारोप्य ॥ १६ ॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंवरतपःसमाधिबलयुक्तः ।
मोहादीनि निहत्याशुभानि चत्वारि कर्माणि ॥ १७ ॥
केवलमधिगम्य विभुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम् ।
लोकहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम् ॥ १८ ॥
द्विविधमनेकद्वादशविधं महाविषयममितगमयुक्तम् ।
संसारार्णवपारगमनाय दुःखक्षयायालम् ॥ १९ ॥
ग्रन्थार्थवचनपटुभिः प्रयत्नवद्भिरपि वादिभिर्निपुणैः ।
अनभिभवनीयमन्यैर्भास्कर इव सर्वतेजोभिः ॥ २० ॥
कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम् ।
पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय ॥ २१ ॥
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम् ।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥
महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य ।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ २३ ॥

शिरसा गिरिं बिभित्सेदुच्चिक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम् ।
प्रतितीर्षेच्च समुद्रं मित्सेच्च पुनः कुशाग्रेण ॥ २४ ॥
व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत् ।
गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ॥ २५ ॥
खद्योतकप्रभाभिः सोऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात् ।
योऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं संजिघृक्षेत ॥ २६ ॥
एकमपि तु जिनवचनाद्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति ।
श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥ २७ ॥
तस्मात्तत्प्रामाण्यात् समासतो व्यासतश्च जिनवचनम् ।
श्रेय इति निर्विचारं ग्राह्यं धार्यं च वाच्यं च ॥ २८ ॥
न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ २९ ॥
श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम् ।
आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति ॥ ३० ॥
नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

॥ इति सम्बन्धकारिकाः समाप्ताः ॥

जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे शुद्ध ज्ञान तथा (उसकेद्वारा इस संसारसे) विरतिको प्राप्त करता है, (संसारमें) अनेक दुःखोंका कारण होनेपरभी यह जन्म, उस मनुष्यको उत्तम लाभदायक है. ॥ १ ॥ अनेक प्रकारके कर्म्मोंसे उत्पन्न हुवे क्लेशोंसे निरन्तर संबद्ध इस जन्ममें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि, जिस्से कर्मजनित क्लेशरहित मोक्षरूप परमार्थ सिद्ध हो. ॥ २ ॥ यदि मोक्षरूप परमार्थका लाभ न हो, तथा जन्मके आरम्भकारी कषायरूप दोषोंकी अस्तितामें, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि, जिस्से कुशल अर्थात् शुभप्रयोजनसहित, और निन्दारहित ही कर्म्म हो. ॥ ३ ॥ अत्यन्त अधम मनुष्य, इस लोक तथा परलोकमें दुःखदायक कर्मोंका ही आरंभ करता है, अधम मनुष्य, इस लोकमें केवल फलदायक कर्मोंका आरम्भ करता है, और विमध्यम श्रेणीका मनुष्य, उभय लोकमें फलदायक कर्मोंको करता है; और मध्यमजन परलोकमे हितकारी क्रिया-ओंमें सदा प्रवृत्त रहता है. परन्तु विशिष्टबुद्धि उत्तम मनुष्य तो केवल मोक्षकेहीं लिये निरन्तर प्रयत्न करता है. ॥ ४।५ ॥ और जो मनुष्य, उत्तम धर्मको प्राप्त करके स्वयं कृतार्थ हो गया है, और अन्य मनुष्योंको धर्मका उपदेश देता है, वह निरंतर उत्तम जनोंसे भी अति उत्तम तथा सबका पूजनीय है ॥ ६ ॥ इस हेतुसे उत्तमोत्तम जो अर्हन्

भगवान् हैं वेही लोकमें अन्य प्राणियोंके पूज्यदेवर्षिनरेन्द्रोंसेभी पूजाके योग्य हैं. ॥ ७ ॥ अर्हन् भगवान्की पूजासे मनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है, और मनके प्रसाद अर्थात् प्रसन्नतासे समाधि प्राप्त होती है, तथा समाधिरूप योगसे निःश्रयस मोक्ष प्राप्त होता है; इस कारणसे अर्हन् भगवान्की पूजाही इस लोकमें उत्तम वस्तु है. (क्योंकि उसीके द्वारा मोक्षपदकाभी लाभ होता है) ॥ ८ ॥ तीर्थप्रवर्तनरूप (संसारसे उद्धार करनेवाले) फलदायक जो तीर्थंकरनाम कर्म शास्त्रमें कहा गया है उसीके उदयसे यद्यपि तीर्थंकर अर्हन् भगवान् कृतार्थ है, तथापि तीर्थकी प्रवृत्ति अर्थात् संसारसागरसे पार उतारनेवाले. धर्मका उपदेश करतेही है. ॥ ९ ॥ उसी तीर्थंकरनामकर्मसे, जिस रीतिसे सूर्य्य लोकमें प्रकाश करता है उसी रीतिसे तीर्थके प्रवर्तनके अर्थ तीर्थंकर लोकमें प्रवृत्त होते हैं. ॥ १० ॥ जो कि अनेक जन्मोंमें शुभ कर्मोंके निरन्तर सेवनसे भावित अर्थात् पूजित भाव, सिद्धार्थ नरेन्द्रोंके कुलमे प्रदीपके समान समुज्ज्वल ज्ञातसंज्ञक इक्ष्वाकुवंशके क्षत्रियोंमें, जन्म लिया. ॥ ११ ॥ तथा अति शुद्ध, और अप्रतिपाती पूर्व जन्मोंमे प्राप्त, मति, श्रुत, तथा अवधि, इन तीन ज्ञानोंसे युक्त होकर ऐसे शोभित हुये जैसे शैत्यद्युति (उष्णतारहित प्रकाश) तथा कान्तिगुणोंसे युक्त होनेसें चन्द्रमा ॥ १२ ॥ तथा शुभ, सार, सत्व, संहनन (शरीर रचनाविशेष) वीर्य्य, और माहात्म्यरूप गुणोंसे युक्त, तथा त्रिदश (अर्थात् शास्त्रोक्त तीस) गुणोंसहित्त जगत्में महावीरस्वामी इस नामसे प्रसिद्ध (इक्ष्वाकुवंशमे उत्पन्न हुये. ॥ १३ ॥ स्वयमेव सप्त तत्वोंके ज्ञाता, निराकुलताके कारणोंसे जिनका अचल सत्व अभ्युदयको प्राप्त था, और इन्द्रसहित लोकान्तिक देव जिनके शुभ सत्वकी प्रशंसा किया करते थे ऐसे वे महावीरस्वामी थे. ॥ १४ ॥ तथा जन्म, वृद्धावस्था और मरणसे पीडित इस असार संसारको अशरण देखके अपने उत्तम विशाल राज्यको त्यागकर बुद्धिमान् महावीरस्वामी शान्तिके लिये वनमें चले गये. ॥ १५ ॥ और अशुभ कर्मोंका दमन करनेवाला तथा मोक्षका साधक श्रमणों (जैनमतके मुनियों) के लिङ्ग (चिन्ह) धारण करके, सामायिक कर्मोंको करतेहुये विधिपूर्वक सब व्रतोंको करके, ॥ १६ ॥ सम्यग्ज्ञान, चारित्र, संवर, तप, समाधि, और बल इनसे तो युक्त और मान, मोह, लोभ तथा माया इन चार अशुभ कर्मोंका सर्वथा घात करके, ॥ १७ ॥ पश्चात् स्वयमेव वे प्रभु अनन्त, ज्ञान और दर्शन आदिकी प्राप्तिसे कृतार्थ होनेपरभी इस तीर्थ (जैनधर्म) का उपदेश किया. ॥ १८ ॥ प्रथम प्रमाणनयके अनुसार दो प्रकार, पुनः अनेक प्रकार, वा द्वादशभेदसहित तप आदि धर्म, जो कि

१ यह अर्थ "सत्वहिताऽभ्युद्यताचलितसत्वः" इस पदका कियागया है परन्तु हमारी समझमें इस पदका "जीवोंके हितकेवास्ते अभ्युद्यत और अविचलित सत्त्वको धारण करनेवाले" ऐसा अर्थ प्रतीत होता है. संशोधक.

महान् विषयोंसे युक्त, और अमित आगमोंके प्रमाणोंसे युक्त, तथा संसारसमुद्रसे पार उतारने और संपूर्ण दुःखोंके नाशके लिये समर्थ धर्म है उसका उपदेश दिया. ॥ १९ ॥ तथा यह धर्म अनेक ग्रंथोंके अर्थनिरूपणमे प्रवीण, और अति प्रयत्न-शाली निपुण वादियोंसेभी वैसे अखण्डनीय है जैसे अन्य सब तेजोंसे सूर्य्य ॥ २० ॥ ऐसे पूर्वोक्त धर्मके प्रवर्तक परमऋषिस्वरूप मोहादिरहित, तथा सर्वपूज्य वीरभगवान् महावीरस्वामीको मैं ग्रंथकर्ता त्रिकरण (मन वचन तथा काया) की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करके, ॥ २१ ॥ अधिक अर्थसे पूर्ण, और अल्पशब्दयुक्त इस तत्त्वार्थाधिगम नामक लघु ग्रंथको जो कि अर्हत् भगवान्के वचनोंकाही एक देश है, शिष्यजनोंके हितार्थ वर्णन करूंगा. ॥ २२ ॥ और महान् तथा महाविषयोंसे पूर्ण, और अपार, जिन भगवान्के वचनरूपी महासमुद्रका प्रत्यास (संग्रह) करनेको दुर्गमग्रंथभाषीभी कौन समर्थ होसक्ता है? ॥ २३ ॥ जो मनुष्य अति विशाल गम्भीरार्थोंसे पूर्ण जिनवचनरूपी महासमुद्रका संपूर्णरूपसे संग्रह करनेकी इच्छा करता है वह मानो शिरसे पर्वतको तोडना चाहता है, पृथिवीको दोनों भुजाओंसे फेकना चाहता है, भुजाओंसे समुद्रको पार करना चाहता है, और उसी समुद्रका कुशाके अग्रभागसे थाह (पत्ता) लेना चाहता है, आकाशमें उछलके चन्द्रमाको लंघन करना चाहता है, मेरुपर्वतको हाथसे कंपाना चाहता है, गतिमें वायुसेभी आगे जाना चाहता है, अन्तिम महासागरको पान करना चाहता है, और निजमूर्खताके कारण वह खद्योत (जुगनू वा आगियाकीडा) की दीप्तिसे सूर्य्यके तेजकोभी अभिभूत (पराजित) करना चाहता है. ॥ २४।२५।२६ ॥ जिनभगवान्के उपदेशवचनका एकभी पद अभ्यास करनेसे उत्तरोत्तर ज्ञानप्राप्ति-द्वारा संसारसागरसे पार उतार देता है, क्योंकि केवल सामायिक मात्र पदसे अनंत सिद्ध होगये, ऐसा श्रवण करनेमे आता है. ॥ २७ ॥ इस हेतु, शास्त्रप्रमाणसे जिन भगवान्का वचन संक्षेपसे तथा विस्तारसे अभ्यस्त होनेसे कल्याण (मोक्ष) दायक है; इस कारण सन्देहरहित होकर जिनवाणीको ग्रहण करना चाहिये, उसके अनुसार धारण करना चाहिये, और दूसरोंको सुनानाभी चाहिये ॥ २८ ॥ हितवाक्यके श्रवणसे संपूर्ण श्रोताओंको सर्वथा धर्मसिद्धि नहीं होती, परन्तु अनुग्रहबुद्धिसे वक्ताको धर्मसिद्धि अवश्य होती है ॥ २९ ॥ इसकारण अपने श्रमका विचार न करके सदा मोक्षमार्गका उपदेश करना चाहिये, क्योंकि हितपदार्थोंका उपदेशदाता अपने तथा जिसको उपदेश देता है, दोनोंके ऊपर मानो अनुग्रह करता है ॥ ३० ॥ इस संपूर्ण संसारमें मोक्षमार्गके सिवाय अन्य कोई हितोपदेश नहीं है, इस हेतुसे सर्व श्रेष्ठ इसी मोक्षमार्गकाही कथन मै करूंगा ॥ ३१ ॥ इति मोक्षमार्गप्रतिपादक तत्वार्थाधि-गमसूत्रसम्बन्धप्रकाशकैकत्रिंशत्कारिकाः समाप्ताः ॥

प्रथम अध्यायः ।

मूलसूत्रम्—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

सूत्रार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं॥१॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः। तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः। शास्त्रानुपूर्वीविन्यासार्थं तूद्देशमात्रमिदमुच्यते। एतानि च समस्तानि मोक्षसाधनानि। एकतराभावेऽप्यसाधनानीत्यतस्त्रयाणां ग्रहणम्। एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरं। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः। तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः समञ्चतेर्वा। भावः। दर्शनमिति। दृशेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिरेतत्सम्यग्दर्शनं। प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनं। संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। एवं ज्ञानचारित्रयोरपि॥

विशेष व्याख्याः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र (आचरण) यह तीन प्रकारका मोक्षमार्ग है। उस त्रिविध मोक्षमार्गको हम लक्षण तथा परीक्षा भेदनिरूपणपूर्वक आगे विस्तारसे कहैंगे; और यहांपर केवल शास्त्रानुपूर्वी (क्रम) की रचनाके प्रदर्शनार्थ केवल उद्देश[1] मात्र कहते हैं। ये तीनों मिलेहुये, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षमार्गके साधक हैं, क्योंकि तीनोंमेंसे एकके भी न होनेपर एक वा दो मोक्षके साधन नहीं हो सकते, इसलिये भगवान् सूत्रकारने तीनोंका ग्रहण किया है। इनमेसे पूर्वका लाभ होनेसे उत्तरको प्राप्त करना चाहिये; (अर्थात् सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे उत्तर सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक् चारित्रको निजप्रयत्नसे प्राप्त करना चाहिये,) और उत्तरके लाभमें तो पूर्वका लाभ अवश्यही नियत है, (तात्पर्य्य यह कि सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेसे सम्यग्दर्शनका लाभ अवश्य नियत है, तथा सम्यक्चारित्रके लाभसे दर्शन, ज्ञान दोनोंका लाभ नियत है)। सूत्रमें दर्शन आदिका विशेषण जो सम्यक् पद दिया है वह प्रशंसा अर्थका द्योतक वा वाचक निपात है, (अर्थात् प्रशंसित उत्तम दर्शन आदि मोक्ष मार्गके साधन हैं)। अथवा सम् उपसर्गपूर्वक अञ्च धातुसे क्विप्प्रत्यय करनेसे सम्यक् बनता है. (व्यभिचारशून्य) अर्थात् अवश्य संपूर्ण इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय के द्वारा जो पदार्थोंकी प्राप्ति है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं; यह दर्शन पद दृश धातुसे ल्युट् (अन) प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है.। प्रशस्त अर्थात् उत्तम (निन्दाव्यभिचार आदिसे शून्य)

---

१. पदार्थोंके केवल नाम मात्रके निरूपणको उद्देश कहते हैं—अनुवादकारः.

२. व्युत्पत्तिपक्षमेंभी सम्यक्पद प्रशंसारूप अर्थका प्रतिपादक होकर दर्शनआदि पदोंका विशेषण होता है इसके लिये प्रकारान्तर कहते हैं। अर्थात् जो पूर्णरूपसे द्रव्यभावोंका प्राप्त हो वह सम्यग्दर्शन आदि। अनु०

जो दर्शन है उसको सम्यग्दर्शन कहते है. । अथवा संगतं (निरन्तर व्यवधानशून्य) जो दर्शन है उसको सम्यग्दर्शन कहते है. । इसी प्रकार ज्ञान तथा चारित्रमेंभी सम्यक् पदकी योजना करनी चाहिये. ॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थः—तत्वार्थका जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है ।

भाष्यम्—तत्त्वानामर्थानां श्रद्धानं तत्त्वेन वार्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् तत् सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः । तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते । त एव चार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्ययावधारणम् । तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति ॥

विशेष व्याख्याः—(जिनशास्त्रोंसे प्रतिपाद्य) तत्त्वभूत पदार्थोंका श्रद्धान, अथवा तत्त्वसे जो अर्थोंका श्रद्धान है उसको तत्त्वार्थश्रद्धान कहते है, और उसी तत्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं, तत्त्वसे अर्थात् भाव (यथार्थरूप) से निश्चियको सम्यग्दर्शन कहते है; (तात्पर्य्य यह है कि, जो पदार्थ जैसा है उसीरूपसे उसका जो निश्चय है उसको सम्यग्दर्शन कहते है) जीव आदि पदार्थ तत्त्व कहेजाते है जिनको हम आगे निरूपण करेंगे । वेही तत्त्वभूत जीवादि जो पदार्थ है, उनका श्रद्धान अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूपमें विश्वास करनाही सम्यग्दर्शन है । इस प्रकार प्रशम, अर्थात् रागादिकोंकी उत्कटताका अभाव, संवेग, अर्थात् संसार देह भोग इनका भय, निर्वेद, अर्थात् संसारके पदार्थोंमें घृणापूर्वक वैराग्य, अनुकम्पा (सर्वभूतदया) और शास्त्रबोधित पदार्थआदिमें अस्तित्वकी अभिव्यक्ति (आविर्भाव) रूप जो तत्त्वार्थश्रद्धान है वही सम्यग्दर्शन है. ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—वह सम्यग्दर्शन निसर्ग तथा अधिगमसे होता है ।

भाष्यम्—तदेतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधं भवति । निसर्गसम्यग्दर्शनमधिगमसम्यग्दर्शनं च । निसर्गादधिगमाद्वोत्पद्यत इति द्विहेतुकं द्विविधम् ॥ निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम् । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव इति वक्ष्यते । तस्यानादौ संसारे परिभ्रमतः कर्मत एव कर्मणः स्वकृतस्य बन्धनिकाचनोदयनिर्जरापेक्षं नारकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु विविधं पुण्यपापफलमनुभवतो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वाभाव्यात् तानि तानि परिणामाध्यवसायस्थानान्तराणि गच्छतोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सतः परिणामविशेषादपूर्वकरणं तादृग्भवति येनास्यानुपदेशात्सम्यग्दर्शनमुत्पद्यत इत्येतन्निसर्गसम्यग्दर्शनम् ॥ अधिगमः अभि-

---

१. जो पदार्थ जैसें अवस्थित है तैसा तिसका होना सो 'तत्व' है, और जो निश्चय किया जावे वह अर्थ है; तत्त्वरूप जो निश्चय सो 'तत्वार्थ' है; तात्पर्य्य कि, जो पदार्थ जिसप्रकार अवस्थित है उसका उसी प्रकारसें ग्रहण–निश्चय–होना सो "तत्वार्थ" है—संशोधकः

गम आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेवं परोपदेशाद्यत्तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति ॥

विशेष व्याख्याः—यह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है, एक तो निसर्गजसम्यग्दर्शन, और दुसरा अधिगमजसम्यग्दर्शन, निसर्ग तथा अधिगम दो हेतुओंसे उत्पन्न होनेसे दो प्रकारका है। निसर्ग, परिणाम, स्वभाव, और दुसरेके उपदेशादिका अभाव, ये सब एकार्थवाचक, अर्थात् पर्य्यायशब्द हैं. ज्ञान तथा दर्शनरूप जो उपयोग है उस उपयोगसे युक्त होना यह जीवका लक्षण है वह आगे कहैंगे. उस जीवके अनादिकाल सिद्ध इस संसारमें कर्मसेही भ्रमण करते हुये निजकृतकर्महीका; नारक तिर्य्यग् मनुष्य तथा देव जन्म ग्रहणोंमें बन्ध निकाचन उदय तथा निर्जराकी अपेक्षा रखनेवाले अनेक प्रकारके पुण्य तथा पाप फलोंको अनुभव करते हुवे, उस जीवके ज्ञान तथा दर्शनरूप उपयोग स्वभावसे उन २ परिणाम अध्यवसाय तथा अन्य २ स्थानादिको प्राप्त होते हुवे अनादि कालसे मिथ्यादृष्टि होनेपरभी परिणामविशेष (कर्मोंका परिपाकतासे भावविशेष) से अपूर्व करण ऐसा होता है कि जिसके द्वारा विना किसीके उपदेश आदिके स्वयं किसी समयमें जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वही निसर्गजसम्यग्दर्शन है। और अधिगम, अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा, तथा उपदेश, ये सब समानार्थ कही हैं, इन अधिगम परोपदेशादिकेद्वारा जो तत्वार्थश्रद्धान उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है ॥ ३ ॥

अत्राह । तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । तत्र किं तत्त्वमिति । अत्रोच्यते ।

अब यहांपर कहतेहैं कि, "तत्त्वरूप अर्थोंका जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है" यहांपर तत्व शब्दसे किस २ का ग्रहण है। इस हेतुसे अग्रिम सूत्रका कथन है. ॥

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थः—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, तथा मोक्ष, ये सात तत्त्व हैं।

भाष्यम्—जीवा अजीवा आस्रवा बन्धः संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् । एते वा सप्त पदार्थास्तत्त्वानि । तांल्लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेणोपदेक्ष्यामः ॥

विशेष व्याख्या । जीव मनुष्यादि अजीव आकाश आदि आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा तथा मोक्ष इन सप्तभेदोंसहित जो पदार्थ है वही तत्व है । अथवा ये जीव आदि सात पदार्थ तत्त्व है। उन सात प्रकारके तत्त्वरूप पदार्थोंको आगे लक्षण तथा भेद निरूपणपूर्वक विस्तारसे कहैंगे. ॥ ४ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थः—नाम, स्थापना, द्रव्य, तथा भाव इन अनुयोगोंसे जीव आदि सप्त तत्त्वोंका न्यास होता है. ।

एभिर्नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैस्तेषां जीवादीनां तत्त्वानां न्यासो भवति। विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। तद्यथा। नामजीवः, स्थापनाजीवो, द्रव्यजीवो, भावजीव इति। नाम, संज्ञा, कर्म इत्यनर्थान्तरम्। चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः ॥ यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवो देवताप्रतिकृतिवदिन्द्रो, रुद्रः, स्कन्दो, विष्णुरिति ॥ द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते। अथवा शून्योऽयं भङ्गः। यस्य ह्यजीवस्य सतो भव्यं जीवत्वं स्यात् स द्रव्यजीवः स्यात्। अनिष्टं चैतत्॥ भावतो जीवा औपशमिकक्षायिकक्षायौपशमिकौदयिकपारिणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ताश्च द्विविधा वक्ष्यन्ते। एवमजीवादिषु सर्वेष्वनुगन्तव्यम्॥

विशेष व्याख्या—नाम आदि जो चार अनुयोगद्वार है उनके द्वारा जीवादि तत्त्वोंका न्यास होताहै, अर्थात् विस्तारसे लक्षण तथा विधान (अर्थात् भेद संख्याआदि) से ज्ञान होनेके लिये जो व्यवहारोपयोग है वही न्यास वा निक्षेप है। (तात्पर्य्य यह कि नामआदि निक्षेपोंसे न्यस्तजीवादि पदार्थोंका बोध पूर्णरूपसे होता है।) जैसे नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव, और भावजीव। नाम, संज्ञा और कर्म ये पर्यायवाचक अर्थात् समानार्थक हैं। चेतनावान् अथवा अचेतन द्रव्यकी व्यवहारके लिये जो जीव ऐसा नाम वा संज्ञा की जाती है उसको नामजीव कहते है। और काष्ठ, पुस्तक, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप (फांसा आदिके प्रक्षेपने) में जीवरूपसे स्थापना की जाती है उसको स्थापनाजीव कहते है। देवताओंकी प्रतिमाके सदृश यह इन्द्र है, यह रुद्र है, तथा यह विष्णु हैं, इत्यादि रूपसे जो पाषाण वा धातु आदिकी मूर्तियोंमें स्थापना होती है; वही स्थापनाजीव कहा जाता है। गुणपर्य्यायरहित और अनादि पारिणामिक भावोंसे युक्त और प्रज्ञा (केवल बुद्धि मात्र) से स्थापित किया जाता है वह द्रव्यजीव है। अथवा यह भङ्ग शून्य है। जैसे अजीवरूपसे विद्यमान द्रव्यका भव्यरूपसे जीवत्व हो सके वह द्रव्यजीव होगा, किन्तु यह अनिष्ट है। और भावसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायौपशमिक, औदयिक, तथा पारिणामिक भावोंसे युक्त और उपयोग लक्षणवाले जीव, संसारी तथा मुक्त ऐसे दो प्रकारके आगे कहे जांयगे. इसी रीतिसे अजीव आदि संपूर्ण पदार्थोंमे नामादि निक्षेप विधिका अनुसरण करना चाहिये.

पर्यायान्तरेणापि नामद्रव्यं, स्थापनाद्रव्यं, द्रव्यद्रव्यं, भावतोद्रव्यमिति। यस्य जीवस्याजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तन्नामद्रव्यम्। यत्काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते द्रव्यमिति तत् स्थापनाद्रव्यम्। देवताप्रतिकृतिवदिन्द्रो, रुद्रः, स्कन्दो, विष्णुरिति। द्रव्यद्रव्यं नाम गुणपर्यायवियुक्तं प्रज्ञास्थापितं धर्मादीनामन्यतमत्। केचिदप्याहुर्यद्द्रव्यतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रत्येतव्यम्। अणवः स्कन्धाश्च सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्त इति वक्ष्यामः। भावतो–द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणानि वक्ष्यन्ते। आगमतश्च प्राभृतज्ञो द्रव्यमिति भव्यमाह। द्रव्यं च भव्ये। भव्यमिति प्राप्यमाह। भू,

प्राप्त्यावात्मनेपदी। तदेवं प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि ॥ एवं सर्वेषामनादीनामादिमतां च जीवादीनां भावानां मोक्षान्तानां तत्त्वाधिगमार्थं न्यासः कार्य इति ॥

तथा अन्य पर्य्यायसे योंभी कह सकते हैं कि, नामद्रव्य, स्थापनाद्रव्य, द्रव्यद्रव्य, तथा भावसे द्रव्य,। जैसे जीव वा अजीवका द्रव्य ऐसा नाम किया जाता है वह नामद्रव्य है। तथा जो काष्ठ, पुस्तक, चित्रकर्म, तथा अक्षनिक्षेप आदिमें द्रव्यरूपसे स्थापना की जाती है उसको स्थापनाद्रव्य कहते हैं। जैसे देवताओंकी प्रतिमाके तुल्य यह इन्द्रद्रव्य, यह रुद्ररूप तथा यह विष्णुरूप द्रव्य है। और द्रव्यद्रव्य, द्रव्यगुण-पर्य्यायोंसे रहित केवल प्रज्ञामात्रसे स्थापित धर्म आदिमेंसे किसी एकको जानना चाहिये. और कोई ऐसा भी कहते है कि, जो द्रव्यनिक्षेपसे द्रव्य होता है वह तो पुद्गलद्रव्यही है ऐसा निश्चय करना चाहिये. अणु और स्कन्ध, संघात भेदसे उत्पन्न होते है ऐसा आगे चलके कहैंगे। और भावसे द्रव्य, गुण, तथा पर्य्यायसहित, तथा प्राप्ति आदि लक्षणसंयुक्त धर्म्म आदि आगे निरूपण करैंगे। और आगमसेभी "प्राभृतज्ञ (जीव वा अजीव विधीका ज्ञाता) द्रव्य ही है" यह वचन भी भव्यको कहता है, क्योंकि 'द्रव्यं च भव्ये' 'भव्य अर्थमें द्रव्य यह निपात होता है' यहांपर भव्य यह शब्द भी प्राप्य अर्थको कहता है, क्योंकि आत्मनेपदमें भूधातु प्राप्तिरूप अर्थमें है। इस प्रकार गुण-पर्य्याय आदिसे प्राप्त किये जांय अथवा स्वयं गुणादिको प्राप्त हों वे द्रव्य है। इस रीति अनादि वा आदिमान् संपूर्ण जीवआदि मोक्षान्तपदार्थोंके तत्त्वज्ञानार्थ न्यास अवश्य करना चाहिये।

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—पूर्वकथित जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान प्रमाण तथा नयोंके द्वारा होता है।

भाष्यम्—एषां च जीवादीनां तत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणनयैर्विस्तराधिगमो भवति ॥ तत्र प्रमाणं द्विविधम् परोक्षं प्रत्यक्षं च वक्ष्यते। चतुर्विधमित्येके। नयवादान्तरेण ॥ नयाश्च नैगमादयो वक्ष्यन्ते ॥

किं चान्यत्।

विशेष व्याख्या—यथा क्रमसे संकीर्तित तथा नाम स्थापना आदि निक्षेप विधिसे उत्पन्न जीवादि सप्त तत्त्वोंका ज्ञान प्रमाण तथा नयोंसे यथार्थ रूपसे होता है। उसमें परोक्ष तथा प्रत्यक्ष दो प्रकारका प्रमाण कहैंगे। और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, तथा उपमानरूप. नयवादमें चार प्रकारका प्रमाण कहते हैं। और नैगमसंग्रह आदि नय आगे कहेंगे ॥ ६ ॥

और प्रमाण नयसे अन्य भी जीवादिके ज्ञानका उपाय है वा नहीं। सो अन्य भी है उसको आगेका सूत्र कहते हैं।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थः—निर्देश (वस्तु नाम संकीर्तन) स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, और विधान (भेदसंख्या) इनके द्वाराभी जीव आदि तत्त्वोंका ज्ञान होता है।

भाष्यम्—एभिश्च निर्देशादिभिः षड्भिरनुयोगद्वारैः सर्वेषां भावानां जीवादीनां तत्त्वानां विकल्पशो विस्तरेणाधिगमो भवति। तद्यथा। निर्देशः। को जीवः। औपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्यं जीवः।

विशेष व्याख्या—ये निर्देश आदि षट् अर्थात् छः जो अनुयोगद्वार है उनसे सब भावोंका जीव आदि तत्त्वोंका विकल्प तथा विस्तारसे बोध होता है। जैसे निर्देश-जीव क्या है? उ० औपशमिक तथा क्षायिक आदि जो भाव हैं उनकरके सहित यह द्रव्यही जीव है ॥

सम्यग्दर्शनपरीक्षायाम्। किं सम्यग्दर्शनम्। द्रव्यम्। सम्यग्दृष्टिजीवोऽरूपी नो स्कन्धो नो ग्रामः ॥ स्वामित्वम्। कस्य सम्यग्दर्शनमित्येतदात्मसंयोगेन परसंयोगेनोभयसंयोगेन चेति वाच्यम्। आत्मसंयोगेन जीवस्य सम्यग्दर्शनम्। परसंयोगेन जीवस्याजीवस्य जीवयोरजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पाः। उभयसंयोगेन जीवस्य नोजीवस्य जीवयोरजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पा न सन्ति। शेषाः सन्ति ॥ साधनं। सम्यग्दर्शनं केन भवति। निसर्गादधिगमाद्वा भवतीत्युक्तम्। तत्र निसर्गः पूर्वोक्तः। अधिगमस्तु सम्यग्व्यायामः। उभयमपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयेणोपशमेन क्षयोपशमाभ्यामिति ॥ अधिकरणं त्रिविधमात्मसन्निधानेन परसन्निधानेनोभयसन्निधानेनेति वाच्यम्। आत्मसन्निधानमभ्यन्तरसन्निधानमित्यर्थः। परसन्निधानं बाह्यसन्निधानमित्यर्थः। उभयसन्निधानं बाह्याभ्यन्तरसन्निधानमित्यर्थः। कस्मिन्सम्यग्दर्शनम्। आत्मसन्निधाने तावत् जीवे सम्यग्दर्शनं, जीवे ज्ञानं, जीवे चारित्रमित्येतदादि। बाह्यसन्निधाने जीवे सम्यग्दर्शनं नोजीवे सम्यग्दर्शनमिति यथोक्ता विकल्पाः। उभयसन्निधाने चाप्यभूताः सद्भूताश्च यथोक्ता भङ्गविकल्पा इति ॥ स्थितिः। सम्यग्दर्शनं कियन्तं कालम्। सम्यग्दृष्टिर्द्विविधा। सादिः सपर्यवसाना सादिरपर्यवसाना च। सादि सपर्यवसानमेव च सम्यग्दर्शनम्। तज्जघन्येनान्तर्मुहूर्तं उत्कृष्टेन षट्षष्टिः सागरोपमानि साधिकानि। सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना। सयोगः शैलेशीप्राप्तश्च केवली सिद्धश्चेति ॥ विधानं। हेतुत्रैविध्यात् क्षयादित्रिविधं सम्यग्दर्शनम्। तदावरणीयस्य कर्मणो दर्शनमोहस्य च क्षयादिभ्यः। तद्यथा। क्षयसम्यग्दर्शनं, उपशमसम्यग्दर्शनं, क्षयोपशमसम्यग्दर्शनमिति। अत्र चौपशमिकक्षायौपशमिकक्षायिकाणां परतः परतो विशुद्धिप्रकर्षः ॥

कि चान्यत्।

तथा सम्यग्दर्शनकी परीक्षामें सम्यग्दर्शन क्या है? द्रव्य सम्यग्दर्शन है. सम्यग्दृष्टि जीव रूपरहित नो स्कन्ध तथा नो (ईषत्) ग्राम है ॥ **स्वामित्व** सम्यग्दर्शन किसका है वा किसको होता है? इस हेतुसे कहते है कि यह सम्यग्दर्शन आत्माके संयोगसे ही आत्मासे भिन्न अन्य पुद्गल धर्म आदिके संयोगसे, तथा आत्मा और अनात्मा उभयके संयोगसे होता है, ऐसा कहना चाहिये। आत्माके संयोगसे जीवको सम्यग्दर्शन होता है, वा जीवका सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शनका स्वामी जीव है। तथा पर (आत्मासे

भिन्न) के संयोगसे जीवको, अजीव (ईषत् जीव) को, दो जीवोंको, दो अजीवोंको, बहुत जीवोंको, वा बहुत अजीवोंको होता है; इत्यादि विकल्प है । और उभयके संयोगसे, अर्थात् आत्मा तथा परसंयोगसे जीवको, नो (ईषत्) जीवको, दो जीवोंको, दो अजीवोंको, बहुत जीवोंको, बहुत नो जीवोंको इत्यादि विकल्प नहीं है और शेप विकल्प है । **साधन** (जिससे होता है) जैसे सम्यग्दर्शन किससे उत्पन्न होता है । निसर्ग तथा अधिगमसे होता है, यह प्रथम कहचुके है । उनमेंसे निसर्गतो कहचुके हैं । और अधिगमतो सम्यग् व्यायाम है, अर्थात् गुरुआदिके समीप रहनेवाले शिष्यकी जो सम्यग्दर्शनके उत्पन्न करनेवाली शुभ क्रिया है वही व्यायाम है । निसर्गज तथा अधिगमज दोनों प्रकारका सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शनावरणीय जो कर्म है उसके क्षयसे उपशमसे अथवा क्षयोपशम दोनोंसे होता है । **अधिकरण** तीन प्रकारका है, एक आत्माके सन्निधानसे, दूसरा पर अर्थात् अनात्माके सन्निधान (सामीप्य) से, और तीसरा आत्मा और अनात्मा एतदुभय सन्निधानसे ऐसा कहना चाहिये । आत्माका सन्निधान इसका यह तात्पर्य्य है कि आत्माके आभ्यन्तरीय सामीप्य वा सान्निध्यसे, । और पर सन्निधानका तात्पर्य्य आत्माके बाह्य सन्निधानसे है । और उभय सन्निधानका अर्थ बाह्य तथा आभ्यन्तर उभय सन्निधान है । आत्माके सन्निधानका उदाहरण जैसे जीवमें सम्यग्दर्शन है, जीवमें ज्ञान है, तथा जीवमें चारित्र है इत्यादि । और बाह्य सन्निधानका उदाहरण जैसे जीवमे सम्यग्दर्शन, नो (ईषत्) जीवमें सम्यग्दर्शन, इत्यादि पूर्वोक्त विकल्प हो सकते है । और उभयसन्निधानमे उभयसन्निधानसे अप्राप्य तथा सद्भूत पूर्वोक्त भङ्गविकल्प होते है । **स्थिति**; जीवमें सम्यग्दर्शन कितने कालतक स्थित रहता है । जीवकी सम्यग्दृष्टि दो प्रकारकी होती है, एक तो सादिसान्त अर्थात् आदिसहित और अन्तसहित, और दूसरी सादिअनन्त, अर्थात् उत्पन्न होकर जिस सम्यग्दृष्टिका पुनः अन्त वा नाश नहीं होता । और सम्यग्दर्शन सादि तथा अन्तसहितही होता है । वह सम्यग्दर्शन न्यूनसे न्यून अन्तर्मुहूर्त पर्य्यन्त होता है, अर्थात् कमसे कम अन्तर्मुहूर्त पर्य्यन्त सम्यग्दर्शनकी स्थिति रहती है । और अधिकसे अधिक अर्थात् उत्कृष्टतासे किंचित् अधिक षट्षष्टि छियासठ ६६ सागरोपम कालपर्य्यन्त रहता है । और सम्यग्दृष्टि सादि अनन्त है । जैसे सयोग अर्थात् त्रिविधयोगसहित, शैलेशी प्राप्त केवली और सिद्ध हैं ॥ **विधान** क्षय आदि हेतुओंके त्रिविध होनेसे तीन प्रकारका है । और यह सम्यग्दर्शनका तीन प्रकारका विधान (भेद) दर्शनावरणीय कर्मके तथा दर्शन मोहके क्षयादि तीनों हेतुओंसे है । जैसे क्षायिक सम्यग्दर्शन, औपशमिक सम्यग्दर्शन, तथा क्षायौपशमिक सम्यग्दर्शन, इन औपशमिक, क्षायौपशमिक. और क्षायिक, सम्यग्दर्शनोंमेंसे पर पर अर्थात् आगे आगेके में विशुद्धि और प्रकर्षता (अधिक उत्तमता) है ॥ ७ ॥

प्रथम कहे हुये इन प्रकारोंके अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसेभी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान होता है यह जनानेके लिये आगेका सूत्र कहते है ॥

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थः—सत्, (अस्तितानिर्देश) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, तथा अल्पवहुत्व इनसे जीवादि पदार्थ तथा सम्यग्दर्शनादिका अधिगम अर्थात् ज्ञान विस्तारसे होता है।

भाष्यम्—सत्, संख्या, क्षेत्रं, स्पर्शनं, कालः, अन्तरं, भावः, अल्पवहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति । कथमिति चेदुच्यते । सत् सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्तीति । अस्तीत्युच्यते । क्वास्तीति चेदुच्यते । अजीवेषु तावन्नास्ति । जीवेषु तु भाज्यम् । तद्यथा । गतीन्द्रियकाययोगकषायवेदलेश्यासम्यक्त्वज्ञानदर्शनचारित्राहारोपयोगेषु त्रयोदशस्वनुयोगद्वारेषु यथासम्भवं सद्भूतप्ररूपणा कर्तव्या ॥ संख्या । कियत्सम्यग्दर्शनं किं संख्येयमसंख्येयमनन्तमिति । उच्यते । असंख्येयानि सम्यग्दर्शनानि, सम्यग्दृष्टयस्त्वनन्ताः ॥ क्षेत्रम् । सम्यग्दर्शनं कियति क्षेत्रे । लोकस्यासंख्येयभागे ॥ स्पर्शनम् । सम्यग्दर्शनेन किं स्पृष्टम् । लोकस्यासंख्येयभागः । सम्यग्दृष्टिना तु सर्वलोक इति ॥ अत्राह सम्यग्दृष्टिसम्यग्दर्शनयोः कः प्रतिविशेष इति । उच्यते । अपायसद्द्रव्यतया सम्यग्दर्शनमपाय आभिनिबोधिकम् । तद्योगात्सम्यग्दर्शनम् । तत्केवलिनो नास्ति । तस्मान्न केवली सम्यग्दर्शनी, सम्यग्दृष्टिस्तु ॥ कालः । सम्यग्दर्शनं कियन्तं कालमित्यत्रोच्यते । तदेकजीवेन नानाजीवैश्च परीक्ष्यम् । तद्यथा । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तं उत्कृष्टेन षटषष्टिः सागरोपमानि साधिकानि । नानाजीवान् प्रति सर्वाद्धा ॥ अन्तरम् । सम्यग्दर्शनस्य को विरहकालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, उत्कृष्टेन उपार्धपुद्गलपरिवर्तः । नानाजीवान् प्रति नास्त्यन्तरम् ॥ भावः । सम्यग्दर्शनमौपशमिकादीनां भावानां कतमो भाव उच्यते । औदयिकपारिणामिकवर्जं त्रिषु भावेषु भवति ॥ अल्पवहुत्वम् । अत्राह सम्यग्दर्शनानां त्रिषु भावेषु वर्तमानानां किं तुल्यसंख्यत्वमाहोस्विदल्पवहुत्वमस्तीति । उच्यते । सर्वस्तोकमौपशमिकम् । ततः क्षायिकमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि क्षायौपशमिकमसंख्येयगुणम् । सम्यग्दृष्टयस्त्वनन्तगुणा इति ॥ एवं सर्वभावानां नामादिभिर्न्यासं कृत्वा प्रमाणादिभिरधिगमः कार्यः ॥

उक्तं सम्यग्दर्शनम् । ज्ञानं वक्ष्यामः ।

विशेष व्याख्या—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, तथा अल्पबहुत्व, ये सदादि पद, अर्थात् विद्यमान अर्थके प्ररूपणाकारक आठ अनुयोगद्वारोंसे सब भाव तथा तत्वोंका विकल्प तथा विस्तारपूर्वक ज्ञान होता है। कैसे होता है ऐसा कहो तो कहते है ॥ **सत्**—सम्यग्दर्शन है वा नही है? है ऐसा कहते है। यदि यह प्रश्न करो कि कहां है तो कहते है । अजीव पदार्थोंमें तो सम्यग्दर्शन नही है। और जीवोंमें विभाग करना चाहिये अर्थात् गति, इन्द्रिय, काय, योग, कषाय, वेद, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तथा आहार, योग, इन अनुयोगों (मार्गणा स्थानों) से यथासंभव सत् आदि प्ररूपणा करनी

चाहिये। जैसे मनुष्य आदि चारों गतियोंमें स्त्री पुरुष दोनोंमें शास्त्रोक्त रीतिसे यथा-संभव सम्यग्दर्शन होता है। ऐसेही इन्द्रिय, काय, योगादिसहित जीवोंमें भी आगमके अनुसार सत् आदि प्ररूपणा करनी चाहिये। **संख्या**—सम्यग्दर्शन कितना है? क्या संख्येय है, वा असंख्येय है अथवा अनन्त है? इसका उत्तर कहते हैं. कि सम्यग्दर्शन असंख्येय है। और सम्यग्दृष्टि अनन्त है। **क्षेत्र**—अर्थात् सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्रमें है? उ०—लोकके असंख्येयभागमें सम्यग्दर्शन है। **स्पर्शन**—सम्यग्दर्शनने क्या स्पर्श किया है? उत्तर—लोकका असंख्येयभाग सम्यग्दर्शनसे स्पृष्ट है; अर्थात् लोकके असंख्येय-भागको सम्यग्दर्शनने स्पर्श किया है; और सम्यग्दृष्टिने तो संपूर्ण लोकको स्पर्श किया है। यहां प्रश्न करते हैं कि सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्दर्शनमे क्या भेद है? उत्तर कहते हैं—अपाय और सद्द्रव्यरूपसे सम्यग्दर्शन अपाय वा आभिनिवोधिक है। अर्थात् सम्यग्दर्शनका कदाचित् अपाय (नाश) होता है और कदाचित् स्फुरण होता है, उस अपायके योगसे सम्यग्दर्शन है वह केवलीको नहीं होता, अतः केवली सम्यग्दर्शनी नहीं है. और सम्यग्दृष्टि तो है। **काले निरूपणा**—सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है? इसका उत्तर कहते हैं। वह कालकी स्थिति एक जीव तथा नाना जीवोंसे परीक्षा करने योग्य है। जैसे जघन्यतासे अर्थात् न्यूनसे भी न्यून एक जीवके प्रति अन्त-र्मुहूर्त्त पर्य्यन्त सम्यग्दर्शनकी स्थिति है। और उत्कृष्टतासे अर्थात् अधिकसे अधिक कुछ अधिक छियासठि (६६) सागरोपम इसकी स्थिति है। और नाना जीवोंके प्रति सं-पूर्ण कालमें सम्यग्दर्शनकी स्थिति है, अर्थात् नाना जीवोंमेंसे किसीनकिसी जीवमें सदाकालमें सम्यग्दर्शन बना ही रहता है। **अन्तरकी प्ररूपणा**—सम्यग्दर्शनका अन्तर अर्थात् विरहकाल क्या है? उत्तर—एक जीवके प्रति जघन्यतासे तो अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्टतासे उपार्द्धपरिवर्तन काल तक है। और नाना जीवोंके प्रति अन्तर अर्थात् विरह काल है ही नहीं; क्योंकि नाना जीवोंमेंसे किसीनकिसी जीवमें सदा सम्यग्दर्शन वना रहैगा। **भाव प्ररूपणा**—औपशमिक आदि भावोंमेंसे सम्यग्दर्शन कौनसा भाव है? उत्तर— औदयिक तथा पारिणामिक भावोंको छोड शेष तीन भावोंमें अर्थात् औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिकभावमें सम्यग्दर्शन होता है। **अल्प बहुत्व प्ररूपणा**—औपश-मिक आदि तीन भावोंमें वर्तमान सम्यग्दर्शनोंकी तुल्य संख्या है अथवा अल्पबहुत्व अर्थात् न्यूनाधिक है? उत्तर कहते है। सबसे न्यून औपशमिकभाव है। और उससे असंख्येयगुण क्षायिकभाव है। और उससे भी क्षायौपशमिक भाव असंख्येयगुण है। और सम्यग्दृष्टि तो अनन्तगुण है। इसप्रकार सव भावोंका नाम स्थापना आदिसे न्यास करके प्रमाण आदि द्वारा उनका बोध सम्पादन करना चाहिये॥

सम्यग्दर्शनका लक्षण आदि कहचुके। अब आगे ज्ञानके विषयमे कहैंगे॥

मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थः—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्य्यय, केवल ये पांच ज्ञानके भेद हैं ।

भाष्यम्—मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानं, केवलज्ञानमित्येतन्मूलविधानतः पञ्चविधं ज्ञानम् । प्रभेदास्त्वस्य पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते ॥

विशेष व्याख्या—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान, मूलभेदसे यह पांच प्रकारका ज्ञान है । इनके भेद प्रभेद आगे वर्णन करैगे ॥ ९ ॥

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

सूत्रार्थः—पूर्वोक्त पंचविधज्ञान दो प्रमाणोंमें विभक्त है ।

भाष्यम्—तदेतत्पञ्चविधमपि ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः परोक्षं प्रत्यक्षं च ॥

विशेष व्याख्या—यह अनन्तर कथित मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्य्यय, तथा केवलज्ञान, दो प्रमाण होते है, अर्थात् पूर्वोक्त पंचविधज्ञान ही प्रमाण है, और यह प्रमाण परोक्ष, तथा प्रत्यक्ष भेदसे दो प्रकारका है ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थः—प्रथमके दो ज्ञान परोक्षप्रमाण है ।

भाष्यम्—आदौ भवमाद्यम् । आद्ये सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति । तदेवमाद्ये मतिज्ञानश्रुतज्ञाने परोक्षं प्रमाणं भवतः । कुतः । निमित्तापेक्षत्वात् । अपायसद्द्रव्यतया मतिज्ञानम् । तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति वक्ष्यते ॥ तत्पूर्वकत्वात्परोपदेशजत्वाच्च श्रुतज्ञानम् ॥

विशेष व्याख्या—आदि आरंभमे जो हो उसको आद्य कहते हैं । "आद्ये" यह द्विवचन है. इसलिये 'मति श्रुतावधि' इत्यादि सूत्रक्रमके प्रमाणसे सूत्रकार ही प्रथम तथा द्वितीयज्ञानको परोक्ष रूपसे आज्ञा देते है । इस हेतुसे पूर्वोक्त रीतिसे आदिके दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, और श्रुतज्ञान ये दोनों परोक्षप्रमाण होते हैं । क्योंकि–निमित्तकी अपेक्षा रखनेसे मति, श्रुतज्ञान, परोक्षप्रमाण ही है । अपाय तथा सद्द्रव्यरूपतासे मतिज्ञान संज्ञा है । वह मतिज्ञान इन्द्रिय, तथा अनिन्द्रियमन निमित्तक है अर्थात् नेत्रआदि इन्द्रिय और अनिन्द्रिय मन इनसे उत्पन्न होता है । वह आत्मासे भिन्न निमित्तकी अपेक्षा रखता है इसलिये परोक्ष है । और मतिपूर्वक होनेसे तथा परोपदेशजन्य होनेसे श्रुतज्ञान भी परोक्ष ही है ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थः—मति और श्रुतसे अन्य तीनों ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण होते है ।

भाष्यम्—मतिश्रुताभ्यां यदन्यत् त्रिविधं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति । कुतः । अतीन्द्रियत्वात् । प्रमीयन्तेऽर्थास्तैरिति प्रमाणानि ॥ अत्राह । इह अवधारितं द्वे एव प्रमाणे

---

१ कहीं. २. "मन.पर्यय" ऐसे प्रथम यकार ह्रस्व है, और इस ग्रन्थमें 'पर्याय' दीर्घही लिखा है ।

प्रत्यक्षपरोक्षे इति। अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते। तत्कथमेतदिति। अत्रोच्यते। सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। किं चान्यत्। अप्रमाणान्येव वा। कुतः। मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति वक्ष्यते। नयवादान्तरेण तु यथा मतिश्रुतविकल्पजानि भवन्ति तथा परस्ताद्वक्ष्यामः॥

विशेष व्याख्या—मति और श्रुत इन दोनोंसे अन्य अर्थात् भिन्न त्रिविध ज्ञान अर्थात् अवधि, मनःपर्य्यय, तथा केवल ये तीनों प्रत्यक्षप्रमाण हैं। क्योंकि ये तीनों अतीन्द्रिय ज्ञान है। जिनके द्वारा संपूर्ण पदार्थ प्रमाविषयीभूत किये जांय, अर्थात् साक्षात् अनुभवगोचर किये जाँय उनको प्रमाण कहते है। अब यहांपर कहते हैं कि इस शास्त्रमे अर्थात् जैनशास्त्रमे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो ही प्रमाण निश्चित किये है। और अनुमान, उपमान, आगम, (शब्द) अर्थापत्ति, संभव, तथा अभाव, इनको भी कोई २ अन्यमतवाले प्रमाणरूपसे मानते है, सो यह दोही प्रमाण आपने कैसे माने? अर्थात् दो प्रमाणोंकी व्यवस्था असंगत प्रतीत होती है। अब यहांपर समाधान कहते है। इन्द्रियां तथा पदार्थोंके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेके कारण अनुमान उपमान आदि ये सब प्रमाण मति तथा श्रुत ज्ञान जो कि परोक्ष प्रमाणरूपसे कहे गये हैं उन्हीमें गतार्थ अर्थात् अन्तर्भूत हैं। अथवा अनुमान आदि सब अप्रमाण ही हैं। क्योंकि—इनमें मिथ्यादर्शनका परिग्रह है, और विपरीत उपदेश जन्य है। कारण यह कि मिथ्यादृष्टिके मति, श्रुत, और अवधिज्ञान, ये तीनों नियमसे अप्रमाण ही है ऐसा आगे कहैगे। और यद्यपि अप्रमाण होनेमे मतिश्रुतमे अन्तर्भूत हैं यह कहनाभी अयोग्य है तथापि नयोंके वादमे, अर्थात् स्वरचितार्थप्रकाशनरूप जो नयवाद है उसके भेदसे मतिश्रुतके विकल्प-(भेद) जन्य जिसप्रकार प्रमाण होते है उसप्रकार आगे निरूपण करैगे॥ ११॥

अत्राह। उक्तं भवता मत्यादीनि ज्ञानानि उद्दिश्य तानि विधानतो लक्षणतश्च परस्ताद्विस्तरेण वक्ष्याम इति। तदुच्यतामिति। अत्रोच्यते।

अब यहांपर कहते हैं कि—प्रथम आप (ग्रन्थकार) ने मतिश्रुतादि पांचो ज्ञानोंको कहा और इनको लक्ष्य करके यह भी कहा कि इन (मतिआदि) को भेद तथा लक्षणपूर्वक आगे कहैंगे सो अब वही कहना चाहिये। इसलिये आगेका सूत्र कहते है—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥ १३॥

सूत्रार्थः—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध यह पर्य्यायवाचक शब्द माने गये है।

भाष्यम्—मतिज्ञानं, स्मृतिज्ञानं, संज्ञाज्ञानं, चिन्ताज्ञानं, आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम्॥

विशेष व्याख्या—मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, संज्ञाज्ञान, चिन्ताज्ञान, तथा आभिनिबो-[illegible] पर्य्यायवाचक हैं॥ १३॥

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थः—यह पूर्वोक्त मति तथा स्मृति आदि शब्द वाच्य मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियनिमित्तक है।

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानं द्विविधं भवति । इन्द्रियनिमित्तमनिन्द्रियनिमित्तं च । तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्वेव स्वविषयेषु । अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोघज्ञानं च ॥

विशेषव्याख्या—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, और अभिनिबोध इन पांचो पर्य्यायोंसे वाच्य मतिज्ञान दो प्रकार होता है। इन्द्रियनिमित्तक अर्थात् इन्द्रियजन्य, और अनिन्द्रिय निमित्तक अर्थात् मनःकारणक । उनमेसे इन्द्रियनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्पर्शन आदि पांचो इन्द्रियोंके स्पर्श आदि पांचो निजविषयोंमे ही होता है। और अनिन्द्रियनिमित्त अर्थात् मनोजन्य ज्ञान मनकी सब वृत्तियां तथा ओघ अर्थात् अविभक्त सर्वेन्द्रियविषयक ज्ञान है ॥ १४ ॥

अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—यह मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अपा (वा) य, तथा धारणा, इन चार भागोंमे विभक्त है।

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानमुभयनिमित्तमप्येकशश्चतुर्विधं भवति । तद्यथा । अवग्रह ईहापायो धारणा चेति । तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः । अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम् ॥ अवगृहीते विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा । ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम् ॥ अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपायः । अपायोऽपगम अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम् ॥ धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च । धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥

विशेषव्याख्या—यह पूर्वोक्त इन्द्रिय और अनिन्द्रिय उभयनिमित्तक मतिज्ञान एक होनेपर भी चार प्रकारका है। अर्थात् अवग्रह, ईहा, अपाय तथा धारणा ये चार, भेद मतिज्ञानके है। वहांपर ऐसा कहा है कि निज २ विषयोंके अनुसार इन्द्रियोंकेद्वारा पदार्थोंका आलोचन, वा अवधारण, जो है उसको अवग्रह कहते है। अवग्रह, ग्रहण, आलोचन, तथा अवधारण, ये सब शब्द अनर्थान्तर अर्थात् एकार्थवाचक है ॥ अवग्रह रूपज्ञानसे गृहीत जो विषय एकदेश है उस पदार्थके एकदेशसे शेषपदार्थके जाननेकेलिये जो अनुगमन है, अर्थात् विशेष निश्चय करनेकी चेष्टाविशेष वा जिज्ञासा है वही ईहा है। ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, और जिज्ञासा, ये समानार्थक शब्द है। और अवग्रह तथा ईहासे गृहीत विषयमे यह सम्यक् है वा असम्यक्

अर्थात् योग्य है वा अयोग्य इसप्रकार गुणदोषके विचारका जो उद्योग वा अपनोद है उसको अपा (वा) य कहते है । अपाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध, और अपनुत्त, ये एकार्थवाचक है। पदार्थके स्वरूपके अनुसार जो उसकी प्रतिपत्ति, अर्थात् यथार्थबोध, वा बुद्धिकी पदार्थमें युक्त चिरकालार्थ स्थिति, अथवा अवधारणा है उसको धारणा कहते है । धारणा, प्रतिपत्ति, अवधारण, अवस्थान, निश्चय, अवगम, और अवबोध, ये शब्द एकार्थवाचक हैं ॥ १५ ॥

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनसे इतर अर्थात् अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव ये १२ भेद अवग्रहादिमें होते है ।

भाष्यम्—अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा एषां बह्वादीनामर्थानां सेतराणां भवन्त्येकशः। सेतराणामिति सप्रतिपक्षाणामित्यर्थः। बह्ववगृह्णाति अल्पमवगृह्णाति बहुविधमवगृह्णाति एकविधमवगृह्णाति । क्षिप्रमवगृह्णाति चिरेणावगृह्णाति । अनिश्रितमवगृह्णाति निश्रितमवगृह्णाति । अनुक्तमवगृह्णाति उक्तमवगृह्णाति । ध्रुवमवगृह्णाति अध्रुवमवगृह्णाति । इत्येवमीहादीनामपि विद्यात् ॥

विशेषव्याख्या—मतिज्ञानके जो अवग्रह, ईहा, आदि चार विभाग है उन प्रत्येकमें बहु, बहुविध, तथा इनके विरुद्ध अल्प एकविध आदि १२ भेद होते हैं । यहां "सेतराणाम्" इससे बहुआदिके प्रतिपक्ष (विरुद्ध) अल्प, तथा एकविध, इत्यादिसे तात्पर्य्य है। जैसे बहुत ग्रहण करता है, अल्पग्रहण करता है । बहुविध (बहुप्रकार) से ग्रहण करता है, एकविध ग्रहण करता है । क्षिप्र अर्थात् शीघ्र ग्रहण करता है, चिरकालसे ग्रहण करता है । अनिश्रित (चिन्हादिसे अज्ञात) ही ग्रहण करता (जानता) है. निश्रित (लिङ्ग वा चिन्हसे ज्ञात) को ग्रहण करता है । अनुक्त विना कहा हुआ ही ग्रहण करता है, उक्त कहा-हुआ ग्रहण करता है । ध्रुव ग्रहण करता है, तथा अध्रुव ग्रहण करता है । इसीप्रकार ईहादिके विषयमें भी बहु, बहुविध, तथा इनके विरुद्ध अल्प, एकविध आदिकी योजना करनी चाहिये । अर्थात् बहुईहा अल्पईहा इत्यादि जानना चाहिये ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयो मतिज्ञानविकल्पा अर्थस्य भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—अवग्रह आदि जो मतिज्ञानके विकल्प (भेद) है, सो अर्थके ही होते है ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थः—व्यञ्जनका तो अवग्रह ही होता है ।

भाष्यम्—व्यञ्जनस्यावग्रह एव भवति नेहादयः । एवं द्विविधोऽवग्रहो व्यञ्जनस्यार्थस्य च । ईहाद्यस्त्वर्थस्यैव ॥

विशेषव्याख्या—व्यञ्जन (अव्यक्तशब्द आदि) का अवग्रह ही होता है न कि ईहा आदि । इसप्रकार अवग्रह दो प्रकारका होता है. एक अर्थाऽवग्रह और दूसरा व्यञ्जनाऽवग्रह और ईहा आदि तो अर्थके ही होते है ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थः—नेत्रइन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय (मन) से व्यञ्जनका अवग्रह नही होता ।

भाष्यम्—चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । चतुर्भिरिन्द्रियैः शेषैर्भवतीत्यर्थः । एवमेतन्मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधं अष्टाविंशतिविधं अष्टषष्ट्युत्तरशतविधं षट्त्रिंशत्रिशतविधं च भवति ॥

विशेषव्याख्या—चक्षुष नेत्रइन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थात् ईषत् इन्द्रिय मन, इन दोनोंसे व्यञ्जनका अवग्रहरूप ज्ञान नहीं होता है किन्तु शेष स्पर्शन आदि चार इन्द्रियोंसे होता है । इस रीतिसे इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तसे मतिज्ञान दो प्रकारका होता है, अवग्रह तथा ईहा अपाय और धारणा इन भेदोंसे चार प्रकारका होता है । तथा स्पर्शन (त्वक्) आदि पांचइन्द्रियां और मन इन छहोंके प्रत्येकके अवग्रह आदि चार २ भेद मिलके २४ और नेत्र तथा मनको छोडके शेष स्पर्शन आदि चार इन्द्रियोंका चार प्रकारका व्यञ्जनाऽवग्रह सब मिलकर २८ प्रकारका भी मतिज्ञान होता है । और इन्हीं अट्ठावीस २८ भेदोंको बहु, बहुविध आदि छह २ भेदोंसे एकसोअड़सठ १६८ भेद मतिज्ञानके होते हैं । तथा इन्हीं पूर्वोक्त अट्ठावीस २८ भेदोंमेंसे प्रत्येकको बहु, वहुविध, तथा इनके इतर अल्प, एकविध आदिसे बारह भेद करनेसें तीनसोछत्तीस ३३६ भेद मतिज्ञानके होते है ॥ १९ ॥

अत्राह । गृह्णीमस्तावन्मतिज्ञानम् । अथ श्रुतज्ञानं किमिति । अत्रोच्यते ॥

अब कहते है कि मतिज्ञानको पूर्वोक्त भेदोंसहित ग्रहण करते है, अब क्रमप्राप्त श्रुतज्ञान क्या है, सो कहिये ? इसलिये श्रुतज्ञानके भेद प्रदर्शन करनेकेलिये अग्रिम सूत्र कहते है ।

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, और उसके दो अनेक तथा द्वादश भेद हैं ।

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति । श्रुतमाप्तवचनमागम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम् । तद्द्विविधमङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च । तत्पुनरनेकविधं द्वादशविधं च यथासङ्ख्यम् । अङ्गबाह्यमनेकविधम् । तद्यथा । सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि ॥ अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम् । तद्यथा । आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातधर्मकथा उपासकाध्ययनदशाः अन्तकृद्दशाः अनुत्तरौपपातिक-

दशाः प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिपात इति ॥ अत्राह । मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते । उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानम् । श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयं उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् ॥ अत्राह । गृह्णीमो मतिश्रुतयोर्नानात्वम् । अथ श्रुतज्ञानस्य द्विविधमनेकद्वादशविधमिति किं कृतः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते । वक्तृविशेषाद्वैविध्यम् । यद्भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात्परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसंपन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम् । गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति ॥ सर्वज्ञप्रणीतत्वादानन्त्याच्च ज्ञेयस्य श्रुतज्ञानं मतिज्ञानान्महाविषयम् । तस्य च महाविषयत्वात्तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम् । किं चान्यत् । सुखग्रहणधारणविज्ञानापोहप्रयोगार्थं च । अन्यथा ह्यनिबद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद्दुरध्यवसेयं स्यात् । एतेन पूर्वाणि वस्तूनि प्राभृतानि प्राभृतप्राभृतानि अध्ययनान्युद्देशाश्च व्याख्याताः ॥ अत्राह । मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति । द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्विति । तस्मादेकत्वमेवास्त्विति । अत्रोच्यते । उक्तमेतत् साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयं विशुद्धतरं चेति । किं चान्यत् । मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्पारिणामिकम् । श्रुतज्ञानं तु तत्पूर्वकमाप्तोपदेशाद्भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है । श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन, तथा जिनवचन ये सब अनर्थान्तर अर्थात् समानार्थवाचक शब्द हैं । पुनः वह श्रुत दो प्रकारका है । एक अङ्गबाह्य, और दूसरा अङ्गप्रविष्ट और दोनो यथा संख्यासे अर्थात् अङ्गबाह्य अनेक प्रकारका है और अङ्गप्रविष्ट द्वादश १२ प्रकारका है । इनमें अनेकभेदसहित अङ्गबाह्यके कुछ उदाहरण, जैसे:—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, २४ स्तोत्र वन्दन, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग, अर्थात् किये हुए पापकी शुद्धता जहां शरीरके त्यागसे वर्णन की गई है, प्रत्याख्यान दशवैकालिक, उत्तरअध्याय, दशा, कल्प तथा व्यवहार, और निशीथ, इत्यादि ऋषियोंसे भाषित अनेक प्रकारका अङ्गविध है । अङ्गप्रविष्ट बारह प्रकारका है जैसेः—आचार १ सूत्रकृत २ स्थान ३ समवाय ४ व्याख्याप्रज्ञप्ति ५ ज्ञातृधर्मकथा ६ उपासकाध्ययनदशा, ७ अन्तकृद्दशा ८ अनुत्तर औपपातिक (उपपात सम्बन्धिनी) दशा ९ प्रश्नव्याकरण १० विपाकसूत्र ११ तथा दृष्टिपात १२ । यहांपर प्रश्न करते हैं कि मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान क्या भेद है? उत्तर देते हैं कि उत्पन्न होकर जो नष्ट नहीं हुआ है ऐसे पदार्थका वर्तमानकालमें ग्राहक तो मतिज्ञान है । और श्रुतज्ञान तो त्रिकालविषयक है, जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गया है, वा उत्पन्न ही नहीं हुआ, किन्तु भविष्यमें उत्पन्न होनेवाला है वा नित्य है उन सबका ग्राहक श्रुतज्ञान है । यह भेद इन दोनोंमें है । अब पुनः यहांपर कहते हैं कि

मति तथा श्रुतज्ञानका नानात्व (भेद) तो अङ्गीकार करते है, किन्तु श्रुतज्ञान द्विविध (दो भेद) अनेकविध, तथा द्वादशविध अर्थात् १२ भेद सहित है, इस विशेषता क्या कारण है, यह परस्पर भेद किसका किया है? अब इसका उत्तर देते है कि वक्ताके भेदसे प्रथम दो भेद माने गये है, अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट ये भेद वक्ताओंके भिन्न २ होनेसे माने गये है। जो कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा परमऋषि स्वरूप भगवान् अर्हतोंने परमशुभ, तथा प्रवचन प्रतिष्ठापन फलदायक तीर्थंकर नाम कर्म्मके प्रभावसे तादृश स्वभाव होनेके कारणसे कहा है; उसीको अतिशय अर्थात् साधारण जनोंसे विशेषता युक्त, और उत्तम तथा विशेषवाणी तथा बुद्धि ज्ञान आदि संपन्न भगवान् शिष्य गणधरोंने जो कुछ कहा है वह अङ्ग प्रविष्ट है । और गणधरोंके अनन्तर होनेवाले अत्यन्त विशुद्ध आगमोंके ज्ञाता तथा परमोत्तम वाक् बुद्धिआदिकी शक्तिसम्पन्न आचार्योंने कालसंहनन तथा अल्पायु आदिके दोषोंसे अल्पशक्तिवाले शिष्योंके ऊपर अनुग्रहार्थ जो ग्रन्थ निर्म्माण किये है वे सब अङ्गबाह्य है । सर्वज्ञसे रचित होनेके कारण तथा ज्ञेयवस्तुके अनन्त होनेसे मतिज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान् महान् विषयोंसे संयुक्त है। अतएव श्रुतज्ञानके महाविषय होनेके कारण उन २ जीवादि पदार्थोंका अधिकारकरके प्रकरणोंकी समाप्तिकी अपेक्षा संयुक्त अङ्ग तथा उपाङ्गोंका नानात्व अर्थात् अनेक भेदत्व है । और भी, सुखपूर्वक ग्रहण, धारण, तथा विज्ञानके निश्चय प्रयोगार्थ भी श्रुतज्ञानका नानात्व (अनेक भेदत्व) है और यदि ऐसा न हो अर्थात् प्रत्येक विषय निज २ प्रकरणमें निबद्ध न हो तो समुद्रके तरनेके सदृश उन २ पदार्थोंका ज्ञान दुःसाध्य हो जाय । और इस सुखपूर्वकग्रहणआदि रूप अङ्ग तथा उपाङ्गोंके तद्स्वरूप प्रयोजनसे पूर्वकालिकवस्तु, प्राप्तव्य जीवादि द्रव्य, तथा जीवादि द्वारा ज्ञेय विद्या आदि अध्ययन और उनके उद्देशोंका भी निरूपण हो गया, अर्थात् ज्ञेयकी सुगमताकेलिये ही जीवसे ज्ञेय जीवसम्बन्धी ज्ञान, तथा जीवसे बोध्य अचेतन पदार्थोंका ज्ञान, यह सब नाना भेद सहित श्रुतज्ञान द्वारा वर्णन किया गया है। अब यहांपर कहते है कि मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानकी तुल्यता "द्रव्येष्वसर्वपर्य्यायेषु" (तत्वार्थसूत्र, अध्याय १ सूत्र २७) में कहेंगे अर्थात् असर्वपर्य्यायों (कतिपय पर्य्यायों) मे संपूर्ण द्रव्योंमे मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका विषय निबन्ध है, तात्पर्य्य यह कि इस सूत्रद्वारा यह कहा गया है कि संपूर्ण द्रव्योंके कुछ पर्य्याय मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके विषय हैं, इससे दोनोंकी एकता हो गई । अब उत्तर कहते है कि यह विषय प्रथम ही कह चुके है कि मतिज्ञान तो वर्तमानकालविषयक है, और श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है, तथा मतिज्ञानसे अधिक विशुद्ध और महाविषययुक्त है अर्थात् मतिज्ञानसे तो केवल वर्तमानकालके ही पदार्थ जाने जाते और श्रुतज्ञानसे तीनों कालके पदार्थ जाने जाते है । और दूसरी बात यह भी है कि

मतिज्ञान तो इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय (मन) को निमित्त मानकर आत्माके ज्ञस्वभाव (जाननेके स्वभाव) से उत्पन्न होता है अतएव पारिणामिक है; और श्रुतज्ञान तो मतिपूर्वक है और आप्तके उपदेशसे उत्पन्न होता है; इस हेतुसे भी दोनोंका भेद है ॥ २० ॥

अत्राह । उक्तं श्रुतज्ञानम् । अथावधिज्ञानं किमिति । अत्रोच्यते ॥

अवकहते है श्रुतज्ञान तो कह चुके उसके अनन्तर जो अवधिज्ञानका उद्देश (नाम संकीर्तन) किया है उसका क्या स्वरूप है ? इसलिये अग्रिम सूत्र कहते हैं ।

द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थः—अवधिज्ञान दो प्रकारका है ।

भाष्यम्—भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च ॥

विशेषव्याख्या—भवप्रत्यय अर्थात् केवल जन्ममात्रके कारणसे उत्पन्न होनेवाला तथा क्षयोपशमनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाला, इस रीतिसे क्षयोपशमनिमित्तक तथा भवप्रत्यय भेदसे अवधिज्ञान दो प्रकारका है ॥ २१ ॥

तत्र—

उनमे—

भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

सूत्रार्थः—नारकी जीव तथा देवोंको अवधिज्ञान केवल जन्म निमित्तसे होता है ।

भाष्यम्—नारकाणां देवानां च यथास्वं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति । भवप्रत्ययं भवहेतुकं भवनिमित्तमित्यर्थः । तेषां हि भवोत्पत्तिरेव तस्य हेतुर्भवति पक्षिणामाकाशगमनवत् न शिक्षा न तप इति ॥

विशेष व्याख्या—नरकमे उत्पन्न होनेवाले जीव तथा देव इनको अवधिज्ञान भवप्रत्यय होता है । अर्थात् इनके अवधिज्ञान होनेमे नरकयोनि तथा देवयोनिमें उत्पत्ति होना ही एक हेतु है; जैसे पक्षियोंमें जन्म होना आकाशगमनमे हेतु है । अर्थात् जैसे पक्षियोंका जन्म ही आकाशमे गतिका कारण है न कि शिक्षा वा तप आदि, ऐसे ही नारकी तथा देवोंमे उत्पत्तिमात्रसे अवधिज्ञान प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थः—क्षयोपशमनिमित्तक तथा षट्भेद सहित अवधिज्ञानशेष अर्थात् तिर्य्यग् योनि और मनुष्य योनियोंमें होता है ।

भाष्यम्—यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः । तदेतदवधिज्ञानं क्षयोपशमनिमित्तं षड्विधं भवति शेषाणाम् । शेषाणामिति नारकदेवेभ्यः शेषाणाम् तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां

च। अवधिज्ञानावरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमाभ्यां भवति षड्विधम् । तद्यथा अनानुगामिकं आनुगामिकं हीयमानकं वर्धमानकं अनवस्थितं अवस्थितमिति । तत्रानानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत् ॥ आनुगामिकं यत्र क्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करप्रकाशवत् घटरक्तभाववच्च ॥ हीयमानकं असंख्येयेषु द्वीपेषु समुद्रेषु पृथिवीषु विमानेषु तिर्यगूर्ध्वमधो यदुत्पन्नं क्रमशः संक्षिप्यमाणं प्रतिपतति आ अङ्गुलासंख्येयभागात् प्रतिपतत्येव वा परिच्छिन्नेन्धनोपादानसंतत्यग्निशिखावत् ॥ वर्धमानकं यदङ्गुलस्यासंख्येयभागादिषूत्पन्नं वर्धते आ सर्वलोकात् अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमानाधीयमानेन्धनराश्यग्निवत् ॥ अनवस्थितं हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति पुनः पुनरूर्मिवत् ॥ अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्या केवलप्राप्तेः आ भवक्षयाद्वा जात्यन्तरस्थायि वा भवति लिङ्गवत् ॥

विशेष व्याख्या—पूर्व प्रसंगमे जो क्षयोपशमनिमित्त कहा है उस यथोक्त निमित्तसे उत्पन्न तथा आनुगामिक आदि भेद सहित अवधिज्ञान देव तथा नारकियोंसे शेष जो तिर्यग्योनिज और मनुष्य हैं, उनको होता है। अवधिज्ञानावरणीयकर्मके क्षय तथा उपशमसे जो अवधिज्ञान होता है, वह षड्विकल्प है, अर्थात् उसके छह भेद हैं। जैसे **१ अनानुगामिक, २ आनुगामिक, ३ हीयमान, ४ वर्द्धमानक, ५ अनवस्थित और अवस्थित**। इनमेंसे **अनानुगामिक** अवधिज्ञान वह है, कि जो जिसक्षेत्रमें स्थित पुरुषको उत्पन्न होता है, उस क्षेत्रसे जब वह पुरुष च्युत होता है अर्थात् गिरता है, तब उसका वह अवधिज्ञान भी गिर जाता है, उसके साथ ऐसा नही जाता जैसे प्रधान पुरुषनिष्ठज्ञान. अर्थात् जैसे निमित्तज्ञानी किसी स्थानविशेषमे ही किसी पुरुषमे ज्ञान प्राप्त कर सक्ता है न कि सर्वत्र और सो भी पृष्ट अर्थको ही कह सक्ता है। और **आनुगामिक** व अनुगामी अवधिज्ञान वह है, कि जो किसी क्षेत्रमें किसी पुरुषको उत्पन्न हुआ उससे अन्यक्षेत्रमें जानेपर भी उस पुरुषसे ऐसे पतित नही होता जैसे सूर्यका प्रकाश घटादिका रक्तभाव। **हीयमान** अवधिज्ञान वह है, जो कि असंख्यातद्वीप समुद्रोंमे, पृथ्वीके प्रदेशोंमे, विमानोंमे तथा तिर्यक् (तिरछे) ऊर्द्ध व अधोभागमें उत्पन्न हुआ है, वह क्रमसे संक्षिप्त होता हुआ यहां तक गिर जाता है वा न्यून हो जाता है, जबतक अंगुलके असंखेय भागको नहीं प्राप्त होता अथवा सर्वथा गिर ही जाता है, जैसे परमित उपादान कारण (ईंधन) वाले अग्निकी शिखा। **वर्द्धमानक** अवधिज्ञान वह है, जो कि अंगुलके असंखेय भाग आदिमें उत्पन्न होकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्त ऐसे बढता है, जैसे ऊपर नीचेके अरणिके[1] मंथनसे उत्पन्न तथा शुष्क ईंधनकी राशिपर फैकाहुआ वर्द्धमान अग्नि । अनवस्थित अवधिज्ञान वह है, जो कि तरंगके समान जहांतक उसको बढना चाहिये वहां तक पुनः २ बढता है और छोटा भी यहांतक होता है कि जहांतक उसको छोटा होना चाहिये. इसी

१ काष्ठरचित यन्त्रविशेष.

रीतिसे वह बार २ बढता तथा न्यून होता और गिरता तथा उत्पन्न होता रहता है, एकरूपमें अवस्थित नहीं रहता किन्तु न्यूनाधिकभावमें सदा अनवस्थितरूप रहता है। और अवस्थित अवधिज्ञान वह है, कि जो जिस क्षेत्रमें जितने आकारमें उत्पन्न हुआ है, उस क्षेत्रसे केवलज्ञानकी प्राप्तिपर्यन्त नहीं गिरता अथवा भवके नाश तक नहीं गिरता, व लिङ्गके समान वह अन्यजातिमेंभी स्थिर रहता है ॥ २३ ॥

उक्तमवधिज्ञानम् । मनःपर्यायज्ञानं वक्ष्यामः ।

अवधिज्ञान कह चुके अब मनःपर्यायज्ञानका निरूपण करेंगे ।

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थः—मनःपर्यायज्ञानके ऋजुमति तथा विपुलमति ये दो भेद हैं ।

भाष्यम्—मनःपर्यायज्ञानं द्विविधम् । ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानं विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं च ॥

विशेष व्याख्या—ऋजुमतिमनःपर्याय तथा विपुलमतिमनःपर्याय इन दो भेदोंमें मनःपर्यायज्ञानके दो भेद हैं । ऋजु अर्थात् मनवचनकायकी सरलतासे मनमें स्थित रूपी पदार्थ तथा परके मनमें स्थित पदार्थ जिससे जाने जाते हैं वह ऋजुमतिमनःपर्याय है, और सरल तथा वक्ररूप दूसरेके मनमें स्थित रूपीपदार्थ जिससे जाने जाते हैं, वह विपुलमतिमनःपर्याय है ॥ २४ ॥

अत्राह । कोऽनयोः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते ।

अब यहांपर कहते हैं कि ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान तथा विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानमें क्या भेद है? यहां कहते हैं ।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थः—विशुद्धि तथा अप्रतिपात इन दोनों हेतुओंसे ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्यायज्ञानमें विशेष (भेद) है ।

भाष्यम्—विशुद्धिकृतश्चाप्रतिपातकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । तद्यथा । ऋजुमतिमनःपर्यायाद्विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम् । किं चान्यत् । ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानं प्रतिपतत्यपि भूयो विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं तु न प्रतिपततीति ॥

विशेष व्याख्या—विशुद्धिकृत तथा अप्रतिपातकृत इन दोनोंमें विशेषता है । जैसे ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानकी अपेक्षासे विपुलमतिमनःपर्याय विशुद्धतर है; अर्थात् अधिक विशुद्ध है । और भी ऋजुमतिमनःपर्यायवाला गिर जाता है और विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानवाला कभी नहीं गिरता ॥ २५ ॥

अत्राह । अथावधिमनःपर्यायज्ञानयोः कः प्रतिविशेष इति ।

अब कहते हैं कि अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञानमें क्या भेद है?

अत्रोच्यते।

यहां सूत्र कहते हैं।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थः—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी तथा विषयकृत अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें विशेषता है।

भाष्यम्—विशुद्धिकृतः क्षेत्रकृतः स्वामिकृतो विषयकृतश्चानयोर्विशेषो भवत्यवधिमनःपर्यायज्ञानयोः। तद्यथा। अवधिज्ञानान्मनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम्। यावन्ति हि रूपाणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि मनोगतानि जानीते। किं चान्यत्। क्षेत्रकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। अवधिज्ञानमङ्गुलस्यासंख्येयभागादिषूत्पन्नं भवत्यासर्वलोकात्। मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति नान्यक्षेत्र इति ॥ किं चान्यत्। स्वामिकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। अवधिज्ञानं संयतस्य असंयतस्य वा सर्वगतिषु भवति। मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्यैव भवति नान्यस्य ॥ किं चान्यत् विषयकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः। रूपिद्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवति। तदनन्तभागे मनःपर्यायस्येति ॥

विशेषव्याख्या—विशुद्धिकृत अर्थात् अधिक शुद्धिद्वारा क्षेत्रकृत अर्थात् उत्पत्तिस्थानद्वारा स्वामिद्वारा और विषयद्वारा अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञानमे भेद है। जैसे अवधिज्ञानकी अपेक्षासे मनःपर्यायज्ञान अधिकतर विशुद्ध है, जितने रूप वा रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञानवाला जानता है, उनको मनःपर्यायज्ञानी अधिकतर शुद्धतासे मनोगत होनेपर भी अधिकतर शुद्धतासे जान लेता है। और क्षेत्रकृति भी इन दोनों अर्थात् अवधि तथा मनःपर्यायज्ञानमे विशेषता है। जैसे अवधिज्ञान तो अंगुलके असंख्येय भागादि क्षेत्रोंमें उत्पन्न होकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्तमें हो सक्ता है और मनःपर्यायज्ञान मनुष्य क्षेत्रमे ही उत्पन्न होता है न कि अन्य किसी क्षेत्रमें। और इन दोनोंमें स्वामिकृत भी विशेषता है। जैसे अवधिज्ञान तो संयत असंयत सब ही जीवोंको सब गतियोंमे होता है; परन्तु मनःपर्यायज्ञान मनुष्य योनिमे सो भी केवल संयतीको होता है, अन्य जीवको व असंयत मनुष्यको नहीं। और इन दोनोंमें विषयकृत भी विशेषता है। जैसे रूपवाले द्रव्योंमें असर्वपर्यायोंमें ही अवधिज्ञानका विषय निबंध है, अर्थात् अवधिज्ञानी रूपीद्रव्योंके कतिपय पर्यायोंको ही जान सक्ता है, न कि सम्पूर्ण द्रव्य तथा सर्व पर्यायोंको, परन्तु मनःपर्याय ज्ञानका विषय तो उसके अनन्त भागमें भी है। तात्पर्य यह कि जो रूपीद्रव्य अवधिज्ञानसे जाना जाता, उसके अनन्तवें सूक्ष्म भागको भी मनःपर्यायज्ञान जान लेता है ॥ २६ ॥

अत्राह। उक्तं मनःपर्य्यायज्ञानम्। अथ केवलज्ञानं किमिति। अत्रोच्यते। केवलज्ञानं दशमेऽध्याये वक्ष्यते। मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलमिति ॥

अब यहांपर कहते है, कि मनःपर्यायज्ञानका वर्णन तो कर चुके, अब उसके अनन्तर क्रमप्राप्त केवलज्ञान क्या वस्तु है? । यहां कहतें है कि, केवल ज्ञानको विशेष-

रूपसे दशवें अध्यायमें "मोहके क्षयसे तथा ज्ञानावरणी दर्शनावरणी अन्तरायके क्षयसे केवल ज्ञान होता है,, इस प्रकार कहेंगे ।

अत्राह । एषां मतिज्ञानादीनां ज्ञानानां कः कस्य विषयनिबन्ध इति अत्रोच्यते ।

अब पुनः कहते है कि ये जो मतिश्रुतादि ज्ञान हैं, इनमंसे किसका क्या विषय निबन्ध है अर्थात् किस ज्ञानसे कौनसा किस प्रकारका पदार्थ जाना जाता है । इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं ।

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

सूत्रार्थः—सम्पूर्ण द्रव्योंके असर्व (कतिपय) पर्यायोंमें मतिज्ञान और श्रुतिज्ञान इन दोनोंका विषय निबन्ध है ।

भाष्यम्—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्विषयनिबन्धो भवति सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । ताभ्यां हि सर्वाणि द्रव्याणि जानीते न तु सर्वैः पर्यायैः ।

विशेषव्याख्या—मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका विषय कतिपय (कुछ, न कि सब) पर्याय सहित जो कि सम्पूर्ण द्रव्य है, उनमें है अर्थात् इन दोनों ज्ञानोंसे जीव सब द्रव्योंको जानता है. परन्तु सर्व द्रव्योंके सर्व पर्यायोंको नहीं जानता । अपने योग्य कुछ पर्यायोंको ही जानता है ॥ २७ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः—कृष्णपीतादि जो रूपवान् द्रव्य है, उन्हींमें अवधिज्ञानका विषय निबन्ध है ।

भाष्यम्—रूपिष्वेव द्रव्येष्ववधिज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति असर्वपर्यायेषु । सुविशुद्धेनाप्यवधिज्ञानेन रूपीण्येव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तान्यपि न सर्वैः पर्यायैरिति ॥

विशेष व्याख्या—जो पदार्थ व द्रव्य रूपवाले है, वे ही अवधि ज्ञानके विषय है । उन रूपी द्रव्योंमें सम्पूर्ण पर्याय अवधिज्ञानके विषय नहीं है, किन्तु कतिपय पर्याय अत्यन्त शुद्ध अवधिज्ञानद्वारा भी रूपवान् ही पदार्थ जाने जाते है, न कि रूप रहित । और रूपवान् द्रव्य भी सम्पूर्ण पर्यायों सहित नही जाने जाते, किन्तु कतिपय पर्याय सहित ही जाने जाते है ॥ २८ ॥

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

सूत्रार्थः—उसके अनन्तवें भागमे मनःपर्यायज्ञानका विषयनिबन्ध है ।

भाष्यम्—यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्तभागे मनःपर्यायस्य विषयनिबन्धो भवति । अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यापन्नानि विशुद्धतराणि चेति ॥

विशेषव्याख्या—जिन रूपीद्रव्योंको अवधिज्ञानी जानता है, उससे अनन्त भागमें मनःपर्यायज्ञानका विषय निबंध है। अवधिज्ञानका विषय जो पदार्थ है, उसका अनन्तभाग अति सूक्ष्मतर मनःपर्यायज्ञानका विषय है। अतएव अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भागको मनःपर्यायज्ञानी जानता है। और रूपीद्रव्योंको भी जो मनमे रहस्य गुप्त भावको प्राप्त मानुषक्षेत्रमें व्यवस्थित है, उनको जानता है। और मानुपक्षेत्रमे स्थित विशुद्धतर रूपी द्रव्य हैं, उनको मनःपर्यायज्ञानी जानता है॥ २९॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

सूत्रार्थः—सम्पूर्ण द्रव्य तथा सम्पूर्ण पर्यायोंमें केवल ज्ञानका विषय निवन्ध है।

भाष्यम्—सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिवन्धो भवति। तद्धि सर्वभावग्राहकं संभिन्नलोकालोकविषयम्। नातः परं ज्ञानमस्ति। न च केवलज्ञानविषयात्परं किंचिदन्यज्ज्ञेयमस्ति। केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थः॥

विशेष व्याख्या—जीवादि सम्पूर्ण द्रव्य तथा उन द्रव्योंके यावत् पर्याय है, वे सब केवल ज्ञानके विषय हैं। वह केवल ज्ञान संभिन्न लोक तथा अलोक सर्व विपयक है और सर्वभावोंका ग्राहक अर्थात् ग्रहण करनेवाला है। केवल ज्ञानसे वढकर कोई भी ज्ञान नही है। और केवल ज्ञानका जो विषय है, उससे परे कोई ऐसा अन्य पदार्थ भी नही है, जो कि केवल ज्ञानसे प्रकाशित न होवे। तात्पर्य्य यह है, कि सम्पूर्ण विपय तथा सम्पूर्ण विषयोंके सम्पूर्ण स्थूल तथा सूक्ष्म सर्व पर्याय है, उन सवको केवल ज्ञान प्रकाशित करता है। केवल ज्ञान परिपूर्ण है। समग्र है। असाधारण है। अन्य ज्ञानोंसे निरपेक्ष है अर्थात् निज विषयोंको अन्यकी अपेक्षा न रखके स्वयं सवको प्रकाशित करता है। विशुद्ध है। सर्व भावोंका ज्ञापक अर्थात् जतानेवाला है। लोकालोक विपयक है, अर्थात् लोक अलोक सभी इसके विषय है। तथा अनन्त पर्याय है, अर्थात् सव द्रव्योंके अनन्त पर्यायोंको यह केवलज्ञान प्रकाश करता है॥ ३०॥

अत्राह। एषां मतिज्ञानादीनां युगपदेकस्मिञ्जीवे कति भवन्तीति। अत्रोच्यते।

अब यहांपर कहते हैं, कि ये जो मतिज्ञानादि ज्ञान हैं, इनमेंसे एक कालमें तथा एक जीवमें कितने ज्ञान हो सक्ते है, अर्थात् एक ही कालमे एक ही जीवमें एक वा दो अथवा और कितने ज्ञान हो सक्ते है? इस हेतुसे यह अग्रिमसूत्र कहते हैं।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः॥ ३१॥

सूत्रार्थः—एक कालमें तथा एक जीवमें मति आदिज्ञानोंमेंसे एकसे लेकर चारतक ज्ञान हो सक्ते है।

भाष्यम्—एषां मत्यादीनां ज्ञानानामादित एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिञ्जीवे आ चतुर्भ्यः। कस्मिंश्चिज्जीवे मत्यादीनामेकं भवति। कस्मिंश्चिज्जीवे द्वे भवतः। कस्मिंश्चित्त्रीणि भवन्ति। कस्मिंश्चिच्चत्वारि भवन्ति। श्रुतज्ञानस्य तु मतिज्ञानेन नियतः सहभावस्तत्पूर्वकत्वात्। यस्य तु मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद्वा न वेति। अत्राह। अथ केवलज्ञानस्य पूर्वैर्मतिज्ञानादिभिः किं सहभावो भवति। नेत्युच्यते। केचिदाचार्या व्याचक्षते। नाभावः। किं तु तदभिभूतत्वादकिंचित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत्। यथा वा व्यभ्रे नभसि आदित्य उदिते भूरितेजस्त्वादादित्येनाभिभूतान्यन्यतेजांसि ज्वलनमणिचन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिंचित्कराणि भवन्ति तद्वदिति। केचिदप्याहुः। अपायसद्द्रव्यतया मतिज्ञानं तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमनःपर्यायज्ञाने च रूपिद्रव्यविषये तस्मान्नैतानि केवलिनः सन्तीति॥ किं चान्यत्। मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत्। संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति॥ किं चान्यत्। क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि क्षयादेव केवलं। तस्मान्न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति॥

विशेष व्याख्या—ये जो मतिज्ञानादि ज्ञान कहे हैं, उनमेंसे आरंभसे (मतिज्ञानसे लेकर) एक कालमें तथा एक जीवमें एक ज्ञानसे लेकर चार ज्ञानतक प्राप्त हो सक्ते है। किसी जीवमें एक ही ज्ञान होता है, किसीमें दो होते हैं, किसी जीवमें तीन होते हैं और किसी जीवमें चारों ज्ञान होते हैं। तात्पर्य यह है, कि एक कालमें किसी जीवमें एक मतिज्ञान ही होता है। किसीमें मति श्रुत दोनों होते हैं, अथवा मति अवधि और मति मनःपर्याय होते है, किसीमें मति, श्रुत अवधि ये तीन होते हैं। और किसीमें मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्याय ये चारों होते है। किन्तु यह अवश्य जानना उचित है, कि जहां श्रुतज्ञान है, वहां उसके साथ मतिज्ञानका पूर्व सहभाव अवश्य नियत है, क्योंकि मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। अतएव यह नियम है, कि जिसको श्रुतज्ञान है उसको नियमसे मतिज्ञान है; परन्तु जिसको मतिज्ञान है उसको श्रुतज्ञान हो भी और न भी हो। अब यहांपर यह कहते है कि, केवल ज्ञानका मतिज्ञानादिके साथ सहभाव है कि नहीं है? उत्तर–केवल ज्ञानके साथ मतिज्ञानादिका सहभाव नहीं है। परन्तु कोई २ आचार्य कहते है कि, केवल ज्ञानकी सत्ता दशामें मतिज्ञानादि ज्ञानोंका अभाव नहीं है किन्तु केवलज्ञानसे वे मत्यादि ज्ञान अभिभूत (पराजित) होनेसे ऐसे अकिंचित्कर है, जैसे कि नेत्रादि इन्द्रियां। केवल दशामें मति-श्रुतादि अन्यज्ञान अभिभूत होकर ऐसे अकिंचित्कर हैं, जैसे मेघ रहित आकाशमें सूर्यके उदित होनेपर अधिक तेजके कारण सूर्यसे अभिभूत अग्नि, मणि, चन्द्रमा तथा नक्षत्रादिके तेज प्रकाश करनेमें अकिंचित्कर है। और कोई ऐसा कहते है कि अपाय सद्द्रव्यता अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे उपलब्ध पदार्थके निश्चयार्थ मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है।

इस हेतुसे श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक है। अवधिज्ञान तथा मनःपर्याय ज्ञान भी रूपी द्रव्यके विषयमें अपायसद्द्रव्यतासे ही प्रवृत्त होता है। अतः उनकी सत्तामे मतिज्ञान रह सक्ता है। और केवलज्ञानीको इन्द्रियद्वारा पदार्थोपलब्धि नही होती, इस कारणसे केवलज्ञानीको मतिज्ञानादिज्ञान नहीं है । **किं चान्यत्**। और भी यह वात है, कि मतिज्ञानादि चारों ज्ञानोंमें पर्याय वा क्रमसे उपयोग होता है न कि एक ही कालमे। और मिलित हैं ज्ञानदर्शन जिसका ऐसे भगवान् केवलीको तो एक ही कालमे सर्वभावके ज्ञापक वा ग्राहक और अन्यज्ञाननिरपेक्ष केवलज्ञान तथा केवलदर्शन होते है और प्रतिक्षण वा प्रतिसमय ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग होता है। और यह भी है, कि पूर्वमतिज्ञानादि चार ज्ञान तो ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं, और केवल ज्ञान क्षयसे ही उत्पन्न होता है; इसलिये भी केवलज्ञानीको मतिज्ञान आदि शेष चार ज्ञान नहीं होते ॥३१॥

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थः—मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान विपर्यय रूप भी होते है अर्थात् ये अज्ञानरूप भी हो जाते है।

---

(१) नेत्रादि इन्द्रियोसे उपलब्ध जो ईहित पदार्थ है, उसके निश्चयको अपाय कहते हैं. अर्थात् अवग्रह तथा ईहारूप मतिज्ञानसे गृहीत पदार्थके निश्चयको अपाय कहते है. ऐसा अपाय केवलीको अपेक्षित नहीं है, इस कारण केवलीको मतिज्ञानादिकी आवश्यकता नहीं है।

(२) **किं चान्यत्** इससे अपने दोनो आशयोंको ग्रन्थकर्त्ता प्रकाश करते हैं, कि मतिज्ञानादि चारो ज्ञानोमें पर्यायसे क्रमसे उपयोग तथा निज २ विषयग्राहिता होती है, न कि एक कालमें। इनमे एक २ कालमे न तो उपयोग ही है, और न निज २ विषयोमे ग्राहकतारूप व्यापार ही है । जिस समय मतिज्ञानी मतिज्ञानसे उपयुक्त है अर्थात् मतिज्ञानरूप उपयोग उसमे है, उस समय अन्यश्रुतादि ज्ञानसे नहीं; और इसीप्रकार जिस समय श्रुतज्ञानसे उपयुक्त है, उस समय अन्यमतिआदि ज्ञानमे नहीं है। और केवलीको तो क्रमसे एतद्ज्ञानगत उपयोग नहीं है क्योंकि उसके विषयमे यह कहा गया है कि उसके दर्शन तथा ज्ञान संमिलित हैं। विशेष ग्राहक ज्ञान और सामान्य ग्राहक दर्शन ये दोनो जिस केवली भगवानके नभिन्न हैं, अर्थात् सर्वभाव ग्राहक हैं और माहात्म्यादि गुणोसे संयुक्त सर्व द्रव्यपर्यायग्राहक केवल ज्ञान जिसको है वह केवली भगवान् है। उनको एक कालमे ही प्रतिसमय उपयोग होता है। सर्वभाव पचान्नि [illegible] ग्राहक तथा इन्द्रियादिकी अपेक्षासे रहित उसका ज्ञान है। उसमें कालकृतव्यवधानसे शून्य निरन्तर उपयोग होता रहता है। 'अनुसमय, पदसे वारंवार उपयोग होता है, यह तात्पर्य है। कोई २ पण्डितम्मन्य [illegible] 'सूत्रका अन्यथा व्याख्यान करते हैं वह असगत हैं। कदाचित् यह कहो कि, साकारज्ञान तथा निराकारदर्शन इन शब्दोंमें भेद होनेसे वारंवार एक कालमे ही दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग नहीं हो सक्ता, क्योंकि प्रथम सामान्य ग्राहक निराकार दर्शन हो लेगा, पश्चात् ज्ञानोपयोग होगा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवली भगवानूका जब ज्ञानावरणी सर्वथा क्षीण हो गया और दर्शनावरणी भी सर्वथा निरवशेष नष्ट हो गया तब [illegible] रण भेद कहां रहा? भगवान् केवलीका ज्ञान तो सर्वथा और सर्वदा विशेषरूपको परिच्छिन्न करके पदार्थ ग्राहक है। वहां अष्टविधि ज्ञानोपयोग और चतुर्विधि दर्शनोपयोग यह भी भेद न रहा, इससे सिद्ध हुआ, कि केवलीको मत्यादि ज्ञान नहीं होते।

भाष्यम्—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमिति । विपर्ययश्च भवत्यज्ञानं चेत्यर्थः । ज्ञानविपर्ययो ऽज्ञानमिति । अत्राह । तदेव ज्ञानं तदेवाज्ञानमिति । ननु च्छायातपवच्छीतोष्णवच्च तदत्यन्तविरुद्धमिति । अत्रोच्यते । मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतग्राहकत्वमेतेषाम् । तस्मादज्ञानानि भवन्ति । तद्यथा । मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति । अवधिर्विपरीतो विभङ्ग इत्युच्यते ॥

विशेषव्याख्या—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान ये विपर्यय अर्थात् अज्ञान स्वरूपताको भी प्राप्त होते है क्योंकि विपर्यय कहनेसे ज्ञानका विपर्यय वा विरोधी अज्ञान हुआ । अब यहांपर कहते हैं, कि वे ही मति आदि ज्ञान और वे ही अज्ञान हैं ऐसा कथन किया सो यह कथन छाया और आतप अथवा शीत और उष्णके समान अत्यन्त विरुद्ध है, अर्थात् एकहीमें दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सक्ते है? अब इसका उत्तर कहते हैं कि मिथ्यादर्शनके होनेसे इन मत्यादिज्ञानोंकी विपरीतग्राहकता हो जाती है, इस कारणसे ये अज्ञान हो जाते है । जैसे मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, और विभङ्गज्ञान । विपरीतावधिज्ञानको ही विभङ्गज्ञान कहते हैं, अथवा कुमति, कुश्रुत कुअधि वा विभङ्गावधि यों भी मति आदिके विपर्ययको कहते हैं ॥ ३२ ॥

अत्राह । उक्तं भवता सम्यग्दर्शनपरिगृहीतं मत्यादिज्ञानं भवत्यन्यथा ज्ञानमेवेति मिथ्यादृष्टयोऽपि च भव्याश्चाभव्याश्चेन्द्रियनिमित्तानविपरीतान्स्पर्शादीनुपलभन्ते उपदिशन्ति च स्पर्शं स्पर्श इति रसं रस इति । एवं शेषान् । तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते । तेषां हि विपरीतमेतद्भवति ।

अब यहांपर कहते हैं, कि आपने यह कहा, कि सम्यग्दर्शनके होनेसे तो मत्यादि ज्ञान हैं और अन्यथा अर्थात् मिथ्यादर्शनके होनेसे विपरीत अर्थात् अज्ञान हो जाते हैं, यह कैसे संगत होता है? क्योंकि मिथ्यादृष्टिजन भी कोई भव्य हैं. कोई अभव्य हैं वे भी इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तक अविपरीत स्पर्शादि विषयोंको प्राप्त होते है । और स्पर्शको स्पर्श, रसको रस, तथा रूपको रूप कहते हैं, इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंके विषयोंको आपके समान मिथ्यादृष्टि भी उपलब्ध करते हैं, तब यह कैसे हो सक्ता है कि आपगृहीत तो मत्यादि ज्ञान है और अन्यगृहीत अज्ञान है? । अब यहां उत्तर देते हैं कि मिथ्यादृष्टियोंके मतिआदिज्ञान विपरीत अर्थात् अज्ञान ही होते हैं, क्योंकि उनको विवेक नहीं है । इसलिये यह अग्रिमसूत्र कहते है ।

सदसतो रविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थः—मिथ्यादृष्टियोंके उन्मत्तके समान सत् तथा असत्की अविशेषसे यदृच्छापूर्वक उपलब्धि होनेमें मत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान ही होते है ।

१ सम्यग्दृष्टे. २ मिथ्यादृष्टे

भाष्यम्—यथोन्मत्तः कर्मोदयादुपहतेन्द्रियमतिर्विपरीतग्राही भवति सोऽश्वं गौरित्यध्यवस्यति गां चाश्व इति लोष्टं सुवर्णमिति सुवर्णं लोष्ट इति लोष्टं च लोष्ट इति सुवर्णं सुवर्णमिति तस्यैवमविशेषेण लोष्टं सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्यतो नियतमज्ञानमेव भवति । तद्वन्मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानं भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—जैसे उन्मत्त पुरुष कर्मोके उदयसे इन्द्रियोंकी मति वा शक्तिके नष्ट हो जानेसे विपरीतअर्थका ग्राही हो जाता है और विपरीत ग्रहणके स्वभावसे अश्व को गौ, गौको अश्व निश्चय करता है। पाषाण को सोना, सोनेको पाषाण, माताको स्त्री, तथा स्त्रीको माता, और कदाचित् अविशेषरूपसे घोडेको घोडा, पाषाणको पाषाण, माताको माता, और स्त्रीको स्त्री भी यदृच्छासे जानता है। उसको इस प्रकार अनालोचनपूर्वक यदृच्छासे अविशेषतापूर्वक पाषाणको सुवर्ण, सुवर्णको पाषाणरूपसे विपरीत निश्चय होनेसे अज्ञान ही है, ऐसे ही मिथ्यादर्शनके आग्रहसे जिसकी इन्द्रियां उपहत (नष्टशक्ति) हो गई है, उसको मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान भी अज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

उक्तं ज्ञानं । चारित्रं नवमेऽध्याये वक्ष्यामः । प्रमाणे चोक्ते । नयान्वक्ष्यामः तद्यथा ।

ज्ञानका वर्णन कर चुके, चारित्र नववें अध्यायमे कहेंगे। प्रमाण भी परोक्षप्रत्यक्षभेदसे कह चुके, अब आगे नयका निरूपण करते है। जैसेः—

नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थः—नैगमादि पांच नय है।

भाष्यम्—नैगमः सङ्ग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रः शब्द इत्येते पञ्च नया भवन्ति । तत्र ।

विशेषव्याख्या—नैगम, संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र, तथा शब्द ये पांच नय है ॥ ३४ ॥ उनमें ।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थः—आद्य अर्थात् प्रथम नैगम नय दो प्रकारका है, शब्दनयके तीन भेद है।

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह । स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति । शब्दस्त्रिभेदः साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति ॥ अत्राह । किमेषां लक्षणमिति । अत्रोच्यते । निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगमः। अर्थानां सर्वैकदेशसङ्ग्रहणं संग्रहः । लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः । सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः । यथार्थाभिधानं शब्दः । नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः । सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः । व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत इति ॥

विशेष व्याख्या—उन पांच नयोंके मध्यमें आदिमें होनेवाले नैगम नयके दो भेद है। जैसे देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी। और शब्दनयके तीन भेद है; साम्प्रत, सम-

भिरूढ, एवंभूत। अब इन नयोंके लक्षण क्या है। इसलिये कहते हैं:—निगमोंमें (शास्त्रोंमें) जो शब्द कहे गये है, उनके अर्थ, और शब्द तथा अर्थका जो ज्ञान है वह एकदेशसे ग्राही वा समग्ररूपसे ग्राही नैगम है। अर्थोंका सब रूपसे वा एकदेशसे जो संग्रह है, उसको संग्रह कहते है। लौकिकके समान उपचारसे बहुधा पूर्ण और विस्तृत अर्थका बोधक जो है वह व्यवहार नय है। विद्यमान सांप्रतिक अर्थोंका अभिधान अथवा परिज्ञान जो है, उसको ऋजुसूत्र कहते है। और यथार्थ वस्तुका कथन वा नाम जो है, उसको शब्दनय कहते हैं। नामादिकमें प्रसिद्ध पूर्व शब्दसे जो शब्दार्थमें प्रत्यय अर्थात् ज्ञान है, वह सांप्रत शब्द नय है। विद्यमान अर्थोंमें जो असंक्रम है, वह समभिरूढ शब्द-नय है। और व्यञ्जन तथा अर्थमें जो प्रवृत्त है, वह एवंभूतनय है॥ ३५॥

भाष्यम्—अत्राह। उद्दिष्टा भवता नैगमादयो नयाः। तन्नया इति कः पदार्थ इति। नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तकाः निर्भासकाः उपलम्भकाः व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम्। जीवादीन्पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः॥

अब यहांपर कहते हैं, कि आपने नैगम आदि नयोंका संकीर्तन किया, अब उन नयोंमें नयत्व क्या पदार्थ है? अर्थात् यहां नयशब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है? इसका उत्तर कहते हैं:— नय, प्रापक (अर्थविशेषको प्राप्त करानेवाले) कारक (विशेष कार्यके करनेवाले) साधक, निर्वर्त्तक, निर्भासक (किसी अर्थके प्रकाशक) उपलम्भक, तथा व्यञ्जक ये सब पर्यायवाचक वा समानार्थक शब्द है। जो जीवादि पदार्थोंको प्राप्त करते है, प्राप्त होते है, कराते हैं, सिद्ध करते है, व्यवहारमें वर्त्ताते है, प्रकाशित करते हैं, उपलब्ध करते है, और प्रकट करते है, वे नय है। तात्पर्य यह कि नयशब्दका प्रापक, कारक तथा साधक आदि अर्थ है।

भाष्यम्—अत्राह। किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति। अत्रोच्यते। नैते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविताः। ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि। तद्यथा। घट इत्युक्ते योऽसौ चेष्टाभिनिर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलौष्ठायतवृत्तग्रीवोऽधस्तात्परिमण्डलो जलादीनामाहरणधारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तनानिर्वृत्तो द्रव्यविशेषस्तस्मिन्नेकस्मिन्विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेष्वविशेषात्परिज्ञानं नैगमनयः। एकस्मिन्वा बहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्ययः सङ्ग्रहः। तेष्वेव लौकिकपरीक्षकग्राह्येषूपचारगम्येषु यथास्थूलार्थेषु संप्रत्ययो व्यवहारः। तेष्वेव सत्सु साम्प्रतेषु संप्रत्यय ऋजुसूत्रः। तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः। तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासङ्क्रमो वितर्कध्यानवत् समभिरूढः। तेषामेव, व्यञ्जनार्थयोरन्योन्यापेक्षार्थग्राहित्वमेवम्भूत इति॥

यहांपर यह शंका करते हैं, कि ये नय हैं, सो जैनतन्त्र (शास्त्र) से भिन्न जो कणाद आदिके शास्त्र वैशेषिक आदि हैं, उनमें कुशल जो वादी है उनके संकेत है अर्थात् वैशेषिकतन्त्रवादीजन इनको नय कहते है ? अथवा स्वतन्त्र (निज जैनशास्त्र) के संकेतसिद्ध चोदक पक्षग्राही अर्थात् दुरुक्त विषयके सूचक पक्षको ग्रहण करनेवाले अयथार्थ अर्थको मतिभेदसे कहनेकेलिये सहसा प्रवृत्त होनेवाले ये नय है? इसका समाधान करते है, कि ये नय कणाद वैशेषिक आदि शास्त्रोंके नही है, और स्वतंत्र मतभेदसे अयथार्थ अर्थके निरूपणकेलिये भी नहीं दौड पडे हैं, किन्तु ज्ञेय जीवादिक पदार्थोंके बोध करानेको उपाय विशेष ये नैगमादि नय हैं। जैसे घट (घडा) ऐसा कहनेपर कुंभकारकी चेष्टाओंसे उत्पन्न उर्ध्वदेशमें कुंडलाकार, विस्तृत, ओष्टसहित, वर्तुलाकार, ग्रीवायुक्त, अधोदेशमें परिमंडलाकार, जलादि द्रवीभूत पदार्थोंके आनयन तथा धारणादि कार्योंमें समर्थ, तथा उत्तरोत्तर पाकजनित रक्तादिगुणोंकी समाप्तिसिद्ध जो द्रव्य विशेष है उस एकमें वा उस जातिके सम्पूर्ण घटोंमें अविशेषरूपसे जो परिज्ञान है, वह **नैगम** नयका विषय है। तथा एक अथवा अनेक वर्तमान, अतीत, अनागत (होनेवाले) नाम आदिसे विशेषित घटोंका जो ज्ञान है, वह **संग्रहनय** है, अर्थात् संग्रहनयका विपय है। और लौकिक परीक्षाओंसे ग्रहण करने योग्य उपचारसे जानने योग्य उन्ही घटोंमें स्थूल पदार्थोंके तुल्य जो ज्ञान है वह **व्यवहार** नय है। तथा वर्तमान कालमें विद्यमान उन्हीं घटोंमें जो ज्ञान है वह **ऋजुसूत्र** नयका विपय है। तथा नामादिमेंसे किसी एकके द्वारा ग्राह्य और प्रसिद्धिपूर्वक उन्हीं वर्तमानकालिक घटोमें जो ज्ञान है वह **सांप्रत शब्द** नयका विषय है। और वितर्क ध्यानके समान उन्हीं सांप्रत घटोंमें अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) का जो असंक्रम है वह **समभिरूढ** नय है। और उन्हींमें व्यञ्जन तथा अर्थकी परस्पर अपेक्षासे जो पदार्थग्राहकता है, वह **एवंभूत** नयका विपय है।

भाष्यम्—अत्राह। एवमिदानीमेकस्मिन्नर्थेऽध्यवसायनानात्वान्ननु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग इति। अत्रोच्यते। यथा सर्वमेकं सदविशेषात् सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात् सर्वं त्रित्वं द्रव्यगुणपर्यायावरोधात् सर्वं चतुष्टं चतुर्दर्शनविषयावरोधात् सर्वं पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात् सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधादिति। यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि तद्वन्नयवादा इति। किं चान्यत्। यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानैर्धर्मादीनामस्तिकायानामन्यतमोऽर्थः पृथक् पृथगुपलभ्यते पर्यायविशुद्धिविशेषादुत्कर्पेण न च ता विप्रतिपत्तयः तद्वन्नयवादाः। यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते स्वविपयनियमात् न च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति तद्वन्नयवादा इति। आह च—

अब यहांपर कहते है, कि एक ही पदार्थमें ज्ञानकी अनेकता (नैगम संग्रह आदि रूपसे अनेक ज्ञानविषयता) होनेसे विवादका प्रसङ्ग हो गया, अर्थात् कीदृशज्ञानसे यथा-

पर घट ग्राह्य है ? इस प्रकार विवाद प्राप्त हुआ। इसका उत्तर कहते हैं:— सर्व एक ही है, क्योंकि सत्त्वरूपसे सबमें अभेद है, अर्थात् सद्रूपसे सब अभिन्न है। जैसे जो सत् है धर्म सत् है, अधर्म सत् है, आकाश सत् है, इस प्रकार सत्त्वरूपसे किसीमें भेद नहीं है। तथा सब द्विविध है, क्योंकि सब कुछ चेतन और अचेतनमय है, चेतन और अचेतनसे भिन्न कुछ नहीं है, इसलिये चेतन और अचेतन भेदसे सब द्विविध है। तथा सब त्रित्व संख्यायुक्त है; क्योंकि द्रव्य, गुण और पर्यायरूप ही समस्त लोक है। द्रव्य गुण और पर्याय इनसे भिन्न कुछ नही है; इसलिये सब जगत त्रिविध है। तथा सब चार संख्या युक्त है, क्योंकि चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन इन चार प्रकारके दर्शनविषयोंमें सब गतार्थ है। तथा सब कुछ पंचसंख्यामय है, क्योंकि जीवास्तिकायादि पंचास्तिकायमें सब गतार्थ है। तथा सब कुछ षट्संख्यामय हैं; क्योंकि षड्द्रव्यमें सब अन्तर्भूत है। जैसे एकत्व, द्वित्व आदि विवादके स्थान नहीं हैं, किन्तु कथन तथा ज्ञानकी भिन्न २ परिपाटी है, ऐसे ही नयवाद भी है। किं च दूसरी यह भी वार्त्ता है, कि जैसे मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानोंसे धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकायोंमें कोई एक अस्तिकायरूप पदार्थ पर्यायविशुद्धि तथा उत्कर्षसे पृथक् २ उपलब्ध होता है; और वह पृथक् २ उपलब्धि विप्रतिपत्ति नहीं है, ऐसे ही नयवाद भी है। अर्थात् पृथक् २ नयसे भिन्न प्रकारसे पदार्थोंके स्वरूप जाने जाते हैं, इसमें कुछ विवाद नहीं है। अथवा जैसे निज २ विषयके नियमसे प्रत्यक्ष अनुमान उपमान तथा आप्तवचनसे एक ही पदार्थ प्रमाण साक्षात् विषयीभूत किया जाता है, किन्तु वह अनेक प्रमाणोंसे एक पदार्थकी प्रमिति विवाद नहीं है। ऐसे ही नयवाद भी हैं। अब इस विषयमें संक्षिप्त रुचिवालेको बोध करानेके अनुग्रहसे आर्याद्वारा कहते हैं;:—

नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः।
देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ॥ १ ॥
यत्सङ्गृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे।
तत्सङ्ग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्यान्नयविधिज्ञः ॥ २ ॥
समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासञ्ज्ञादिनिश्चयापेक्षम्।
लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ॥ ३ ॥
साम्प्रतविषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात्।
विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ॥ ४ ॥ इति ॥

निगमजन पदमें होनेवाले शब्द और उनके अर्थोंको नैगम, और उन नैगम शब्दार्थोंमेंसे एक विशेष तथा अनेक सामान्यविषयों वा अर्थोंके एकदेशसे वा समग्ररूपसे ग्रहण करानेमें जो समर्थ है, उसको व्यवहारी नैगम कहते है ॥ १ ॥

१ द्व्यमगृह।

सामान्य विषयमें वा विशेषके विषयमें जो संगृहीतका वचन अभिधान है, उस संग्रह नयके नियत ज्ञानकी नयविधि जाननेवालेको संग्रह नय जानना चाहिये ॥ २ ॥

समुदाय, व्यक्ति, आकृति, सत्ता और संज्ञा अर्थात् नाम स्थापना द्रव्य और भाव आदिके निश्चयकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा लौकिक उपचारसे जो नियत है; उसको विस्तृत व्यवहार नय जानना चाहिये ॥ ३ ॥

और संक्षेपसे साम्प्रतविषयका जो ग्राहक है, उसको ऋजुसूत्र नय जानना चाहिये। तथा यथार्थविषयक साम्प्रतसमभिरूढ और एवंभूत इत्यादि पदोंसे जो विशेषित उसको शब्द नय जानना चाहिये ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राह । अथ जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीव इत्याकारिते केन नयेन कोऽर्थः प्रतीयत इति । अत्रोच्यते । जीव इत्याकारिते नैगमदेशसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रसाम्प्रतसमभिरूढैः पञ्चस्वपि गतिष्वन्यतमो जीव इति प्रतीयते । कस्मात् । एते हि नया जीवं प्रत्यौपशमिकादियुक्तभावग्राहिणः । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं जीवस्य वा देशप्रदेशौ । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति जीव एव तस्य वा देशप्रदेशाविति ॥ एवम्भूतनयेन तु जीव इत्याकारिते भवस्थो जीवः प्रतीयते । कस्मात् । एष हि नयो जीवं प्रत्यौदयिकभावग्राहक एव । जीवतीति जीवः प्राणिति प्राणान्धारयतीत्यर्थः । तच्च जीवनं सिद्धे न विद्यते तस्माद्भवस्थ एव जीव इति । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं सिद्धो वा । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति भवस्थ एव जीव इति । समग्रार्थग्राहित्वाच्चास्य नयस्य नानेन देशप्रदेशौ गृह्येते । एवं जीवौ जीवा इति द्वित्वबहुत्वाकारितेष्वपि । सर्वसङ्ग्रहणे तु जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीवः जीवौ नोजीवौ अजीवौ नोऽजीवौ इत्येकद्वित्वाकारितेषु शून्यम् । कस्मात् । एष हि नयः सङ्ख्यानन्त्याज्जीवानां बहुत्वमेवेच्छति यथार्थग्राही । शेषास्तु नया जात्यपेक्षमेकस्मिन्बहुवचनत्वं बहुषु च बहुवचनं सर्वाकारितग्राहिण इति । एवं सर्वभावेषु नयवादाधिगमः कार्यः ।

अब यहांपर कहते है । जीव, नोजीव तथा अजीव और नो अजीव ऐसा कहनेपर किस नयसे और कौनसा पदार्थ प्रतीत (ज्ञानविषयीभूत) होता है ? इसका उत्तर कहते है, कि 'जीव, ऐसा कहनेसे वा पुकारनेसे नैगम, देशसंग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, साम्प्रत और समभिरूढ नयोंसे पांचो गतियोंमें किसी एक जीवका ज्ञान होता है, क्योंकि ये नैगम आदि नय जीवके प्रति औपशमिकादि भावयुक्त पदार्थके ग्राहक है । तथा 'नोजीव, ऐसा कहनेसे अजीवद्रव्य वा जीवके देश प्रदेशका बोध होता है । और 'अजीव, ऐसा कहनेसे अजीव द्रव्यका ही ज्ञान होता है । और 'नो अजीव, ऐसा कहनेसे जीव अथवा जीवके देश प्रदेशका बोध होता है । और एवंभूत नयसे तो 'जीव, ऐसा कहनेसे भवस्थजीवका ग्रहण होता है, क्योंकि यह नय जीवके प्रति औदयिक भावका ग्राहक है। जीव इस शब्दकी व्युत्पत्ति यह है "जीवति (प्राणिति) इति जीवः" अर्थात् जो दशो

१ अवस्था.

प्राणोंको धारण करै। और वह प्राणधारणरूप जीवन सिद्धोंमें नहीं होता, इस हेतुसे 'जीव' ऐसा कहनेसे एवंभूत नयसे तो भवस्थजीवका ही ग्रहण होता है। और 'नो जीव' ऐसा कहनेसे अजीवद्रव्य अथवा सिद्धका ग्रहण होता है। अजीव ऐसा कहनेसे अजीव द्रव्यका ही ग्रहण होता है, और नोजीव ऐसा कहनेसे संसारस्थ जीवका ही ज्ञान होता है। क्योंकि यह एवंभूत नय सम्पूर्णरूपसे पदार्थका ग्राहक है; इसके द्वारा देश तथा प्रदेशका ग्रहण नही होता। इसी रीतिसे "जीवौ जीवाः" दो जीव वा वहुत जीव इत्यादि द्वित्व तथा वहुतरूपसे कहनेपर भी संसारस्थ जीवका ही इस नयसे ग्रहण होता है। और सम्पूर्ण जीवमात्रका ग्रहण होनेपर तो जीव, नोजीव (ईषत् जीव), अजीव, नोऽजीव (ईषत् वा किंचित् अजीव) जीव (दो जीव) नोजीव (द्वित्वसंख्या सहित नोजीव) तथा दो अजीव और दो नोऽजीव इत्यादि एकत्व वा द्विरूपसे कहनेपर शून्यका ही बोध होगा। क्योंकि यह यथार्थग्राही नय संख्याकी अनन्ततासे जीवोंके वहुत्वको ही चाहता है। और पूर्वोक्त उदाहरणमें तो एकत्व तथा द्वित्व ही हैं, अर्थात् एकवचन और द्विवचन ही है। और शेष जो नय है, वे तो जातिकी अपेक्षासे एकमें वहुवचन तथा वहुतमें भी वहुवचनको सम्पूर्ण वचनोंसे एक वचनादिसे आकारित उच्चारित विकल्पोंको ग्रहण करनेवाले हैं। इसी प्रकार सव पदार्थोंमें नयवादका ज्ञान समझना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह। अथ पञ्चानां ज्ञानानां सविपर्ययाणां कानि को नयः श्रयत इति। अत्रोच्यते। नैगमादयस्त्रयः सर्वाण्यष्टौ श्रयन्ते। ऋजुसूत्रनयो मतिज्ञानमत्यज्ञानवर्जानि षट्॥ अत्राह। कस्मान्मतिं सविपर्ययां न श्रयत इति। अत्रोच्यते। श्रुतस्य सविपर्ययस्योपग्रहत्वात्। शब्दनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञानकेवलज्ञाने श्रयते। अत्राह। कस्मान्नेतराणि श्रयत इति। अत्रोच्यते। मत्यवधिमनःपर्यायाणां श्रुतस्यैवोपग्राहकत्वात्। चेतनाज्ञस्वाभाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते। तस्मादपि विपर्ययान्न श्रयत इति। अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत इति। आह च—

उत्तर कहते हैं, कि मति, अवधि, तथा मनःपर्याय ज्ञानोंको श्रुतकी उपग्राहकता है । तथा सब संसारी जीवोंका चेतनज्ञ स्वभाव होनेसे इस नयकी दृष्टिमें कोई मिथ्यादृष्टि अथवा अज्ञानी जीव है ही नहीं । इस कारणसे शब्दनय विपर्ययोंका आश्रय नहीं करेगा । इसी कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, तथा आप्तवचन इनका भी प्रामाण्य हम स्वीकार करते हैं । और कहा भी है;—

विज्ञायैकार्थपदान्यर्थपदानि च विधानमिष्टं च ।
विन्यस्य परिक्षेपान्नयैः परीक्ष्याणि तत्त्वानि ॥ १ ॥
ज्ञानं सविपर्यासं त्रयः श्रयन्त्यादितो नयाः सर्वम् ।
सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः ॥ २ ॥
ऋजुसूत्रः षट् श्रयते मतेः श्रुतोपग्रहादनन्यत्वात् ।
श्रुतकेवले तु शब्दः श्रयते नोऽन्यच्छ्रुताङ्गत्वात् ॥ ३ ॥
मिथ्यादृष्ट्यज्ञाने न श्रयते नास्य कश्चिदज्ञोऽस्ति ।
ज्ञस्वाभाव्याज्जीवो मिथ्यादृष्टिर्न चाप्यज्ञः ॥ ४ ॥
इति नयवादाश्चित्राः क्वचिद्विरुद्धा इवाथ च विशुद्धाः ।
लौकिकविषयातीतास्तत्त्वज्ञानार्थमधिगम्याः ॥ ५ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

एक अर्थवाचक पदोंको तथा अनेक अर्थके वाचक पदोंको जानकर और इष्ट विधानका विन्यास करके अनन्तर परिक्षेपसे नयोंके द्वारा तत्त्वोंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

आदिसे नैगम आदि तीन नय विपर्यय सहित सब ज्ञानोंका आश्रय करते हैं, उसमें सम्यग्दृष्टिको तो ज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टिको विपर्यास होता है ॥ २ ॥

ऋजुसूत्र नय विपर्यय सहित मतिज्ञानको छोड़के शेष षट् ज्ञानोंका आश्रय करता है, क्योंकि मतिज्ञानका अभेद होनेसे श्रुतसे ही उपग्रह हो जाता है, शब्दनय तो श्रुत और केवल ज्ञानका ही आश्रय करता है, न कि अन्यका; क्योंकि शब्दनय श्रुतका ही अङ्ग है ॥ ३ ॥

तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानका आश्रय नहीं करता । क्योंकि इसकी दृष्टिमें ज्ञस्वभाव (ज्ञानी स्वभाव) होनेसे न तो कोई मिथ्यादृष्टि है, और न कोई अज्ञानी है ॥ ४ ॥

इस रीतिसे विचित्र नयवाद कहीं विरुद्ध सदृश होनेपर भी अति विशुद्ध तथा लौकिक विषयोंसे परे हैं, इसीसे तत्त्वार्थज्ञानकेलिये इनको जानना चाहिये ॥ ५ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे आचार्योपाधिधारिपण्डितठाकुर-प्रसादशर्मविरचितभाषाटीकासमलङ्कृतः प्रथमोध्यायः ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

अत्राह । उक्तं भवता जीवादीनि तत्त्वानीति । तत्र को जीवः कथं लक्षणो वेति । अत्रोच्यते ।

यहांपर कहते हैं, कि आपने जीव आदि तत्त्वोंको कहा है, सो जीव क्या और उसका लक्षण क्या है? इसलिये यह अग्रिमसूत्र कहते हैं ।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

सूत्रार्थः—औपशमिक, क्षायिक और मिश्रभाव जीवके स्वतत्त्व हैं, तथा औदयिक और पारिणामिक भी है ।

भाष्यम्—औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक औदयिकः पारिणामिक इत्येते पञ्च भावा जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति ।

विशेषव्याख्या—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक । ये पांचभाव जीवके निजतत्त्व अर्थात् निज स्वभाव है ॥ १ ॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थः—औपशमिक आदि पांच भाव यथाक्रमसे दो, नव, अठारह, इक्कीस तथा तीन भेदवाले है ।

भाष्यम्—एते औपशमिकादयः पञ्च भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा भवन्ति । तद्यथा । औपशमिको द्विभेदः क्षायिको नवभेदः क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः औदयिक एकविंशतिभेदः पारिणामिकस्त्रिभेद इति । यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।

विशेषव्याख्या—पूर्वोक्त औपशमिक आदि पांच भाव जो जीवके स्वतत्त्व हैं उनके भेद इस प्रकार हैं । जैसे औपशमिकके दो भेद, क्षायिकके नव भेद, क्षायोपशमिकके अठारह भेद, औदयिकके इक्कीस भेद, और पारिणामिकके तीन भेद हैं । 'यथाक्रम, इसका यह तात्पर्य है, कि जिस क्रमसे सूत्रमें उपनिबद्ध है, उसीसे ये भेद है । और जो जिसके भेद हैं, उनको क्रमसे आगे कहते है ॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

सूत्रार्थः—प्रथम अर्थात् औपशमिकके सम्यक्त्व चारित्र दो भेद हैं ।

भाष्यम्—सम्यक्त्वं चारित्रं च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति ।

विशेषव्याख्या—सम्यक्त्व तथा चारित्र ये दो प्रकार औपशमिक भावके है अर्थात् औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र दो भेद है ॥ ३ ॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

सूत्रार्थः—दूसरे अर्थात् क्षायिकके ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपयोग, वीर्य सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ भेद है ।

भाष्यम्—ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोग उपभोगो वीर्यमित्येतानि च सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्तीति ।

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य ये सात तथा च शब्दसे सम्यक्त्व और चारित्र मिलाकर नव प्रकारका क्षायिक भाव होता है, अर्थात् क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ॥ ४ ॥

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

सूत्रार्थः—चार प्रकारका ज्ञान, तीन प्रकारका अज्ञान, तीन प्रकारका दर्शन और पांच प्रकारकी लब्धि, तथा सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये अष्टादश भेद क्षायोपशमिक भावके हैं ।

भाष्यम्—ज्ञानं चतुर्भेदं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति । अज्ञानं त्रिभेदं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति । दर्शनं त्रिभेदं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमिति । लब्धयः पञ्चविधा दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिरिति । सम्यक्त्वं चारित्रं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति ।

विशेषव्याख्या—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्याय ज्ञान ये चार ज्ञान; मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान तथा विभंगावधि ये तीन अज्ञान; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन; दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, तथा वीर्यलब्धि ये पांच प्रकारकी लब्धि; इस प्रकार ज्ञानादि पन्द्रह और सम्यक्त्व, चारित्र, तथा संयमासंयम सब मिलाकर अठारह भेदवाला क्षायोपशमिक भाव है ॥ ५ ॥

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयत एक, असिद्धत्व एक, और लेश्या छह; ये औदयिक भावोंके २१ भेद है ।

भाष्यम्—गतिश्चतुर्भेदा नारकतैर्यग्योनमनुष्यदेवा इति । कषायश्चतुर्भेदः क्रोधी मानी मायी लोभीति । लिङ्गं त्रिभेदं स्त्रीपुमान्नपुंसकमिति । मिथ्यादर्शनमेकभेदं मिथ्यादृष्टिरिति । अज्ञानमेकभेदमज्ञानीति । असंयतत्वमेकभेदमसंयतोऽविरत इति । असिद्धत्वमेकभेदमसिद्ध इति । एकभेदमेकविधमिति । लेश्या षट्भेदाः कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या । इत्येते एकविंशतिरौदयिकभावा भवन्ति ।

विशेषव्याख्या—नारक, तैर्यग्योनि मनुष्य और देव ये चार गति; क्रोध, मान, माया, तथा लोभ ये चार कषाय; स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये तीन लिङ्ग; मिथ्यादृष्टिरूप मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, अविरत असंयतरूप असंयत एक, असिद्धत्व एक, और कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या इस प्रकार सब मिलकर इक्कीस प्रकार औदयिक भाव है ॥ ६ ॥

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थः—जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व ये तीनों पारिणामिक भाव है।

भाष्यम्—जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते त्रयः पारिणामिका भावा भवन्तीति । आदिग्रहणं किमर्थमिति । अत्रोच्यते । अस्तित्वमन्यत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं गुणवत्त्वमसर्वगतत्वमनादिकर्मसन्तानबद्धत्वं प्रदेशत्वमरूपत्वं नित्यत्वमित्येवमादयोऽप्यनादिपारिणामिका जीवस्य भावा भवन्ति । धर्मादिभिस्तु समाना इत्यादिग्रहणेन सूचिताः । ये जीवस्यैव वैशेषिकास्ते स्वशब्देनोक्ता इति । एते पञ्च भावास्त्रिपञ्चाशद्भेदा जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति । अस्तित्वादयश्च । किं चान्यत्—

विशेषव्याख्या—जीवत्व, भव्यत्व, तथा अभव्यत्व आदि पारिणामिक भाव हैं। पारिणामिक भावके तीन ही भेद कहे हैं, तब इस सूत्रमें आदिग्रहण क्यो किया ? इसका उत्तर कहते है,:—अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्व, असर्वगतत्व, अनादिकर्मसन्तानबद्धत्व, प्रदेशत्व, अरूपत्व तथा नित्यत्व; इत्यादि और भी अनादिकालसिद्ध पारिणामिक भाव जीवके हैं। और ये अस्तित्वादि भाव धर्मादिके समान हैं, इसलिये आदिग्रहणसे उनको भी सूचित किया है। जो जीवके वैशेषिक अर्थात् जो विशेष करके जीवमें ही होते हैं, उनको तो पृथक् २ स्व शब्दसे कहा है । ये औपशमिकादि पांचों भाव मिलके त्रिपञ्चाशत अर्थात् ५३ भेद जीवके स्वतत्त्व है, अर्थात् निज विशेष भाव हैं, जो कि जीवमें ही होते है। और अस्तित्वादि भी जीवके भाव हैं ॥ ७ ॥ और भी कहते हैं;—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थः—उपयोगवत्ता जीवका लक्षण है।

भाष्यम्—उपयोगो लक्षणं जीवस्य भवति ।

विशेषव्याख्या—जीवका उपयोग लक्षण होता है अर्थात् जीव उपयोगलक्षणयुक्त होता है ॥ ८ ॥

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थः—वह उपयोग दो प्रकारका है। एक अष्टविध है, और दूसरा चतुर्विध है।

भाष्यम्—स उपयोगो द्विविधः साकारोऽनाकारश्च ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः ।

स पुनर्यथासङ्ख्यमष्टचतुर्भेदो भवति । ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः । तद्यथा । मतिज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोपयोगोऽवधिज्ञानोपयोगो मनःपर्यायज्ञानोपयोगः केवलज्ञानोपयोगो मत्यज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोपयोगो विभङ्गज्ञानोपयोग इति । दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः । तद्यथा । चक्षुर्दर्शनोपयोगोऽचक्षुर्दर्शनोपयोगोऽवधिदर्शनोपयोगः केवलदर्शनोपयोग इति ॥

विशेषव्याख्या—वह उपयोग दो प्रकारका है । एक साकार और दूसरा अनाकार । अर्थात् पहिला ज्ञानोपयोगसाकार दूसरा दर्शनोपयोगअनाकार । और वह यथाक्रमसे अष्टभेद तथा चतुर्भेद है । उनमेसे ज्ञानोपयोगके आठ भेद है । जैसे,:—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्यायज्ञानोपयोग तथा केवलज्ञानोपयोग, मत्यज्ञानोपयोग, श्रुताज्ञानोपयोग, और विभङ्गज्ञानोपयोग, । यह अष्टविध ज्ञानोपयोग है । और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है । जैसे,:—चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, और केवलदर्शनोपयोग । यही द्विविध उपयोग है ॥ ९ ॥

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

सूत्रार्थः—संसारी तथा मुक्त भेदसे जीवके दो भेद है ।

भाष्यम्—ते जीवाः समासतो द्विविधा भवन्ति संसारिणो मुक्ताश्च । किं चान्यत्—

विशेषव्याख्या—जिस जीवका पूर्वमे उपयोग लक्षण कहा है, वह जीव संक्षेपसे दो प्रकारका है । एक तो **संसारी** जो अनेक प्रकारके जन्मधारणकरके संसारमें भ्रमण करते है, और दूसरे **मुक्त** जीव वे हैं, जिनका संसारसे सम्बन्ध छूट गया है, तथा जो आवागमनसे रहित हो गये है ॥ १० ॥

और भी,:—

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थः—जीवके समनस्क और अमनस्क ये दो भेद है ।

भाष्यम्—समासतस्ते एव जीवा द्विविधा भवन्ति समनस्काश्च अमनस्काश्च । तान्परस्ताद्वक्ष्यामः ॥

विशेषव्याख्या—समनस्क तथा अमनस्क, अर्थात् मनसहित और मनरहित ये दो भेद जीवके हैं । हम इनका अर्थात् समनस्क और अमनस्कोंका वर्णन पीछेसे करेंगे ।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थः—पुनः त्रस तथा स्थावर भेदसे संक्षेपमे संसारी जीव दो प्रकारके है ।

भाष्यम्—संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति त्रसाः स्थावराश्च । तत्र—

विशेषव्याख्या—संसारी जीव दो प्रकारके होते है, त्रस और स्थावर । उनमे,:—

पृथिव्यब्वनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थः—पृथिवी, जल और वनस्पति ये स्थावर जीव है ।

भाष्यम्—पृथिवीकायिका अप्कायिका वनस्पतिकायिका इत्येते त्रिविधाः स्थावरा जीवा

भवन्ति। तत्र पृथिवीकायोऽनेकविधः शुद्धपृथिवीशर्करावालुकादिः । अप्कायोऽनेकविधो हिमादिः। वनस्पतिकायोऽनेकविधः शैवालादिः ॥

विशेषव्याख्या—पृथिवीकायिक, अप् (जल) कायिक, तथा वनस्पतिकायिक ये त्रिविध जीव स्थावर संज्ञक है। इनमेसे पृथिवीकायिक अनेक प्रकार शुद्धपृथिवी, शर्करा, वालुकादि है। अप्कायिक जो हिम आदि है, सो अनेक प्रकारके है। और वनस्पति कायिक जो शैवाल आदि है वे भी अनेक प्रकार है॥ १३॥

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थः—तेजःकायिक, वायुकायिक, और द्वीन्द्रियादि त्रसजीव हैं।

भाष्यम्—तेजःकायिका अङ्गारादयः। वायुकायिका उत्कलिकादयः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया इत्येते त्रसा भवन्ति। संसारिणस्त्रसाः स्थावरा इत्युक्ते एतदुक्तं भवति मुक्ता नैव त्रसा नैव स्थावरा इति ॥

विशेषव्याख्या—तेजःकायिक अङ्गारादि, वायुकायिक उत्कलिकादि, तथा द्वीन्द्रियादि अर्थात् दो इन्द्रियवाले, तीन इन्द्रियवाले, चार इन्द्रियवाले और पांच इन्द्रियवाले; ये सब त्रस जीव कहे जाते हैं। **"संसारिणस्त्रसस्थावराः"** अर्थात् संसारीजीव त्रस तथा स्थावर हैं, ऐसा कहनेसे यह फलित हुआ कि मुक्तजीव न तो त्रस है, और न स्थावर हैं॥ १४॥

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—इन्द्रियां पांच है।

भाष्यम्—पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति। आरम्भो नियमार्थः षडादिप्रतिषेधार्थश्च । इन्द्रियं। इन्द्रलिङ्गमिन्द्रदिष्टमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिति वा। इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येष्वैश्वर्ययोगाद्विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात्। तस्य लिङ्गमिन्द्रियं लिङ्गनात्सूचनात्प्रदर्शनादुपष्टम्भनाद्व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम् ॥

विशेषव्याख्या—इस सूत्रका आरंभ नियमकेलिये है, अर्थात् इन्द्रियां पांच ही हैं, न कि छह अथवा चार, इस प्रकार नियम तथा षट् आदि संख्याका निषेध ये दो अर्थ सिद्ध हो गये। इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रका लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक व बोधक जो है वह इन्द्रिय है, इन्द्रदिष्टम् इन्द्रसे निज २ कार्योंमें आज्ञप्त जो है वे इन्द्रिय हैं, इन्द्रदृष्टम् अर्थात् इन्द्रसे अवलोकित, इन्द्रसृष्टम् इन्द्रसे सृष्ट, और इन्द्रजुष्टम् इन्द्रसे सेवित। इन्द्र जीवात्माको कहते है, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्योंमें इसका ऐश्वर्यका सम्बन्ध है, अथवा सब विषयोंमें ऐश्वर्यका सम्बन्ध है । जीवात्माके सूचनसे, उसके प्रदर्शनसे, उपष्टम्भ करनेसे अथवा व्यक्त करनेसे ये इन्द्रिय है॥ १५॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं।

भाष्यम्—द्विविधानीन्द्रियाणि भवन्ति । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि च ॥ तत्र—

विशेषव्याख्या—द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय इन दो भेदोंसे इन्द्रियां दो प्रकारकी है ॥ १६ ॥ उनमे,:—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

सूत्रार्थः—निर्वृत्तीन्द्रिय तथा उपकरणेन्द्रिय इस रीतिसे दो प्रकार द्रव्यं इन्द्रियके हैं ।

भाष्यम्—निर्वृत्तीन्द्रियमुपकरणेन्द्रियं च द्विविधं द्रव्येन्द्रियम् । निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनामनिर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि कर्मविशेषसंस्कृताः शरीरप्रदेशाः । निर्माणनामाङ्गोपाङ्गप्रत्यया मूलगुणनिर्वर्तनेत्यर्थः । उपकरणं बाह्यमभ्यन्तरं च । निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति ॥

विशेषव्याख्या—निर्वृत्ति तथा उपकरण ये दोनों मिलकर द्रव्येन्द्रिय है । यहां पर निर्वृत्ति शब्दका अर्थ रचना है, और वह रचना इस प्रकार है कि अङ्गोपाङ्गनाम कर्मके उदयसे इन्द्रियोंके अवयव होते है, और निर्माणकर्मके उदयसे शरीरके प्रदेशोंकी रचना होती है । इस रीतिसे अङ्गोपाङ्गनाम तथा निर्माणकर्म इन दोनों कर्मविशेषोंसे द्रव्येन्द्रियकी रचना होती है । द्रव्येन्द्रियोंकी रचना अङ्गोपाङ्ग तथा निर्माणकर्मके आधीन होती है । तात्पर्य यह कि नेत्र आदि इन्द्रियोंकी बाह्याभ्यन्तर रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । बाह्य तथा अभ्यन्तर भेदसे उपकरण दो प्रकारका है । यह उपकरण निर्वर्तित (रचित) इन्द्रियोंका अनुपघात और अनुग्रहसे उपकारी होता है । अर्थात् रचित अङ्गोंका किसी प्रकारसे उपघात नही होने दे वह बाह्य, और उनको निज२ कार्योंमें प्रवृत्त होनेमें जिसका अनुग्रह होता है, वह अभ्यन्तर उपकरण है । जैसे,:—आंखका बाह्य उपकरण अक्षि पलक आदि है, अभ्यन्तर आलोकादिका दोषरहित आगमन आदि । इस प्रकार उपकरण सहायक व उपकारी होता है ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थः—लब्धि तथा उपयोग ये दोनों भावेन्द्रिय है ।

भाष्यम्—लब्धिरुपयोगश्च भावेन्द्रियं भवति । लब्धिर्नाम गतिजात्यादिनामकर्मजनिता तदावरणीयकर्मक्षयोपशमजनिता चेन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्ता च जीवस्य भवति । सा पञ्चविधा । तद्यथा । स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः रसनेन्द्रियलब्धिः घ्राणेन्द्रियलब्धिः चक्षुरिन्द्रियलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरिति ॥

विशेषव्याख्या—लब्धि वह है, जो जीवके गति तथा जातिआदि कर्मोंसे तथा उनके अर्थात् गतिजात्यादिके आवरण करनेवाले जो कर्म हैं, उनके क्षयोपशमसे और इन्द्रियोंके आश्रयभूत कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हो । वह जीवकी लब्धि पांच प्रकारकी है; जैसे,:—स्पर्शनेन्द्रिय लब्धि १, रसनेन्द्रिय लब्धि २, घ्राणेन्द्रिय लब्धि ३, चक्षुरिन्द्रिय लब्धि ४, और श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि ५ ॥ १८ ॥

उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

सूत्रार्थः—स्पर्श, रसनादिमे उपयोग होता है।

भाष्यम्—स्पर्शादिषु मतिज्ञानोपयोग इत्यर्थः। उक्तमेतदुपयोगो लक्षणम्। उपयोगः प्रणिधानमायोगस्तद्भावः परिणाम इत्यर्थः॥ एषां च सत्यां निर्वृत्तावुपकरणोपयोगौ भवतः। सत्यां च लब्धौ निर्वृत्त्युपकरणोपयोगा भवन्ति। निर्वृत्त्यादीनामेकतराभावे विषयालोचनं न भवति।

विशेषव्याख्या—स्पर्शादि इन्द्रियोंके विषयमें मतिज्ञानका उपयोग होता है। और यह वार्ता तो पूर्व प्रसङ्गमें कह ही आये है, कि उपयोग जीवका लक्षण होता है। उपयोग, प्रणिधान, आयोग, सद्भाव तथा परिणाम ये सब प्रायः एकार्थवाचक हैं। निर्वृत्तिके उपयोग होने पर ही इनके उपकरण तथा उपयोग होते हैं। और लब्धिके होने-पर निर्वृत्ति, उपकरण, तथा उपयोग होते है। और निर्वृत्ति, उपकरण, तथा उपयोग इनमेसे किसी एकके न होने पर विषयका ज्ञान नही होता॥ १९॥

अत्राह। उक्तं भवता पञ्चेन्द्रियाणीति। तत्कानि तानीन्द्रियाणीत्युच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि आपने पांच इन्द्रियां तो कहीं, परन्तु वे पांच इन्द्रियां कौन२ है? इसलिये अग्रिमसूत्र कहते है—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥

सूत्रार्थः—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः तथा श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां हैं।

भाष्यम्—स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमित्येतानि पञ्चेन्द्रियाणि॥

विशेषव्याख्या—जिसके द्वारा स्पर्श होता है, अर्थात् जिससे शीतोष्ण तथा मृदु कठोर आदि स्पर्शका ज्ञान होता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है। ऐसे ही जिसके द्वारा मिष्ट तिक्त आदिका ज्ञान होता है, वह रसन इन्द्रिय है। जिसके द्वारा सुगन्ध दुर्गन्धादिका ज्ञान होता है, वह घ्राण (नासिका) इन्द्रिय है। जिसके द्वारा श्वेतपीतादि रूपका ज्ञान होता है, वह चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र) है। तथा जिसके द्वारा शब्दका ज्ञान होता है, वह श्रोत्र इन्द्रिय है॥ २०॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थः—स्पर्श, रस आदि पदार्थ स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके अर्थ (विषय) है।

भाष्यम्—एतेषामिन्द्रियाणामेते स्पर्शादयोऽर्था भवन्ति यथासङ्ख्यम्॥

विशेषव्याख्या—स्पर्शन इन्द्रियका अर्थ स्पर्श है, क्योंकि स्पर्शन इन्द्रियके सिवाय और किसी इन्द्रियके द्वारा स्पर्श पदार्थका ज्ञान नही होता। रसना इन्द्रियका अर्थ रस,

१ किसी २ के मतमें यह मूलसूत्र नहीं है, और कोई २ कहते हैं कि ये मूलसूत्र ही है भाष्य नहीं।

(मिष्ट, तिक्तादि) है । घ्राण इन्द्रियका विषय गन्ध है, चक्षुष् इन्द्रियका विषय वर्ण (श्वेतपीतादिरूप) है । और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द है ॥ २१ ॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

सूत्रार्थः—श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय अर्थात् मनका विषय है ।

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं द्विविधमनेकद्वादशविधं नोइन्द्रियस्यार्थः ।

विशेषव्याख्या—दो भेद, अनेक भेद, तथा द्वादशभेद जिस श्रुतज्ञानके कहे हैं, वह अनिन्द्रिय (नोइन्द्रिय) अर्थात् मनका विषय है ॥ २२ ॥

अत्राह । उक्तं भवता पृथिव्यब्वनस्पतितेजोवायवो द्वीन्द्रियादयश्च नव जीवनिकायाः । पञ्चेन्द्रियाणि चेति । तत्किं कस्येन्द्रियमिति । अत्रोच्यते ।

अब कहते है कि आपने पृथिवी, अप्, वनस्पति, तेज, वायु और द्वीन्द्रिय आदि अर्थात् पृथिवीसे लेकर वायु पर्यन्त पांच, और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय ये चार इस रीतिसे नव प्रकारके जीवनिकाय कहे और पंचेन्द्रिय भी कहा; सो इनमें किसके कौन २ इन्द्रिय हैं अर्थात्, किस जीवके कितनी और कौन २ इन्द्रियां होती है? इसलिये अग्रिमसूत्र कहते है ।

वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थः—पृथ्वीसे लेकर वायुपर्यन्त जीवोंके केवल एक ही इन्द्रिय है ।

भाष्यम्—पृथिव्यादीनां वाय्वन्तानां जीवनिकायानामेकमेवेन्द्रियं सूत्रक्रमप्रामाण्यात्प्रथमं स्पर्शनमेवेत्यर्थः ।

विशेषव्याख्या—पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति इन पांचों जीवसमूहोंको एक ही इन्द्रिय है; और वह भी सूत्रक्रमप्रामाण्यसे प्रथम अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें है ॥ २३ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २४ ॥

सूत्रार्थः—कृमि, पिपीलिका, भ्रमर तथा मनुष्यादि जीवोंके एक २ इन्द्रिय अधिक है।

भाष्यम्—कृम्यादीनां पिपीलिकादीनां भ्रमरादीनां मनुष्यादीनां च यथासङ्ख्यमेकैकवृद्धानीन्द्रियाणि भवन्ति । यथाक्रमं । तद्यथा । कृम्यादीनां अपादिक–नूपुरक–गण्डूपद–शङ्ख–शुक्तिका–शम्बूका-जलोका-प्रभृतीनामेकेन्द्रियेभ्यः पृथिव्यादिभ्य एकेन वृद्धे स्पर्शनरसनेन्द्रिये भवतः । ततोऽप्येकेन वृद्धानि पिपीलिका-रोहिणिका-उपचिका-कुन्थु-तुंबुरुक-त्रपुसबीज-कर्पासास्थिका–शतपद्युत्पतक-तृणपत्र-काष्ठहारकप्रभृतीनां त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणानि । ततोऽप्येकेन वृद्धानि भ्रमर-वटर-सारङ्ग-मक्षिका पुत्तिका-दंश-मशक-वृश्चिक-नन्द्यावर्त-कीट-पतङ्गादीनां चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि । शेषाणां च तिर्यग्योनिजानां मत्स्योरगभुजङ्ग-पक्षि-चतुष्पदानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानां पञ्चेन्द्रियाणीति ॥

विशेषव्याख्या—कृमि आदि अर्थात् कृमित्व जाति सहित जीवोंकी स्पर्शनसे अधिक एक रसन इन्द्रिय और है । जैसे अपादिक (पादरहित), नपुरक (कृमिविशेष), गण्डूपद (केंचुआ), शंख, शुक्तिका (सीपविशेष), शम्बूका (घोंघा), जलोका (जोंक) आदि कृमियोंके पृथिवी आदिसे एक इन्द्रिय अधिक है । अर्थात् इनको स्पर्शन और रसन ये दो इन्द्रियां है । और कृमिआदिसे भी एक अधिक पिपीलिका आदिके हैं । पिपीलिका आदि शब्दसे जैसे,:–रोहिणिका, उपचिका (दीमक), कुन्थु, तुंवुरुक, त्रिपुसबीज, कर्पासास्थिका, शतपद्युत्पतक, तृणपत्र, और काष्ठहारक आदि गृहीत हैं। इनके तीन अर्थात् स्पर्शन, रसन, और घ्राण इन्द्रिय है । और उन पिपीलिकादिसे भी भ्रमर, वटर, सारङ्ग, मक्षिका, पुत्तिका, दंश, मशक, वृश्चिक, नन्द्यावर्त, कीट और पतङ्गादिके एक अधिक अर्थात् चार इन्द्रिय स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा चक्षु हैं । और उनसे भी अधिक शेष तिर्य्यग्योनिवाले मत्स्य, भुजङ्ग, पक्षी, चतुष्पदपशु और नारक, मनुष्य तथा देव आदिके पांचों इन्द्रियां अर्थात् स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र होती हैं ॥ २४ ॥

अत्राह । उक्तं भवता द्विविधा जीवाः । समनस्का अमनस्काश्चेति । तत्र के समनस्का इति । अत्रोच्यते—

यहांपर कहते हैं, कि आपने समनस्क तथा अमनस्क भेदसे दो प्रकारके जीव कहे हैं, उनमेंसे समनस्क कौन हैं? यह बतलानेकेलिये अग्रिमसूत्र कहते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थः—संज्ञी जीव समनस्क हैं ।

भाष्यम्—संप्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का भवन्ति । सर्वे नारकदेवा गर्भव्युत्क्रान्तयश्च मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च केचित् ॥ ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका संप्रधारणसंज्ञा । तां प्रति संज्ञिनो विवक्षिताः । अन्यथा ह्याहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाभिः सर्व एव जीवाः संज्ञिन इति ॥

विशेषव्याख्या—संप्रधारणसंज्ञाके होनेपर जो संज्ञी जीव हैं, वे ही समनस्क हैं । अर्थात् संप्रधारणस्वरूप जो संज्ञा है उस संज्ञाके होनेसे जो संज्ञी (संज्ञा ज्ञान रखनेवाले) हैं, वे ही समनस्क अर्थात् मनसहित है । सम्पूर्ण नारक (नरकके जीव) देव, गर्भसे वहिर्गत मनुष्य, तथा कोई २ तिर्यग्योनिसे उत्पन्न जीव संज्ञी होनेसे समनस्क है । यहांपर ईहा तथा अपोहसे युक्त अर्थात् गहन वा गूढ विषयोंमें कल्पनाशक्तिसे युक्त गुण और दोषके विचारणस्वरूप जो ज्ञानरूपशक्तिविशेष है; वही संप्रधारण रूप संज्ञा है । उसी संज्ञाके प्रति यहां संज्ञीपदसे विवक्षित हैं । अन्यथा आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रहरूप संज्ञाओंसे सब ही जीव संज्ञी हो सक्ते है ॥ २५ ॥

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थः—विग्रहगतिमें कर्मयोग होता है।

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति। कर्मशरीरयोग इत्यर्थः। अन्यत्र तु यथोक्तः कायवाङ्मनोयोग इत्यर्थः॥

विशेषव्याख्या—विग्रह गतिमें प्राप्त जो जीव है, अर्थात् जीव जब एक शरीरसे अन्य शरीरकेलिये गतिमें समापन्न है, तब इसको कर्मकृत ही योग अर्थात् कार्माण शरीर ही योग होता है। और विग्रहगतिसे अन्यत्र तो काय, वाक् और मनका योग होता है॥ २६॥

अनुश्रेणि गतिः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थः—जीवोंकी गति श्रेणीके अनुसार होती है।

भाष्यम—सर्वा गतिर्जीवानां पुद्गलानां चाकाशप्रदेशानुश्रेणि भवति विश्रेणिर्न भवतीति गतिनियम इति।

विशेषव्याख्या—जीव तथा पुद्गलोंकी सम्पूर्ण गति आकाशप्रदेशकी श्रेणीके अनुसार ही होती है। श्रेणीके विरुद्ध नहीं होती। यह गतिका नियम है॥ २७॥

अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः—जीवकी अविग्रहगति होती है।

भाष्यम—सिध्यमानगतिर्जीवस्य नियतमविग्रहा भवतीति।

विशेषव्याख्या—जीवकी जो सिध्यमान गति है, वह नियमपूर्वक अविग्रह अर्थात् कुटिलता रहित होती है॥ २८॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थः—अन्य जातिमें संक्रमण करनेमें संसारी जीवकी गति चार समयके पहिले विग्रहवती तथा अविग्रहा भी होती है।

भाष्यम्—जात्यन्तरसंक्रान्तौ संसारिणो जीवस्य विग्रहवती चाविग्रहा च गतिर्भवति उपपातक्षेत्रवशात्। तिर्यगूर्ध्वमधश्च प्राक् चतुर्भ्य इति। येषां विग्रहवती तेषां विग्रहाः प्राक् चतुर्भ्यो भवन्ति। अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुःसमयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति। परतो न संभवन्ति। प्रतिघाताभावाद्विग्रहनिमित्ताभावाच्च। विग्रहो वक्रितं विग्रहोऽवग्रहः श्रेण्यन्तरसंक्रान्तिरित्यनर्थान्तरम्। पुद्गलानामप्येवमेव॥

विशेषव्याख्या—जिस समय संसारी जीव एक जातिके शरीरको त्यागकर अन्य जातिके शरीर आदिमें संक्रमण करने लगता है, उस समय चतुर्थ समयके पूर्व विग्रहवती गति होती ह। उपपात क्षेत्रके (जन्मस्थानके) वशसे तिर्यक् (तिरछा) उर्द्ध्व, तथा अधोभागमें गति

होती है। "प्राक् चतुर्भ्यः" इसका यह तात्पर्य है कि जिनकी विग्रहवती गति होती है, उनके विग्रहचतुर्थ समयके पूर्व ही होते हैं। अविग्रहा अर्थात् विग्रहशून्य, एकविग्रहा (एक विग्रहवाली) द्विविग्रहा (दो विग्रहवाली) तथा त्रिविग्रहा (तीन विग्रहवाली) ये सब 'चतुःसमयपरा' चार प्रकारकी जीवकी गति होती है। चतुर्थ समयके आगे विग्रहवती गति नहीं होती। इसके परे उस प्रकारकी गतिका संभव ही नही है। क्योंकि आगे प्रतिघातका अभाव है और विग्रहके निमित्तका भी अभाव है। यहांपर विग्रहका अर्थ वक्रित (टेढा) है। विग्रह, अवग्रह, श्रेण्यन्तरसंक्रान्ति अर्थात् सरलश्रेणीको त्यागके वक्रश्रेणीसे गमन- ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं । संसारी जीवोंके समान पुद्गलोंकी भी इसी प्रकारकी गति होती है ॥ २९ ॥

शरीरिणां च जीवानां विग्रहवती चाविग्रहवती च प्रयोगपरिणामवशात्। न तु तत्र विग्रहनियम इति ॥

शरीरधारी जीवोंकी विग्रहवती तथा अविग्रहा दोनों प्रकारकी गति प्रयोगके परिणामवशसे होती है; वहांपर विग्रहका नियम नहीं है, किन्तु प्रयोगके परिणामके आधीन है।

अत्राह। अथ विग्रहस्य किं परिमाणमिति। अत्रोच्यते । क्षेत्रतो भाज्यम्। कालतस्तु—

अब कहते है कि विग्रहका क्या परिणाम है? इसपर कहते हैं कि क्षेत्रकी अपेक्षासे भाज्य (प्राप्य) है। और कालसे तो—

एकसमयोऽविग्रहः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थः—विग्रहरहित गति एक ही समयमें होती है।

भाष्यम्—एकसमयोऽविग्रहो भवति। अविग्रहा गतिरालोकान्तादप्येकेन समयेन भवति। एकविग्रहा द्वाभ्याम्। द्विविग्रहा त्रिभिः। त्रिविग्रहा चतुर्भिरिति । अत्र भङ्गप्ररूपणा कार्येति ॥

विशेषव्याख्या—विग्रहशून्यगति लोकके अन्ततक एक ही समयमें होती है । और जिसमें एक विग्रह हो वह गति दो समयोंसे, जिसमे दो विग्रह हों वह तीन समयोंसे होती है, और जिसमें तीन विग्रह गति हों वह चार समयोंके द्वारा होती है। यहांपर भंगरूपसे निरूपण करना चाहिये। अर्थात् विग्रह रहित तो एक समयसे होती है, और एक आदि विग्रहवाली दो आदि समयोंसे, इत्यादि ॥ ३० ॥

एकं द्वौ वानाहारकः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थः—एक वा दो समयतक जीव अनाहारक रहता है।

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापन्नो जीव एकं वा समयं द्वौ वा समयावनाहारको भवति। शेषं कालमनुसमयमाहारयति। कथमेकं द्वौ वानाहारको न बहूनीत्यत्र भङ्गप्ररूपणा कार्या ॥

विशेषव्याख्या—विग्रह गतिमें संप्राप्त जो जीव है, वह एक अथवा दो समयतक

तो अनाहारक रहता है, और शेष कालमें प्रतिसमयमें आहारक होता है। यह अर्थ कैसे हुआ? ऐसी यदि शंका हो तो यहां भी "एक वा दो समयतक तो अनाहारक होता है न कि बहुत समय पर्यन्त" इस प्रकार भंगसे सूत्रार्थकी व्याख्या करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

अत्राह। एवमिदानीं भवक्षये जीवोऽविग्रहया विग्रहवत्या वा गत्या गतः कथं पुनर्जायत इति अत्रोच्यते। उपपातक्षेत्रं स्वकर्मवशात्प्राप्तः शरीरार्थं पुद्गलग्रहणं करोति। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्त इति। कायवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः। नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषादिति वक्ष्यामः। तज्जन्म। तच्च त्रिविधम्। तद्यथा—

अब यहांपर 'इस प्रकार जब इस समय एक भवका क्षय हो गया, तब अविग्रह वा विग्रहवती गतिसे यह जीव पुनः कैसे उत्पन्न होता है? इसका उत्तर कहते है। निज उत्पत्तिके क्षेत्रपर अपने कर्मोंके वशीभूत होकर जब यह जीव प्राप्त होता है, तब अपने शरीरके अर्थ पुद्गलोंको ग्रहण करता है। "कषाय सहित होनेसे कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको जीव ग्रहण करता है" काय, वाक्, मन तथा प्राण अपान ये सब जीवोके ऊपर पुद्गलोंके उपकार है। तथा नाम है कारण जिसको, ऐसा सर्वत्र योग विशेषसे सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाहमें स्थित आत्माके प्रदेशोंमें अनन्तानन्त है, इत्यादि आगे कहेंगे। यहां कर्मोंके योग्य शरीरकी रचनाकेलिये पुद्गलोंका ग्रहण करना जन्म है। वह जन्म तीन प्रकारका है। यथा;—

सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म ॥ ३२ ॥

सम्मूर्छनं गर्भ उपपात इत्येतत्त्रिविधं जन्म।

सूत्रार्थः—संमूर्छन, गर्भ, और उपपात ये तीन प्रकारके जन्म हैं ॥ ३२ ॥

सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थः—जीवोंके ये जो तीन प्रकारके जन्म कहे है, उनके सचित्त आदि, तथा सचित्तादिके विपक्षी अचित्त आदि, और मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त आदि एक २ योनि होती है।

संसारे जीवानामस्य त्रिविधस्य जन्मन एताः सचित्तादयः सप्रतिपक्षा मिश्राश्चैकशो योनयो भवन्ति। तद्यथा। सचित्ता अचित्ता सचित्ताचित्ता शीता उष्णा शीतोष्णा संवृत्ता विवृत्ता संवृत्तविवृत्ता इति। तत्र देवनारकानामचित्ता योनिः। गर्भजन्मनां मिश्रा। त्रिविधान्येषाम् ॥ गर्भजन्मनां देवानां च शीतोष्णा। तैजःकायस्योष्णा। त्रिविधान्येषाम् ॥ नारकैकेन्द्रियदेवानां संवृत्ता। गर्भजन्मनां मिश्रा। विवृत्तान्येषामिति ॥

विशेषव्याख्या—इस संसारमें जीवोंका जो त्रिविध जन्म अभी कहा है, उसके ये अर्थात् सचित्तादि, उनके विरोधी अचित्तादि, तथा मिश्र सचित्ताचित्तादि एक २ योनि होती है। जैसे; सचित्ता, अचित्ता और सचित्ताचित्ता, तथा शीता, उष्णा और शीतोष्णा, ऐसे ही

संवृत्ता, असंवृत्ता अथवा विवृत्ता, और मिश्र अर्थात् संवृत्तविवृत्ता। उनमें देव तथा नारकी जीवोंकी अचित्तायोनि होती है। गर्भसे जन्म होनेवालोंकी मिश्रा होती है। और इनसे जो शेप रहे, उनकी तीनों प्रकारकी योनि होती है। गर्भसे जन्मवाले जीवोंकी तथा देवोंकी शीतोष्णा है। तेजःकायिकवालोंकी उष्णा योनि है। और अन्य जो शेष है उनकी त्रिविध योनि है। नारकजीव, एकेन्द्रियजीव, तथा देव इनकी संवृत्ता योनि है। गर्भसे उत्पन्न होनेवालोंकी मिश्रा अर्थात्, संवृतविवृत्ता योनि है, और इनसे जो अन्य है उनकी विवृत्ता है॥ ३३॥

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः॥ ३४॥

सूत्रार्थः—जरायुज, अंडज और पोतज इनका गर्भरूप जन्म होता है।

भाष्यम्—जरायुजानां मनुष्य-गो-महिषाजाविकाश्व-खरोष्ट्र-मृग-चमर-वराह-गवय-सिंह-व्याघ्रर्क्ष-द्वीपि-श्व-शृगाल-मार्जारादीनाम्। अण्डजानां सर्प-गोधा-कृकलाश-गृहकोकिलिका-मत्स्य-कूर्म-नक्र-शिशुमारादीनां पक्षिणां च लोमपक्षाणां हंस-चाष-शुक-गृध्र-श्येन-पारावत-काक-मयूर-मद्गु-वक-वलाकादीनां। पोतजानां शल्लक-हस्ति-श्वाविल्लापक-शश-शारिका-नकुल-मूपिकादीनां पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जलूका-वल्गुलि-भारण्ड-पक्षिविरालादीनां गर्भो जन्मेति॥

विशेषव्याख्याः—जरायु अर्थात् मनुष्य, गो, महिष (भैस), अजा (वकरी), अविक (भेड़), अश्व (घोड़ा), खर (गधा), ऊंट, मृग, चमर, शूकर, गवय (नीलगाय), सिंह, व्याघ्र, भालू, गेंडा, कुत्ता, श्रगाल, और मार्जार (बिल्ली) आदि। अण्डज अर्थात्, सर्प, गोह, कृकलाश (गिर गिठान व छिपकली) गृहकोकिलिका, मत्स्य, कछुआ, मगर, घड़ियाल आदि जलचर। अनेक प्रकारके पक्षी, लोम पक्षवाले, हंस, नीलकण्ठ, गृध्र (गीध), श्येन (वाज), कबूतर, काक, मोर, टिट्टिम, बक, तथा बलाका आदि। तथा पोतज अर्थात् शाही (सेई), हाथी, श्वाविल्लापक, शश सारिका, नकुल, मूषिक, चर्मपक्षवाले पक्षी, जलूका, वल्गुली, तथा भारण्डपक्षी विडालआदिका भी गर्भ ही जन्म है॥ ३४॥

नारकदेवानामुपपातः॥ ३५॥

सूत्रार्थः—नारक तथा देवोंके उपपात जन्म है॥ ३५॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां चोपपातो जन्मेति।

शेषाणां सम्मूर्छनम्॥ ३६॥

सूत्रार्थः—जरायुज, अंडज, पोतज, नारक तथा देव इनके अतिरिक्त शेष जीवोंका सम्मूर्छन जन्म है।

भाष्यम्—जराय्वण्डपोतजनारकदेवेभ्यः शेपाणां सम्मूर्छनं जन्म। उभयावधारणं चात्र भवति। जरायुजादीनामेव गर्भः। गर्भ एव जरायुजादीनाम्। नारकदेवानामेवोपपातः। उपपात एव नारकदेवानाम्। शेपाणामेव सम्मूर्छनम्। सम्मूर्छनमेव शेषाणाम्॥

विशेषव्याख्या—इस सूत्रसे दो प्रकारके नियमोंका निश्चय होता है, एक तो यह कि जरायुज आदि जीवोंका ही गर्भ होता है, और दूसरा यह कि गर्भ ही जरायुज आदिका होता है। ऐसे ही नारक देवोंका ही उपपात होता है और उपपात ही नारक देवोंका होता है। तथा जरायुज आदिसे जो शेष रहें, उन्हींका संमूर्छन है अथवा सम्मूर्छन ही उनका होता है॥ ३६॥

औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि॥ ३७॥

सूत्रार्थः—औदारिक वैक्रियक आदि पांच प्रकारके शरीर होते हैं।

भाष्यम्—औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कार्मणमित्येतानि पञ्च शरीराणि संसारिणां जीवानां भवन्ति।

विशेषव्याख्या—संसारी जीवोंके औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, तथा कार्मण ये पांचप्रकारके शरीर होते है॥ ३७॥

तेषां परं परं सूक्ष्मम्॥ ३८॥

सूत्रार्थः—उनमेंसे आगे २ के सूक्ष्म होते हैं।

भाष्यम्—तेषामौदारिकादिशरीराणां परं परं सूक्ष्मं वेदितव्यम्। तद्यथा। औदारिकाद्वैक्रियं सूक्ष्मम्। वैक्रियादाहारकम्। आहारकात्तैजसम्। तैजसात्कार्मणमिति॥

विशेषव्याख्या—उन औदारिक आदि पांच शरीरोंमेसे परं परं अर्थात् आगे २ के पूर्व २ की अपेक्षासे सूक्ष्म जानना चाहिये। जैसे; औदारिककी अपेक्षासे वैक्रियक सूक्ष्म है, वैक्रियककी अपेक्षासे आहारक सूक्ष्म है, आहारकसे तैजस और तैजससे भी कार्मण सूक्ष्म है॥ ३८॥

प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं प्राक् तैजसात्॥ ३९॥

सूत्रार्थः—और उन औदारिक आदि शरीरोंमें प्रदेशोंकी अपेक्षासे तैजससे पूर्व २ के शरीर असङ्ख्येयगुणें हैं।

भाष्यम्—तेषां शरीराणां परं परमेव प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं भवति प्राक् तैजसात्। औदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असङ्ख्येयगुणाः। वैक्रियशरीरप्रदेशेभ्य आहारकशरीरप्रदेशा असङ्ख्येयगुणा इति॥

विशेषव्याख्या—उन पूर्वोक्त शरीरोंमें प्रदेशकी अपेक्षासे तैजसके पूर्वके तीन शरीर पर पर असंखेयगुणें है। जैसे औदारिक शरीरके प्रदेशोंकी अपेक्षासे वैक्रियक शरीरके प्रदेश असंखेयगुणें है। तथा वैक्रियक शरीरके प्रदेशोंकी अपेक्षासे आहारक शरीरके प्रदेश भी असंखेयगुणें है॥ ३९॥

अनन्तगुणे परे॥ ४०॥

सूत्रार्थः—आहारकसे परे जो दो शरीर है, वे पूर्व २ से अनन्तगुणें है।

भाष्यम्—परे द्वे शरीरे तैजसकार्मणे पूर्वतः पूर्वतः प्रदेशार्थतयानन्तगुणे भवतः । आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणम् । तैजसात्कार्मणमनन्तगुणमिति ।

विशेषव्याख्या—पूर्व तीन शरीरोंसे परे जो दो शरीर तैजस और कार्मण हैं, वे पूर्व २ प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनन्तगुणें प्रदेशवाले हैं । जैसे आहारकके प्रदेशोंकी अपेक्षासे तैजस शरीरके प्रदेश अनन्तगुणें हैं, और तैजस शरीरके प्रदेशोंकी अपेक्षासे कार्मण शरीरके प्रदेश अनन्तगुणें हैं ॥ ४० ॥

अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थः—और ये अन्तके दो शरीर अप्रतिघात हैं ।

भाष्यम्—एते द्वे शरीरे तैजसकार्मणे अन्यत्र लोकान्तात्सर्वत्राप्रतिघाते भवतः ।

विशेषव्याख्या—पूर्व सूत्रसे परेका सम्बन्ध इसमें भी आता है, इसलिये ये अन्तिम दो शरीर अप्रतिघात अर्थात् प्रतिघातशून्य है । तात्पर्य यह कि ये दो तैजस और कार्मण कहीं किसीसे नहीं रुकते, और न ये किसीको रोकते है । परन्तु यह व्यवस्था लोकान्त तक है अर्थात् लोकके अन्तपर्यन्त इनकी गति है, लोकान्तके आगे इनका प्रतिघात हो जाता है ॥ ४१ ॥

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थः—और इन दोनोंके साथ जीवका अनादि सम्बन्ध भी है ।

भाष्यम्—ताभ्यां तैजसकार्मणाभ्यामनादिसम्बन्धो जीवस्येत्यनादिसम्बन्ध इति ।

विशेषव्याख्या—तैजस तथा कार्माण शरीर जो हैं, उन दोनोंके साथ जीवका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है ॥ ४२ ॥

सर्वस्य ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थः—तैजस तथा कार्माण ये दो शरीर सम्पूर्ण संसारी जीवोंके होते हैं ।

भाष्यम्—सर्वस्य चैते तैजसकार्मणे शरीरे संसारिणो जीवस्य भवतः । एके त्वाचार्या नयवादापेक्षं व्याचक्षते । कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम् । तेनैवैकेन जीवस्यानादिः सम्बन्धो भवतीति । तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति । सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य कस्यचिदेव भवति । क्रोधप्रसादनिमित्तौ शापानुग्रहौ प्रति तेजोनिसर्गशीतरश्मिनिसर्गकरं तथा भ्राजिष्णुप्रभासमुदयच्छायानिर्वर्तकं तैजस शरीरेषु मणिज्वलनज्योतिष्कविमानवदिति ।

विशेषव्याख्या—सम्पूर्ण संसारी जीवमात्रका तेजस तथा कार्मण शरीरसे अनादि सम्बन्ध है । यह सूत्रका अर्थ है, किन्तु कोई २ आचार्य नयवादकी अपेक्षासे व्याख्यान करते हैं । वे कहते है, कि एक कार्मणका ही अनादि सम्बन्ध है । वही एक शरीर ऐसा है. जिसके साथ जीवका अनादि सम्बन्ध है । और तैजस शरीर तो लब्धिकी अपेक्षा रखता है और वह किसीको ही होता है । क्योंकि तैजसलब्धि जीवमात्रको नहीं होती किसी २ को होती है । तथा क्रोध और प्रसादके (प्रसन्नताके) कारण जो शाप और

अनुग्रह हैं, उनके प्रति अर्थात् उनकेलिये तेजका उत्पत्तिस्थान और चन्द्रमाके स्वभावका सम्पादक तथा अति दैदीप्यमान सूर्यकी उदय होती हुई प्रभाकी छायाका उत्पादक शरीरोंमें यह तैजस ऐसे है, जैसे मणियोंसे दैदीप्यमान ज्योतिष्क विमान ॥ ४३ ॥

तदादीनि[1] भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽचतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थः—उन दोनोंको आदिलेके एक कालमें एक जीवके चार शरीर पर्यन्त प्राप्य हैं ।

भाष्यम्—ते आदिनी एषामिति तदादीनि । तैजसकार्मणे यावत्संसारभाविनी आदि कृत्वा शेषाणि युगपदेकस्य जीवस्य भाजान्याचतुर्भ्यः । तद्यथा । तैजसकार्मणे वा स्याताम् । तैजसकार्मणौदारिकाणि वा स्युः । तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा स्युः । तैजसकार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः । तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः ॥ कार्मणमेव वा स्यात् । कार्मणौदारिके वा स्याताम् । कार्मणवैक्रिये वा स्याताम् । कार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः । कार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः । कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः । कार्मणतैजसौदारिकाहारकाणि वा स्युः । न तु कदाचिद्युगपत्पञ्च भवन्ति । नापि वैक्रियाहारके युगपद्भवतः स्वामिविशेषादिति वक्ष्यते ॥

विशेषव्याख्या—तैजस तथा कर्माण जिनकी आदिमें हैं, ऐसे शेष शरीर एक कालमें एक जीवके चार तक भाज्य (विकल्प अथवा प्राप्य) है । तैजस और कार्माण तो संसारी मात्र सब जीवोंमें होनेवाले हैं, उन्हीको आदि लेकर एक कालमें एक जीवको चार शरीरपर्यन्त विकल्पनीय हैं । जैसे जिसके दो ही शरीरकी योग्यता है, उसके तैजस और कार्माण हो सक्ते है । जिसको तीन हो सक्ते है, उसके तैजस कार्मण और औदारिक हो सक्ते हैं, अथवा तैजस, कार्मण, और वैक्रियक हो सक्ते हैं । और चारकी योग्यतामें तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रियक हो सक्ते है, अथवा तैजस, कार्मण औदारिक और आहारक हो सक्ते है । अथवा तैजसके अनादि सम्बन्धताके खंडन पक्षमें एक ही शरीर जब अनादि सम्बन्ध है, तब केवल कार्मण ही एक हो सक्ता है । दो

---

१ 'तदादीनि भाज्यानि, इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए भाष्यकारने 'ते आदिनी एषाम्, ऐसा समासका विग्रह किया है । इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व प्रसंगसे प्रस्तुत जो तैजस और कार्मण हैं, वे 'के ते आदिनी, इस द्विवचनान्त पदसे यहा विविक्षित हैं, अतएव उन्हीको मेढीभूत करके "तैजसकार्मणे यावत्ससारभाविनी,, ऐसा विवरण किया है । अतएव उन दोनोंको आदिलेके चार शरीरतक एक कालमें एक जीवको विकल्पनीय हैं, और ऊपर कहे हुए पाच विकल्प करना जब तैजस अनादिसम्बन्ध रूपसे एक आचार्यके मतमें खण्डन किया है, तब तो एक जीवको एक कालमें तीन ही हो सक्ते हैं, और 'ते' द्विवचनान्त विग्रहसे आचार्यका यह अभिप्राय है कि आश्रयरूपसे तैजस है, अथवा 'तत् कार्मण आदि एषा तानि तदादीनि, ऐसी व्याख्या करना और सात विकल्प करना ।

की सत्तामें कार्मण और औदारिक हो सक्के है, अथवा कार्मण और वैक्रियक हो सक्के हैं। तथा तीनकी योग्यतामें कार्मण, औदारिक, और वैक्रियक हो सक्के है वा कार्मण, औदारिक और आहारक हो सक्के है। और चारकी योग्यतामें कार्मण, तैजस, औदारिक और वैक्रियक हो सक्के है, अथवा कार्मण, तैजस, औदारिक और आहारक हो सक्के हैं। परन्तु कदाचित् भी एक कालमें एक ही जीवके पांचों शरीर नहीं होते। और वैक्रियक तथा आहारक भी एक कालमें नहीं होते। क्योंकि वैक्रियक तथा आहारकके स्वामीमें विशेष (भेद) है। यह विषय हम आगे कहेंगे ॥ ४४ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थः—अन्तका जो शरीर है, वह उपभोगसे रहित है।

भाष्यम्—अन्त्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्कार्मणमाह। तन्निरुपभोगम्। न सुखदुःखे तेनोपभुज्येते न तेन कर्म बध्यते न वेद्यते नापि निर्जीर्यत इत्यर्थः ॥ शेषाणि तु सोपभोगानि। यस्मात्सुखदुःखे तैरुपभुज्येते कर्म बध्यते वेद्यते निर्जीर्यते च तस्मात्सोपभोगानीति।

विशेषव्याख्या—यहांपर 'अन्त्य, शब्दसे "औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि" इस सूत्रके प्रामाण्यसे सबके अन्तमें होनेवाले कार्मण शरीरको आचार्य कहते हैं। इस हेतुसे वह कार्मण शरीर निरुपभोग है, अर्थात उपभोगसे वर्जित है; उसके द्वारा सुख अथवा दुःखका उपभोग नहीं होता। कर्मोंका बन्धन भी कार्मण शरीरसे नहीं होता, कर्मका ज्ञान भी उससे नहीं होता, कर्मोंकी जीर्णता भी उससे नहीं होती। और कार्मणको छोड़के शेष जो औदारिक आदि चार शरीर हैं, वे उपभोगसहित है, क्योंकि उनके द्वारा सुख तथा दुःखका उपभोग होता है। कर्मोंका बन्धन होता है, कर्मोंका लाभ वा ज्ञान होता है, तथा कर्मोंकी जीर्णता भी होती है, अर्थात् कर्मोंकी निर्जरा भी शेष शरीरोंसे होती है। इस हेतुसे वे आदिके चार शरीर उपभोग सहित है ॥ ४५ ॥

अत्राह। एषां पञ्चानामपि शरीराणां सम्मूर्छनादिषु त्रिषु जन्मसु किं क जायत इति। अत्रोच्यते।

अब यहांपर कहते हैं कि इन औदारिक आदि पांचों शरीरोंमेंसे संमूर्छन गर्भ तथा उपपात ये जो तीन प्रकारके जन्म कहे हैं, उनमें कौन शरीर कहां अर्थात् किस प्रकारके जन्मसे उत्पन्न होता है? यहां कहते हैं:—

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थः—आदिका शरीर गर्भ तथा सम्मूर्छन रूप जन्मसे उत्पन्न होता है।

भाष्यम्—आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादौदारिकमाह। तद्गर्भे सम्मूर्छने वा जायते।

विशेषव्याख्या—यहां भी सूत्रक्रमके प्रामाण्यसे 'आद्य, शब्दसे आदिमें होनेवाले

औदारिक शरीरको आचार्य कहते है, वह आद्य औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्छनरूप जन्ममें उत्पन्न होता है ॥ ४६ ॥

वैक्रियमौपपातिकम् ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थः—वैक्रियक शरीर उपपातरूप जन्ममें उत्पन्न होता है ।

भाष्यम्—वैक्रियशरीरमौपपातिकं भवति । नारकाणां देवानां चेति ।

विशेषव्याख्या—वैक्रियक शरीर उपपात जो जन्मका तीसरा प्रकार है, उसमें उत्पन्न होता है । और उपपातरूप जन्ममें वैक्रियक शरीर नारक जीव तथा देवोंका होता है । क्योंकि उपपात जन्म नारकी तथा देवोंका होता है, यह पूर्वमें कह चुके है ॥ ४७ ॥

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थः—और वैक्रियक शरीर लब्धि प्रत्यय भी है ।

भाष्यम्—लब्धिप्रत्ययं च वैक्रियशरीरं भवति । तिर्यग्योनीनां मनुष्याणां चेति ।

विशेषव्याख्या—वैक्रियक शरीर उपपात स्वरूप जन्मसे होता है, और वह वैक्रियक लब्धि प्रत्यय भी है अर्थात् उसके उत्पन्न होनेमें लब्धि कारण है । और वह लब्धि वैक्रियक, तिर्यग्योनिज तथा मनुष्योंको होती है ॥ ४८ ॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थः—तथा आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और अव्याघाति होता है, और वह चतुर्दशपूर्वके धारियोंके ही होता है ।

भाष्यम्—शुभमिति शुभद्रव्योपचितं शुभपरिणामं चेत्यर्थः । विशुद्धमिति विशुद्धद्रव्योपचितमसावद्यं चेत्यर्थः । अव्याघातीति आहारकं शरीरं न व्याहन्ति न व्याहन्यते चेत्यर्थः । तच्चतुर्दशपूर्वधर एव कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छ्रेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिगमार्थे क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हतः पादमूलमौदारिकेण शरीरेणाशक्यगमनं मत्वा लब्धिप्रत्ययमेवोत्पादयति दृष्ट्वा भगवन्तं छिन्नसंशयः पुनरागत्य व्युत्सृजत्यन्तर्मुहूर्तस्य ॥

विशेषव्याख्या—आहारक शरीर शुभ है, अर्थात् शुभ द्रव्यसे वृद्धिको प्राप्त होता है, शुभ द्रव्यका परिणाम है । तथा विशुद्ध है, विशुद्ध द्रव्यसे वृद्धिको प्राप्त होता है, अर्थात् दोष निन्दा आदिसे रहित है । और यह आहारक शरीर अव्याघाति है, अर्थात् न यह किसीका व्याघात करता है और न इसका कोई व्याघात कर सक्ता है । और यह आहारक चतुर्दशपूर्वधरोंमें ही होता है । जब कोई चतुर्दशपूर्वधर क्लिष्ट तथा सूक्ष्म विषयके सन्देहमें प्राप्त होता है, उस समय उस सूक्ष्म पदार्थके निश्चयकेलिये अन्यक्षेत्रमें निवास करनेवाले भगवत अर्हत्के चरणकमलोंके निकट औदारिक शरीरसे गमन अशक्य है, ऐसा मानकर लब्धिप्रत्यय शरीरको उत्पन्न करता है, अनन्तर भगवान्को देखकर सन्देहरहित होनेसे पुनः निज आश्रममें आकर अन्तर्मुहूर्तमें उस शरीरको त्याग देता है ॥ ४९ ॥

तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति ॥

तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय अर्थात् लब्धि[1]रूप कारणसे होता है।

कार्मणमेषां निवन्धमाश्रयो भवति । तत्कर्मत एव भवतीति वन्धे परस्ताद्वक्ष्यति । कर्म हि कार्मणस्य कारणमन्येषां च शरीराणामादित्यप्रकाशवत् ॥ यथादित्यः स्वमात्मानं प्रकाशयत्यन्यानि च द्रव्याणि न चास्यान्यः प्रकाशकः । एवं कार्मणमात्मनश्च कारणमन्येषां च शरीराणामिति ॥

कार्मण इन शरीरोंका निबन्ध अर्थात् आश्रय होता है, वह कार्मण कर्मसे ही होता है, ऐसा बन्धके विषयमें आगे कहेंगे। कर्म जो है वह कार्मणका तथा अन्य शरीरोंका भी सूर्यके प्रकाशके सदृश कारण है। जैसे सूर्य अपना भी प्रकाश करता है और अन्य द्रव्योंका भी। किन्तु सूर्यका प्रकाशक कोई नहीं है।

अत्राह। औदारिकमित्येतदादीनां शरीरसंज्ञानां कः पदार्थ इति । अत्रोच्यते। उद्गतारमुदारम् । उत्कटारमुदारम्। उद्गम एव वोदारम् । उपादानात्प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति वर्धते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्युदारम्। उदारमेवौदारिकम्। नैवमन्यानि ॥ यथोद्गमं वा निरतिशेषं ग्राह्यं छेद्यं भेद्यं दाह्यं हार्यमित्युदारणादौदारिकम् । नैवमन्यानि ॥ उदारमिति च स्थूलनाम। स्थूलमुद्गतं पुष्टं बृहन्महदित्युदारमेवौदारिकम्। नैवं शेषाणि। तेषां हि परं परं सूक्ष्ममित्युक्तम् ॥

यहां कहते है। औदारिक आदि जो पांचों शरीर है, उनमें औदारिक आदि संज्ञाओंका शब्दार्थ क्या है? इस प्रश्नका उत्तर कहते है कि जो उद्गतार है अथवा जो उत्कटार है, वही उदार है, अर्थात् जो उत्पन्न होकर शीघ्र वृद्धिको प्राप्त हो। अथवा उद्गम (उत्पत्ति) ही उदार है, अर्थात् जो उपादानकारणसे आरंभ करके प्रतिसमय (कालके अल्पतम भागमें) उद्गमन करता है, वढता है, जीर्ण होता है, विशीर्ण होता है और परिणामको प्राप्त होता है, वह उदार है और उदारको ही औदारिक कहते है । अन्य वैक्रियक आदि वर्धन, जीरण, तथा शीरण परिणमन आदिस्वभाववाले नहीं है। अथवा जैसे; उद्गमके अनुसार विदारण आदि भी निरतिशेष ग्रहण करना चाहिये। जैसे; छेद्य, भेद्य, दाह्य तथा हार्य भी यह है; इस हेतुसे उदारण व विदारण शील होनेसे यह औदारिक है। अर्थात् यह शरीर छेदन, भेदन, दहन, आदिके योग्य होनेसे औदारिक है, उस तरह अन्य शरीर नहीं है। और उदार यह स्थूलका भी नाम है, इसलिये स्थूल, उद्गत, पुष्ट, बृहत्, तथा महान् यह सब उदारके ही अर्थको कहते हैं, इस हेतुसे ये सब औदारिक है। क्योंकि जो उदार है वही औदारिक है। इस प्रकार स्थूल, पुष्ट, तथा बृहत्, (वड़ा) आदि अन्य शरीरोंमें नहीं घटते; क्योंकि अन्य शरीरोंके विषयमें तो "परं परं सूक्ष्मम्" आगे २ के एक दूसरेसे सूक्ष्म है, ऐसा पूर्व प्रसंगमें कहा है।

---

१ तपोविशेषसे ऋद्धियोंका प्राप्त होना लब्धि है।

वैक्रियमिति । विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरणमित्यनर्थान्तरम् । विविधं क्रियते । एकं भूत्वानेकं भवति । अनेकं भूत्वा एकं भवति । अणु भूत्वा महद्भवति । महच्च भूत्वाणु भवति । एकाकृति भूत्वानेकाकृति भवति । अनेकाकृति भूत्वा एकाकृति भवति । दृश्यं भूत्वादृश्यं भवति । अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति । भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति । खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति । प्रतिघाति भूत्वाप्रतिघाति भवति । अप्रतिघाति भूत्वा प्रतिघाति भवति । युगपच्चैतान् भावाननुभवति । नैवं शेषाणीति । विक्रियायां भवति विक्रियायां जायते विक्रियायां निर्वर्त्यते विक्रियैव वा वैक्रियम् ॥

वैक्रियक— विक्रिया, विकार, विकृति तथा विकरण ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं । जो विविध प्रकारसे किया जावे वह वैक्रियक है । जैसे; एक होके अनेक हो, अनेक होके एक हो । अणु (अतिसूक्ष्म) होके महान् हो, महान होके अणु हो । एक आकारका होकर अनेकाकार हो, अनेकाकारका होकर एकाकार हो । दृश्य होकर अदृश्य हो, अदृश्य होकर दृश्यरूप हो । थलचर (पृथ्वीपर चलनेवाला) होकर नभचर (आकाशगामी) हो, नभचर होकर थलचर हो । प्रतिघाति (दूसरेसे रुकनेवाला वा दूसरेको रोकनेवाला) होकर अप्रतिघाति हो, तथा अप्रतिघाति होकर प्रतिघाति हो । एक कालमें जो पूर्वोक्त एक, अनेक, अणु तथा महदादि भावोंको अनुभवन करै वह वैक्रियक है । इस प्रकारके शेष शरीर नहीं है, अर्थात् वे विविध और परस्पर विरोधी आकारोंको नहीं धारण कर सक्ते । जो विक्रिया अर्थात् विकारमें हो, जो विक्रियामें उत्पन्न हो, तथा जो विक्रियामें सिद्ध किया जावे, वह वैक्रियक है । अथवा विक्रिया अर्थात् विकार ही वैक्रियक है ।

आहारकम् । आह्रियत इति आहार्यम् । आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थिति । नैवं शेषाणि ॥

आहारक—आहारक शरीर वह है, जो कि अल्पकालकेलिये प्राप्त किया जावे वा लाया जावे । इसकी व्युत्पत्ति यह है:,—"आह्रियते इति आहार्यम्" अर्थात् आहार्य्य किंचित् कालकेलिये जो लभ्य वा स्थापनीय, वही आहारक । उस आहारककी स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त है । अन्य शरीर ऐसी अल्प स्थितिवाले नही है ।

तेजसो विकारस्तैजसं तेजोमयं तेजःस्वतत्त्वं शापानुग्रहप्रयोजनम् । नैवं शेषाणि ।

तैजस—तेजका जो विकार है वह तैजस शरीर है, अथवा जो तेजोमय तेजःपूर्ण वा तेजोरूप ही है वह तैजस है । शाप अनुग्रहरूप प्रयोजन तैजसका वास्तविक निजतत्त्व है । और अन्य शरीरोंमें यह शाप तथा अनुग्रह करनेका सामर्थ्य नहीं है, इस हेतुसे तैजस उनसे भिन्न है ।

कर्मणो विकारः कर्मात्मकं कर्ममयमिति कार्मणम् । नैवं शेषाणि ॥

कार्मण—जो कर्मका विकार है, कर्मस्वरूप है, वा कर्ममय है; वह कार्मण शरीर

है। इस प्रकार अन्य शरीर नहीं है, अर्थात् कर्मके विकारादि नहीं है, इस कारण अन्यसे इसमें विशेषता है।

एभ्य एव चार्थविशेषेभ्यः शरीराणां नानात्वं सिद्धम्। किं चान्यत्। कारणतो विषयतः स्वामितः प्रयोजनतः प्रमाणतः प्रदेशसङ्ख्यातोऽवगाहनतः स्थितितोऽल्पबहुत्वत इत्येतेभ्यश्च नवभ्यो विशेषेभ्यः शरीराणां नानात्वं सिद्धमिति[2]।

इन पूर्वोक्त विशेष अर्थोंसे शरीरोंका नानात्व अर्थात् अनेकविधत्व वा अनेकप्रकारत्व सिद्ध हो गया। किंच और यह भी है कि कारणसे, विषयसे, स्वामीसे, प्रयोजनसे, प्रमाणसे, प्रदेशकी संख्याओंसे, अवगाहनसे, स्थितिसे तथा अल्पबहुत्वसे भी शरीरोंका नानात्व सिद्ध हुआ। तात्पर्य्य यह है कि कारण, विषय और स्वामी नव विशेष अर्थ है, जिनसे शरीरोंका नानात्व अनेकत्व सिद्ध होता है।

---

१ इस रीतिसे औदारिक आदि शरीरोंको अन्वर्थसंज्ञक कहके उदार ही औदारिक है, उत्कटार उदार है, इत्यादि अन्वर्थ नाना संज्ञाओंको प्रतिपादन करके अब लक्षण भेदसे एक ही प्रयत्नसे साध्य शरीरोंके नानात्वका उपदेश करते हैं। इन्हीं पूर्वोक्त अर्थविशेषोंसे शरीरोंका नानात्व अनेक प्रकारत्व इसका तात्पर्य यह है, कि उदार विक्रिया तथा आहार्य्य आदि जो विशेष अर्थ हैं, उनके लक्षणों तथा स्वरूपोंके भेदसे शरीरोंका नानात्व सिद्ध हुआ।

२ **किंचान्यत्** इसका तात्पर्य यह हैं कि केवल अन्वर्थकी संख्याओंसे ही शरीरोंका भेद नहीं है, किन्तु संख्या आदिसे अन्य भी अतिरिक्त हेतुओंसे भी विशेष है। वे हेतु कारण आदि हैं; उनमें प्रथम **कारण** है। जैसे औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलोंसे रचित मूर्ति है, और वैक्रियक आदि इसप्रकार स्थूल पुद्गलरूप कारणसे नहीं बने हैं, इसलिये औदारिकमें **कारणकृत** अन्य शरीरोंसे विशेषता है। क्योंकि "पर २ सूक्ष्म हैं" ऐसा वचन है। तथा **विषयकृत** भेद विद्याधरोंके औदारिक शरीरोकेप्रति नन्दीश्वर द्वीपपर्यन्त औदारिक शरीरका विषय है, और जङ्घाचारण (ऋद्धि विशेष)के प्रति रुचकवर पर्वतपर्यन्त तिर्यग् लोकमें विषय है, ऊर्ध्व पाण्डुक वनपर्यन्त है। वैक्रियक शरीरका विषय असंखेय द्वीपसमुद्र पर्यन्त है। आहारकका विषय महाविदेह क्षेत्रपर्यन्त है। और तैजस तथा कार्मणका विषय सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है। **स्वामीके द्वारा** भी विशेष है। जैसे औदारिक शरीरके स्वामी तो तिर्यग्योनिवाले जीव तथा मनुष्य है। वैक्रियकके देव नारक तथा कोई २ तिर्यक् और मनुष्य भी है। आहारकके स्वामी चौदहपूर्वके धारक संयत मनुष्य हैं। और तैजस कार्मणके समस्त संसारी जीव स्वामी हैं। **प्रयोजनकृत** भी भेद हैं। जैसे आहारक शरीरके धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और केवलज्ञानकी प्राप्ति आदि प्रयोजन है। वैक्रियकके स्थूल, सूक्ष्म, एकत्व, अनेकत्व और आकाश, तथा भूमि जलादिमें गमन आदि लक्षणरूप अनेक ऐश्वर्यकी प्राप्ति प्रयोजन है। और आहारकके सूक्ष्म, व्यवहित देश वा कालके व्यवधानमें रहनेवाले पदार्थ और अति गूढ पदार्थोंका ज्ञान प्रयोजन है। तैजसका आहारकका परिपाक तथा शाप देने और अनुग्रह करनेका सामर्थ्य प्रयोजन है। और कार्मणका जन्मान्तरमें गति परिणाम प्रयोजन है। **प्रमाणकृत** विशेष है। जैसे कुछ अधिक एक महस्र योजन औदारिकका प्रमाण है। वैक्रियक शरीरका एक लक्ष योजन प्रमाण है। व रत्नि (बद्धमुष्टिहस्त) मात्र आहारकका प्रमाण है। तथा लोकके विस्तार प्रमाण तैजस और कार्माण हैं। तथा **प्रदेशसंख्याकृत** भी भेद है, जैसे तैजस शरीरके पूर्व औदारिक आदिसे पर २ प्रदेशकी अपेक्षा उत्तर २ के असंख्यात गुणे प्रदेश हैं, यह विषय पूर्व प्रसङ्गमें कहा है। और **अवगाहनाकृत** भी भेद है, जैसे कुछ अधिक एक महस्र योजन पर्यन्त असंख्येय प्रदेशोंमें औदारिक शरीरका भलीभांति अवगाहन (प्रवेश

अत्राह । आसु चतसृषु संसारगतिषु को लिङ्गनियम इति । अत्रोच्यते । जीवस्यौदयिकेषु भावेषु व्याख्यायमानेषूक्तम् । त्रिविधमेव लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं पुंलिङ्गं नपुसकलिङ्गमिति ॥ तथा चारित्रमोहे नोकषायवेदनीये त्रिविध एव वेदो वक्ष्यते । स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेद इति ॥ तस्मात्रिविधमेव लिङ्गमिति ॥ तत्र —

अब यहां कहते हैं कि संसारकी मनुष्यादि चार गतियोंमें लिङ्गका क्या नियम है ? इसका उत्तर कहते है । औदायिक आदि जीवोंके भावोंकी व्याख्यामें कहा है कि स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग भेदसे लिंगके तीन ही भेद है । और चारित्रमोहनीय नो कषायोंके विषयमें भी तीन ही प्रकारका वेद कहेंगे । जैसे स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंकवेद । इन कारणोंसे लिग तीन ही प्रकार है । उसमे—

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

सूत्रार्थः—नारकी जीव ओर संमूर्छन जीव नपुंसक ही होते है ।

भाष्यम्—नारकाश्च सर्वे सम्मूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवन्ति । न स्त्रियो न पुमांसः । तेषां हि चारित्रमोहनीयनोकषायवेदनीयाश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुंसकवेदनीयमेवैकमशुभगतिनामापेक्षं पूर्वबद्धनिकाचितमुदयप्राप्तं भवति नेतरे इति ॥

विशेषव्याख्या—नारक गतिवाले सब जीव और संमूर्छन जन्मवाले नपुंसक ही होते

वा पैठ) है । उन प्रदेशोंसे बहुत अधिक असंखेय प्रदेशमें एक लक्ष योजनपर्यन्त वैक्रियकका अवगाहन है । और औदारिक तथा वैक्रियकसे बहुत न्यून एक हस्तमात्र ही आहारकका अवगाहन है । तथा तैजस और कार्मीण लोकान्तमे विस्तृत आकाश श्रेणिपर्यन्त अवगाहन है । तथा **स्थितिकृत** भी विशेष है । जेसे औदारिककी जघन्य अर्थात् सवसे न्यूनस्थिति अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है, और उत्कर्ष अर्थात् अधिकसे अधिक ३३ सागर पर्यन्त स्थिति है । तथा अभव्यके सम्वन्धसे तैजस और कार्माणकी प्रवाहके अनुरोधसे अनादि अनन्तकाल स्थिति है । और भव्यके सम्वन्धसे अनादि सान्त है । तथा **अल्पवहुत्वकृत** भी भेद है । जैसे यदि होनेको सभव हो तो आहारक सवसे न्यून होता है, और कदाचित् नहीं भी सभव होता । इसका कारण क्या है? उसका जघन्य अन्तर अर्थात् विरहकाल एक समय है, और यदि सभव हो तो अधिकसे अधिक छह मास है, इसकारण एकसे आदि लेकर उत्कर्षसे नव सहस्र समय पर्यन्त एक कालमें आहारक शरीरवालोंका उसका अन्तर है । तथा आहारक शरीरसे वैक्रियक शरीर देव नारकियोंके असंखेय होनेसे असख्येय उत्सर्पिणीके समयोंकी राशिके समान सख्यायुक्त असख्येय गुण होते है । तथा वैक्रियक शरीरकी अपेक्षासे औदारिक शरीर असंखेय गुण होते हैं, और वे तिर्यक् शरीर और मनुष्योंके असंख्येय होनेसे असख्येय उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके समयोंकी राशिके समान संख्यावाले असख्यात होते हैं । कदाचित् ऐसा कहो कि तिर्यक् तो अनन्त है, तो अनन्तता होनेपर असख्येय कैसे हो सके है ? उत्तर कहते हैं कि प्रत्येक शरीर तो असखेय है और साधारण शरीर अनन्त हैं, और उनके अनन्तोंका एक शरीर है, इस हेतुसे असंख्येय हैं । अनन्तोंका प्रत्येक शरीर नहीं है, इस कारण असंख्येय कथन योग्य ही है । औदारिक शरीरोकी अपेक्षा तैजस कार्मण अनन्त है, क्योंकि वे सव संसारी जीवोंमें प्रत्येकके होते हैं, इस हेतुसे अनन्त हैं । ऐसा नहीं है कि वहुत जीवोंका एक तैजस वा कार्मण होता है । इस रीतिगे कारण आदि नव विशेषोंसे शरीरोका नानात्व घटपटादि पदार्थोंके समान निश्चय करना चाहिये ।

है, वे न तो स्त्री होते हैं, और न पुरुष होते हैं। क्योंकि उनका चारित्रमोहनीय नोकषाय वेदनीय कर्मोके आश्रयभूत तीन वेदोंमेसे अशुभगति नामके सापेक्ष और पूर्वनिबद्ध संचित उदयको प्राप्त नपुंसक वेदनीय ही कर्म होता है, न कि अन्य ॥ ५० ॥

न देवाः ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थः—देव नपुंसक नही होते।

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया अपि नपुंसकानि न भवन्ति। स्त्रियः पुमांसश्च भवन्ति। तेषां हि शुभगतिनामापेक्षे स्त्रीपुंवेदनीये पूर्वबद्धनिकाचिते उदयप्राप्ते द्वे एव भवतो नेतरत्। पारिशेष्याच्च गम्यते जराय्वण्डपोतजास्त्रिविधा भवन्ति स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति ॥

विशेषव्याख्या—चारों निकायवाले देव नपुंसक नहीं होते, स्त्री और पुरुष ही होते हैं। क्योंकि उनके शुभगतिनामकर्म सापेक्ष पूर्व जन्ममें निबद्ध संचितकर्म उदयको प्राप्त स्त्री वेदनीय, तथा पुंवेदनीय ये दो ही होते है, न कि अन्य नपुंसक। और नारक संमूर्च्छन वालोंका नपुंसक, देवोंका स्त्री तथा पुंवेदनीय होनेसे शेष अर्थात् जरायुज अण्डज, तथा पोतज जीवोंके त्रिविध वेद वा लिंग होते है, अर्थात् इनमें स्त्री पुरुष और नपुंसक तीनों होते हैं ॥ ५१ ॥

अत्राह। चतुर्गतावपि संसारे किं व्यवस्थिता स्थितिरायुष उताकालमृत्युरप्यस्तीति। अत्रोच्यते। द्विविधान्यायूंषि। अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च। अनपवर्तनीयानि पुनर्द्विविधानि। सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च। अपवर्तनीयानि तु नियतं सोपक्रमाणीति ॥ तत्र—

अब यहांपर कहते हैं कि संसारमें चारों गतियोंमें आयुष् (उमर) की स्थिति व्यवस्थित है, नहीं है अथवा अकाल मृत्यु है? अर्थात् नियतकाल ही आयुष् है अथवा अकाल मृत्यु भी है? इस पर उत्तर कहते है, कि आयु दो प्रकारकी होती हैं एक अपवर्तनीय अर्थात् जिनका न्यूनाधिक भाव हो सके, और दूसरे अनपवर्तनीय अर्थात् जिनके नियतकालकी स्थितिमें कुछ अपवर्तन(न्यूनीकरण वा खंडनादि) न हो सके। पुनः अनपवर्तनीय, सोपक्रम तथा निरुपक्रम भेदसे दो प्रकार हैं। और अपवर्त्तनीय तो उपक्रमसहित ही सदा होती है। उनमें—

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थः—औपपातिक अर्थात् उपपात रूप जन्मसे उत्पन्न होनेवाले अन्तिम देहवाले उत्तम पुरुष, तथा असंख्येय वर्ष आयुष्वाले, ये सब अनपवर्त्य आयुष्वाले होते हैं।

भाष्यम्—औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तमपुरुषा असङ्ख्येयवर्षायुष इत्येतेऽनपवर्त्यायुषो भवन्ति। तत्रौपपातिका नारकदेवाश्चेत्युक्तम्। चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति नान्ये। चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थः। ये तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति। उत्तमपुरुषास्तीर्थंकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिनः। असङ्ख्येयवर्षायुषो मनुष्याः तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति। सदेवकुरूत्तरकुरुषु सान्तर-

द्वीपकास्वकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायामित्यसङ्ख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति । अत्रैव बाह्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु तिर्यग्योनिजा असङ्ख्येयवर्षायुषो भवन्ति । औपपातिकाश्चासङ्ख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमाः । चरमदेहाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चेति । एभ्य औपपातिकचरमदेहासङ्ख्येयवर्षायुर्भ्यः शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति । तत्र येऽपवर्त्यायुषस्तेषां विषशस्त्रकण्टकाग्न्युदकाह्यशिताजीर्णाशनिप्रपातोद्बन्धनश्वापदवज्रनिर्घातादिभिः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैरायुरपवर्त्यते । अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः । उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम् ॥

विशेषव्याख्या—औपपातिक, अर्थात् उपपात संज्ञक जन्ममे उत्पन्न होनेवाले, चरमदेह अर्थात् अन्तिम शरीरवाले, उत्तमपुरुष और असंख्येय वर्ष आयुष्वाले, ये चारों अनपवर्त्य (अपवर्तन न करने योग्य) आयुष्वाले होते है, इनमें देव तथा नारक औपपातिक हैं, यह कह चुके हैं । और चरम देहवाले मनुष्य ही होते हैं; अन्य नहीं। जिस शरीरसे सिद्ध होते अर्थात् मोक्षरूपी सिद्धिको प्राप्त करते हैं वह चरम देह है । तीर्थंकर चक्रवर्त्ती, अर्द्धचक्री आदि उत्तम पुरुष है । तथा असंखेयवर्ष आयुष्वाले मनुष्य तथा तिर्यंच होते हैं । देवकुरु उत्तरकुरुओंमें और अन्तरद्वीपवाली अकर्म भूमियोंमें, तथा सुषमसुषमा, सुषमा और सुषमदुःषमाकालमें कर्मभूमियोंमें भी असंख्येयवर्ष आयुष्वाले मनुष्य होते है। और इसी काल तथा इन्ही देशोंमें बाह्यसमुद्र तथा द्वीपोंमें तिर्यग्योनिज जीव भी असंख्येय वर्ष आयुवाले होते है। औपपातिक तथा असंख्येयवर्ष आयुष्वाले उपक्रम रहित होते हैं । और चरम देहवाले उपक्रम सहित तथा उपक्रम रहित भी होते है। और इन औपपातिक, चरमदेह, और असंखेयवर्ष आयुष्वालोंसे शेष मनुष्य तथा तिर्यग्योनिज जो उपक्रमसहित तथा उपक्रमरहित है, वे अपवर्त्य आयुषवाले और अनपवर्त्य आयुष्वाले भी होते हैं । उनमें जो अपवर्त्य आयुष्वाले है, उनकी विष, शस्त्र, कंटक, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्ण भोजन, वज्रपात, शूली, हिंसक जीव और वज्रादिके अभिघात आदिसे तथा द्वन्दसे आरंभ होनेवाले क्षुत्, पिपासा, और शीतोष्णादिसे भी आयुष् अपवर्तित (न्यून) होती है । अपवर्तनका, अर्थ है शीघ्र अन्तर्मुहूर्तकालमें ही कर्मोंके फलोंका उपभोग । और उपक्रमका अर्थ है, अपवर्तनका निमित्त ॥ ५२ ॥

---

१ उत्तम पुरुषसे यहा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेव तथा वासुदेव आदिका ग्रहण है । कोई कहते हैं, कि सूत्रमें उत्तम पुरुषका ग्रहण नहीं है, तो तीर्थंकरादिका ग्रहण कैसे होगा? इसपर कहते हैं, कि चरमदेह ग्रहणसे तीर्थंकरादिका ग्रहण होगा । क्योंकि चरमशरीरी उत्तम पुरुष अवश्य होते हैं और उत्तम पुरुषोंको चरमदेह प्राप्य है । इस हेतुसे उत्तम पुरुष ग्रहण अनार्ष है । दोनों प्रकारके भाष्य हैं । अनिन्दित होनेसे प्रथम उत्तम पुरुष ग्रहण किया और तीर्थंकरादि उसका विवरण किया और पुनः उत्तर कालमें उत्तम पुरुषका ग्रहण किया, परन्तु निरुपक्रम सोपक्रम कथनसे यह सन्देह भाष्यसे होता है, अतएव उसी भाष्यकारके श्रावकप्रज्ञप्तिमें उत्तम पुरुष ग्रहण किया है, यहा भी यही समझना चाहिये । २ उपद्रव ।

अत्राह । यद्यपवर्तते कर्म तस्मात्कृतनाशः प्रसज्यते यस्मान्न वेद्यते । अथास्त्यायुष्कं कर्म म्रियते च तस्मादकृताभ्यागमः प्रसज्यते । येन सत्यायुष्के म्रियते च ततश्चायुष्कस्य कर्मण आफल्यं प्रसज्यते । अनिष्टं चैतत् । एकभवस्थिति चायुष्कं कर्म न जात्यन्तरानुवन्धि तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति ॥ अत्रोच्यते । कृतनाशाकृताभ्यागमाफल्यानि कर्मणो न विद्यन्ते । नाप्यायुष्कस्य जात्यन्तरानुवन्धः । किं तु यथोक्तैरुपक्रमैरभिहतस्य सर्वसन्दोहेनोदयप्राप्तमायुष्कं कर्म शीघ्रं पच्यते तदपवर्तनमित्युच्यते । संहतशुष्कतृणराशिदहनवत् । यथा हि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति तद्वत् । यथा वा सङ्ख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च सङ्ख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ॥ किं चान्यत् । यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते तस्मिन्प्रभूतस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद्यथोक्तनिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति । न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

यहां कहते है कि यदि बद्ध आयुष्कर्म अपवर्तित अर्थात् न्यून वा नष्ट हो जाता है; तब तो कृतका नाश प्राप्त हुआ । क्योंकि उस कर्म अनुभव नहीं होता; और यदि यह कहो कि आयुष्नाम कर्म तो रहता है और जीव मर जाता है, तो अकृतका अभ्यागम प्राप्त हुआ । अर्थात् आयुष् कर्मके नष्ट होनेपर तो कृत (किये हुएका) नाश प्राप्त हुआ; और आयुष् कर्मके रहते ही मृत्यु होनेपर अकृत (नहीं कियेका) अभ्यागम (आगमन) रूप दोष प्राप्त हुआ; और ऐसा होना अनिष्ट है । आयुष्कर्म केवल एक ही जन्मपर्यन्त स्थिर रहता है, वह जन्मान्तरके साथ अनुगामी नहीं हैं । इस हेतुसे आयुष्कर्मका अपवर्तन नही होता । अब यहांपर कहते है कि कृतनाश, अकृतका आगमन और फलका अभाव ये कोई भी कर्मके नही होते । और न बद्ध आयुष्कर्म अन्यजन्मका सम्बन्धी होता है । किन्तु पूर्वोक्त अपवर्तनके निमित्तभूत विषशस्त्रादि उपक्रमों अर्थात् आरंभोंसे अभिहत (ताडित) जो जीव है उसके सर्व सन्दोहसे अर्थात् समूहरूपने उदयको प्राप्त जो आयुष्कर्म है; उसका शीघ्र ही परिपाक होता है । यही शीघ्र परिपाक आयुष्कर्मका अपवर्त्तन कहा जाता है । और यह शीघ्र परिपाक ऐसे होता है, जैसे घनीभूत शुष्क तृणराशिका अग्निसे दहन । यदि मिले हुए भी शुष्क तृणकी राशिके यहां एक २ अवयव जलें, तो चिरकालमें दाह होता है, परन्तु शिथिलता पूर्वक

इधर उधर विखरे हुए और पवनके झकोरोंसे अभिहत एक कालमें अग्निकी ज्वालासे प्रदीप्त उसी तृणराशिका शीघ्र दाह होता है । अथवा जैसे गणितविद्याका आचार्य क्रियाकी लघुताके अर्थ गुणन तथा भागकी क्रियाओंसे किसी गणनीय पदार्थकी राशिको खण्डआदिके द्वारा शीघ्र अपवर्तन (न्यून) करता है, परन्तु उससे संख्येय पदार्थका अभाव नही होता; इसी प्रकार विष, शस्त्र आदि उपक्रमोंसे अभिहत और मृत्युके समुद्धातजन्य दुःखोंसे पीडित जीव कर्मनिमित्तक आभोगके अभावके योगपूर्वक किसी करणविशेषको उत्पन्न करके फलके उपभोगके लाघवार्थ कर्मका अपवर्तन करता है; किन्तु इससे इसको फलका अभाव नहीं होता, अर्थात् विषादिपीड़ाजन्य दुःखोंसे शीघ्र ही उसके आयुष्कर्मका परिपाक हो गया, इससे इसने फलको पा लिया । और यह भी है; जैसे धुला हुआ जलसे आर्द्र (गीला) कपडा यदि तह लगाके वा संकुचित करके गृहमें स्थापित कर दो तो चिरकालमें शुष्क होगा; परन्तु उसी वस्त्रको यदि फैलाके खुले मैदानमें डाल दो, तो सूर्यकी किरण तथा वायुसे ताडित होकर शीघ्र ही शुष्क हो जावेगा । और उस वस्त्रके मिले रहनेपर कुछ अधिक जल नही निकलता और न वह फैलानेसे असम्पूर्ण शुष्क होता, किन्तु दोनों दशाओंमें समान ही जल जाता है, केवल चिरकाल और शीघ्र काल मात्रका भेद है। ऐसे ही यथोक्त विष, शस्त्रादि निमित्त भूत अपवर्तनोंसे शीघ्र ही फलोंका उपभोग हो जाता है । इससे आयुष्कर्मका अपवर्त्तन होनेमें न तो कृतका प्रणाश (कृतकर्मका नाश) है, और न अकृतका आगमन और फलाभाव ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे आचार्योपाधिधारिठाकुरप्रसादशर्मविरचित-भाषाटीकासमलङ्कृतः द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह । उक्तं भवता । नारका इति गतिं प्रतीत्य जीवस्यौदयिको भावः । तथा जन्मसु नारकदेवानामुपपातः । वक्ष्यति च । स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु । आस्रवेषु बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुष इति ॥ तत्र के नारका नाम क चेति । अत्रोच्यते । नरकेषु भवा नारकाः । तत्र नरकप्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते—

अब यहां कहते हैं कि हे भगवन्! आपने औदयिकभावके भेदोंकी गतिमें नरकादि चार भेद विवक्षामें नारकोंको कहा है, तथा जन्मोंके विषयमे देव और नारकोंका उपपात रूप जन्म होता है, यह कहा है । और स्थितिके विषयमें नारक जीवोंकी स्थिति द्वितीय आदि भूमियोंमें आगे कहेंगे । और आस्रव प्रकरणमें भी कहेंगे, कि बहुत आरम्भ तथा परिग्रह नारकायुष् कर्म बांधता है । इत्यादि अनेक स्थलोंमें नारकोंका

प्रतिपादन किया है। इसलिये कृपाकरके कहिये कि नारक कौन हैं? और उनका निवास कहां है? अब इसपर कहते हैं कि जो नरकमें हों उनको नारक कहते हैं। उसमें नरककी प्रसिद्धिके अर्थ यह सूत्र कहते हैं—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥

सूत्रार्थः—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा ये सप्त पृथिवी अधो २ भागमें घनवात, अम्बुवात, तनुवात तथा आकाश प्रतिष्ठित हैं।

भाष्यम्—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इत्येता भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा भवन्त्येकैकशः सप्त अधोऽधः। रत्नप्रभाया अधः शर्कराप्रभा। शर्कराप्रभाया अधो वालुकाप्रभा। इत्येवं शेषाः। अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते यथा प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः पृथिव्याः। वातास्तु घनास्तनवश्चेति। तदेवं खरपृथिवी पङ्कप्रतिष्ठा पङ्को घनोदधिवलयप्रतिष्ठो घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं ततो महातमोभूतमाकाशम्। सर्वं चैतत्पृथिव्यादि तनुवातवलयान्तमाकाशप्रतिष्ठम्। आकाशं त्वात्मप्रतिष्ठम्। उक्तमवगाहनमाकाशस्येति। तदनेन क्रमेण लोकानुभावसंनिविष्टा असङ्ख्येययोजनकोटीकोट्यो विस्तृताः सप्त भूमयो रत्नप्रभाद्याः ॥

विशेषव्याख्या—'प्रभाभूमि' शब्द द्वन्द्व समासके अन्तमें होनेसे उसका शर्कराआदि सबके साथ सम्बध है। जैसे; रत्नप्रभाभूमि, शर्कराप्रभाभूमि वालुकाप्रभाभूमि इत्यादि। ये रत्नप्रभा आदि भूमियां एक एकके अधोभागमें हैं और घनवात, अम्बुवात, तथा आकाश प्रतिष्ठित अर्थात् घनवात, अम्बुवात तनुवात तथा आकाशके आधारपर हैं। सातों अधो अधो भागमें है। जैसे प्रथम रत्नप्रभाभूमि है, रत्नप्रभाके अधोभागमे वालुकाप्रभा है, उसके अधो भागमें पङ्कप्रभा है, पङ्कप्रभाके अधोभागमे धूमप्रभा है, धूमप्रभाके अधोभागमे तमःप्रभा और तमःप्रभाके नीचे महातमःप्रभा है। ये सब घनाम्बुवात आकाश प्रतिष्ठ है। अब यहां कहते है, कि **'अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः,'** ऐसे ही सूत्रसे कार्यसिद्ध होता था; पुनः 'घन' ग्रहण क्यों किया? तो घन ग्रहणसे यह निश्चय होता है कि पृथिवीके अधोभागमे घन ही अम्बु है। और वायु तो घन भी है और तनु (सूक्ष्म) भी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि खर (शुष्क) पृथिवी तो पङ्क (कीचड) पर प्रतिष्ठित है और पङ्क घनोदधिवलय प्रतिष्ठ है। घनोदधिवलय घनवातवलय प्रतिष्ठ (आधार) है और घनवातवलय तनुवात (सूक्ष्मवायु) प्रतिष्ठ है, और तनुवातवलयके पश्चात् महातमोभूत (अन्धकारपूर्ण) आकाश है। यह सब खर पृथिवी आदिसे लेकर तनुवातवलय पर्यन्त आकाश प्रतिष्ठ है; अर्थात् पृथिवी आदि सब आकाशके आधारपर है। और

आकाश आत्मप्रतिष्ठ है, अर्थात् आकाशका आधार आकाश ही है । क्योंकि ऐसा कहा भी है—"अवगाहन देना आकाशका उपकार है" अर्थात् सब द्रव्योंको रहनेका स्थान देना यह आकाशका सबपर उपकार है । सो पूर्वोक्त क्रमसे लोकके अनुभावसे संनिविष्ट (क्रमसे स्थित) असंख्येययोजन कोटि कोटि विस्तृत रत्नप्रभा आदि सप्त भूमि है ।

सप्तग्रहणं नियमार्थं रत्नप्रभाद्या माभूवन्नेकशो ह्यनियतसङ्ख्या इति । किं चान्यत् । अधः सप्तैवेत्यवधार्यते । ऊर्ध्वं त्वेकैवेति वक्ष्यते । अपि च तन्त्रान्तरीया असङ्ख्येयेषु लोकधातुष्वसङ्ख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः । तत्प्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति ॥

"रत्नप्रभा"-इत्यादि सूत्रमें जो 'सप्त' ग्रहण है वह नियमार्थक है; अर्थात् रत्नप्रभा आदिभूमि अनियत संख्यावालीं अनेक नहीं है, और दूसरी बात यह भी है कि अधोभागमें सात ही पृथिवी हैं और ऊपर एक ही है, ऐसा आगे कहेंगे । और अन्यतंत्रके अनुयायी अर्थात् अन्यमतावलम्बियोंने ऐसा निश्चय किया है कि, असंख्येय लोकधातुओंमें असंख्येय पृथिवी प्रस्तार भी स्थित है, उसके निषेध करनेकेलिये भी सूत्रमें 'सप्त' ग्रहण है ।

सर्वाश्चैता अधोऽधः पृथुतराः छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः । धर्मा वंशा शैलाञ्जनारिष्टा माधव्या माधवीति चासां नामधेयानि यथासङ्ख्यमेवं भवन्ति । रत्नप्रभा घनभावेनाशीतं योजनशतसहस्रं शेषा द्वात्रिंशदष्टाविंशतिविंशत्यष्टादशषोडशाष्टाधिकमिति । सर्वे घनोदधयो विंशतियोजनसहस्राणि । घनवाततनुवातास्त्वसङ्ख्येयानि अधोऽधस्तु घनतरा विशेषेणेति ॥

और ये सब पृथिवी अधो अधो भागमें पृथुतर है अर्थात् छत्र अतिच्छत्रवत् अधिक २ विशाल होती गई है । तथा धर्मा १, वंशा २, शैला ३, अंजना ४, अरिष्टा ५, माधव्या ६, और माधवी ७ ये इनके यथासंख्य नाम है । रत्नप्रभा पृथिवी घनभावसे तो अस्सीलाख योजन है और शेष पृथिवी क्रमसे बत्तीस, अट्ठाईस, वीस, अठारह, सोलह, और कुछ अधिक आठलाख योजन घनभावसे है । सब घनोदधि वीस योजन सहस्र हैं । और घनवात तथा तनुवात तो असंख्येय योजन है; और अधो अधोभागमें विशेषरूपसे घनतर हैं ॥ १ ॥

तासु नरकाः ॥ २ ॥

सूत्रार्थः—उन रत्नप्रभादि भूमियोंमें नरक हैं ।

भाष्यम्—तासु रत्नप्रभाद्यासु भूपूर्ध्वमधश्चैकशो योजनसहस्रमेकैकं वर्जयित्वा मध्ये नरका भवन्ति । तद्यथा । उष्ट्रिकापिष्टपचनीलोहीकरकेन्द्रजानुकाजन्तोकायस्कुम्भायःकोष्ठादिसंस्थाना वज्रतलाः सीमन्तकोपक्रान्ता रौरवोच्युतो रौद्रो हाहारवो घातनः शोचनस्तापनः क्रन्दनो विलपनश्छेदनो भेदनः खटाखटः कालपिञ्जर इत्येवमाद्या अशुभनामानः कालमहाकालरौरवमहारौरवाप्रतिष्ठानपर्यन्ताः । रत्नप्रभायां नरकाणां प्रस्तारास्त्रयोदश । द्विद्व्यूनाः शेषासु ॥ रत्नप्रभायां नरकवासानां त्रिंशच्छतसहस्राणि । शेषासु पञ्चविंशतिः

पञ्चदश दश त्रीण्येकं पञ्चोनं नरकशतसहस्रमित्याषष्ठ्याः। सप्तम्यां तु पञ्चैव महानरका इति ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वोक्त रत्नप्रभादि भूमियोंमें ऊपर और नीचे एकशः सहस्र २ योजन छोड़के मध्य २ में नरक हैं। जैसे; उष्ट्रिका, पिष्टपचनी, लोहीकर, केन्द्रजानुका, जन्तोक, आयस्कुम्भ, तथा अयःकोष्ठादि यंत्रोंके आकारसे रचित, वज्रतलवाले, सीमन्तक नाम नरक पर्यन्त रौरव, अच्युत, रौद्र, हाहारव, घातन, शोचन (शोधन वा पाचन) तापन, क्रन्दन, विलपन, छेदन, भेदन, खटाखट, और कालपिंजर इत्यादि अशुभ नामवाले काल, महाकाल, रौरव, तथा महारौरव अप्रतिष्ठान पर्यन्त हैं। रत्नप्रभा भूमिमें नरकोंके त्रयोदश अर्थात् तेरह प्रस्तार हैं। और शेष छै भूमियोंमें दो २ प्रस्तार कम होते गये हैं; अर्थात् शर्करा प्रभामें ग्यारह प्रस्तार, वालुका प्रभामें नौ, पङ्कप्रभामें सात, धूमप्रभामें पांच, तमःप्रभामें तीन, और महातमःप्रभामें एक ही प्रस्तार है। पुनः इनमेंसे रत्नप्रभाभूमिमें नरकके निवासस्थान तीस लाख है। और शेषमें पच्चीस, पन्द्रह, दश, तीन, पांचकम एक लाख, इस प्रकार छट्ठी भूमिपर्यन्त हैं, और सप्तमीमें केवल पांच ही नरकके आवास हैं। तात्पर्य यह है, कि रत्नप्रभामें तीसलाख नरकावास हैं, शर्कराप्रभामें पच्चीस लाख, वालुकाप्रभामें पन्द्रहलाख, पंकप्रभामें दशलाख, धूमप्रभामें तीनलाख, और तमप्रभामें पांचकम एकलाख (९९९९५) और सातवीं महातमःप्रभामें केवल पांच ही हैं। सब मिलकर चौरासी लाख हैं ॥ २ ॥

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थः—वे नरकावास अधो अधो भागमें नित्य ही अधिक अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देहोंकी पीडा, और अशुभतर विक्रियायुक्त होते हैं।

भाष्यम्—ते नरका भूमिक्रमेणाधोऽधो निर्माणतोऽशुभतराः। अशुभा रत्नप्रभायां ततोऽशुभतराः शर्कराप्रभायां ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम्। इत्येवमासप्तम्याः ॥

विशेषव्याख्या—वे नरकभूमि क्रमसे अधो अधो भागमें निर्म्माणकी रीतिसे अशुभतर हैं। तात्पर्य यह कि रत्नप्रभामें नरक अशुभ हैं, उससे अशुभतर शर्कराप्रभामें हैं, उससे भी अशुभतर वालुकाप्रभामें हैं, और उससे भी अशुभतर पङ्कप्रभामें हैं। इसीप्रकार और आगे सप्तमी अर्थात् महातमःप्रभातक जानने चाहिये।

नित्यग्रहणं गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गकर्मनियमादेते लेश्यादयो भावा नरकगतौ नरकपञ्चेन्द्रियजातौ च नैरन्तर्येणाभवक्षयोद्वर्तनाद्भवन्ति न कदाचिदक्षिनिमेषमात्रमपि न भवन्ति शुभा वा भवन्त्यतो नित्या इत्युच्यन्ते ॥

"नित्याशुभतरलेश्या—" इत्यादि ऊपरके सूत्रमें 'नित्य' ग्रहण इस कारण है, कि गति (नरकगति), जाति (नारकी), शरीर (नारकशरीर), और अङ्गोपाङ्ग कर्मोंके नियमसे

ये लेश्या आदि भाव नरकगतिमें तथा नरकके पंचेन्द्रियजातमें उस भवके क्षय पर्यन्त उद्वर्तनसे निरन्तर होते है, एक निमेषमात्रकेलिये भी उनका अभाव नही होता । और न वे कदाचित् शुभ होते है; इसी हेतुसे उनको नित्य कहते है ।

अशुभतरलेश्याः । कापोतलेश्या रत्नप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोता शर्कराप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोतनीला वालुकाप्रभायाम् । ततस्तीव्रतर-संक्लेशाध्यवसाना नीला पङ्कप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीलकृष्णा धूमप्रभा-याम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णा तमःप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमःप्रभायामिति ॥

अशुभतरलेश्या—जैसे रत्नप्रभामे कापोतलेश्या होती है, और उससे भी अति तीव्र क्लेश परिणामवाली कापोता शर्करा प्रभामें होती है । उससे भी तीव्रतर क्लेश परिणामवाली कापोतनीलालेश्या वालुकाप्रभामें होती है । उससे भी अति तीव्र क्लेश देनेवाली नीला-लेश्या पङ्कप्रभामें होती है । उससे भी अति तीव्र क्लेश देनेवाली नीलकृष्णालेश्या धूमप्रभामें होती है । उससेभी अति तीव्र क्लेश देनेवाली कृष्णालेश्या तमःप्रभामें होती है; और स-बसे अधिक क्लेशजनिका कृष्णालेश्या ही महातमःप्रभामें होती है ।

अशुभतरपरिणामः । बन्धनगतिसंस्थानभेदवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुशब्दाख्यो दशवि-धोऽशुभः पुद्गलपरिणामो नरकेषु । अशुभतरश्चाधोऽधः । तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोऽनन्तेन भ-यानकेन नित्योत्तमकेन तमसा नित्यान्धकाराः श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतोमलरुधिरवसामेदपूया-नुलेपनतलाः श्मशानमिव पूतिमांसकेशास्थिचर्मदन्तनखास्तीर्णभूमयः । श्वशृगालमार्जार-नकुलसर्पमूषकहस्त्यश्वगोमानुषशवकोष्ठाशुभतरगन्धाः । हा मातर्धिगहो कष्टं वत मुञ्च ताव-द्धावत प्रसीद भर्तर्मा वधीः कृपणकमित्यनुबद्धरुदितैस्तीव्रकरुणैर्दीनविक्लवैर्विलापैरार्तस्व-नैर्निनादैर्दीनकृपणकरुणैर्याचितैर्वाष्पसंनिरुद्धैर्निस्तनितैर्गाढवेदनैः कूजितैः सन्तापोष्णैश्च नि-श्वासैरनुपरतभयस्वनाः ॥

अशुभतरपरिणाम—बन्धन, गति, संस्थान (रचनाविशेष) भेद, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु और शब्द नामक दश प्रकारके अशुभ पुद्गल परिणाम नरकोंमें है । ये परिणाम नरककी भूमियोंके अधो २ भागोंमें अधिक २ अशुभतर हैं । तिरछे नीचे, ऊपर, और चारों ओरसे अनन्त, भयानक, नित्य तथा उत्तम अर्थात् प्रथम श्रेणीके अन्धकारसे निरन्तर अन्धकारमय, श्लेष्म (नाक तथा मुखसे गिरनेवाला कफ) मूत्र, तथा विष्टाओंके श्रोतसे अर्थात् प्रवाहसे, तथा मल, रुधिर, चर्वी तथा पीवसे लिप्त तल सहित, और स्मशानभूमिके समान अति दुर्गन्धयुक्त सड़ेमांस, केश, अस्थि (हड्डियां) चर्म, दांत और नखोंसे ढकी हुई नरककी भूमियां हैं । तथा कुत्ते, शृगाल (गीदड), मार्जार (बिल्ली), नकुल (नेवला) सर्प, मूषक, हाथी, घोडे, गौ और मनुष्य इनके मृतकोंसे पूर्ण अतएव अशुभतर गन्धयुक्त वे नरक

स्थान है । तथा हा मातः! धिक्कार है (मुझे)! अहो अतिकष्ट है! खेद है! मुझे छोड़ दो! दोड़ो प्रसन्न होकर मुझे छुड़ा दो! हे स्वामिन्! मुझ दीनको न मारो!! निरन्तर इस प्रकार रोदनोंसे, अति तीव्र करुणाजनक दीन आकुल भावोंसे, महाविलापोंसे, आर्तस्वरयुक्त शब्दोंसे, दीन कृपण और करुणाजनक याचनाओंसे, आँसुओंसे सन्निरुद्ध गर्जनाओंसे, महावेदनाओंसे कूजित शब्दोंसे, तथा सन्तापोंसे अति उष्ण श्वासोच्छ्वासोंसे, और निरन्तर भययुक्त शब्दोंसे पूर्ण वे नरक भूमि हैं[1] ।

अशुभतरदेहाः । देहाः शरीराणि । अशुभनामप्रत्ययादशुभान्यङ्गोपाङ्गनिर्माणसंस्थानस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि । हुण्डानि निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि दुःखभाञ्ज्यशुचीनि च तेषु शरीराणि भवन्ति । अतोऽशुभतराणि चाधोऽधः । सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलमिति शरीरोच्छ्रायो नारकाणां रत्नप्रभायाम् । द्विर्द्विः शेषासु । स्थितिवच्चोत्कृष्टजघन्यता वेदितव्या ॥

अशुभतरदेह—देह अर्थात् शरीर, अशुभ नाम कर्मके कारणसे अशुभ अङ्गोपाङ्गरचना, संस्थान (अवयवोंकी स्थिति) और अशुभ ही स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वर सहित तथा हुंडक, छिन्न अण्डज शरीराकार, तथा क्रूर, करुणा, बीभत्स (घृणाजनक), दर्शनसे भयकारक, दुःखभागी और अपवित्र शरीर उन नरकोंमें होते है। इस हेतुसे अधो २ (नीचे २) की भूमियोंमें अशुभतर ही शरीर होते है। रत्नप्रभा भूमिमें नारक जीवोंके शरीरकी ऊंचाई सातधनुष् तीनहाथ और छह अंगुल होती है । और शेष पृथिवी भागोंमें दूनी २ बढ़ती जाती है। और स्थितिके समान इनकी भी उत्कृष्टता जघन्यता जाननी चाहिये।

अशुभतरवेदनाः । अशुभतराश्च वेदना भवन्ति नरकेष्वधोऽधः । तद्यथा । उष्णवेदनास्तीव्रास्तीव्रतरास्तीव्रतमाश्चातृतीयायाः । उष्णशीते चतुर्थ्याम् । शीतोष्णे पञ्चम्याम् । परयोः शीताः शीततराश्चेति । तद्यथा । प्रथमशरत्काले चरमनिदाघे वा पित्तव्याधिप्रकोपाभिभूतशरीरस्य सर्वतो दीप्ताग्निराशिपरिवृतस्य व्यभ्रे नभसि मध्याह्ने निवातेऽतिरस्कृतातपस्य यादृगुष्णजं दुःखं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टमुष्णवेदनेषु नरकेषु भवति । पौषमाघयोश्च मासयोस्तुषारलिप्तगात्रस्य रात्रौ हृदयकरचरणाधरौष्ठदशनायासिनि प्रतिसमयप्रवृद्धे शीतमारुते निरग्न्याश्रयप्रावरणस्य यादृक्शीतसमुद्भवं दुःखमशुभं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टं शीतवेदनेषु नरकेषु भवति । यदि किलोष्णवेदनान्नरकादुत्क्षिप्य नारकः सुमहत्यङ्गारराशावुद्दीप्ते प्रक्षिप्येत स किल सुशीतां मृदुमारुतां शीतलां छायामिव प्राप्तः सुखमनुपमं विन्द्यान्निद्रां चोपलभेत एवं कष्टतरं नारकमुष्णमाचक्षते । तथा किल यदि शीतवेदनान्नरकादुत्क्षिप्य नारकः कश्चिदाकाशे माघमासे निशि प्रवाते महति तुषारराशौ प्रक्षिप्येत सदन्तशब्दोत्तमकरप्रकम्पायासकरेऽपि तत्र सुखं विन्द्यादनुपमां निद्रां चोपलभेत एवं कष्टतरं नारकं शीतदुःखमाचक्षत इति ॥

---

[1] यहां नरकभूमि इनका अध्याहार है। इस प्रकारके अपार क्लेश नरकभूमियोंमें होते हैं।

अशुभतरवेदना—नरकोंमें वेदना अर्थात् पीड़ा भी अधो २ भागमें अशुभतर होती जाती है। जैसे; तृतीयभूमि पर्यन्त उष्णवेदना तीव्र, तीव्रतर तथा तीव्रतम होती है। और चतुर्थ भूमिमें उष्ण तथा शीत दोनों वेदना होती है। पंचमी भूमिमें शीतोष्ण वेदना होती हैं। और आगेकी दो भूमियोंमें अर्थात् षष्ठी और सप्तमीभूमिमें शीत और शीततर वेदना होती है। प्रथम शरत्कालमें अथवा अन्तिम निदाघ (ग्रीष्म) में पित्तकी व्याधिके प्रकोपसे ग्रसित शरीर, तथा चारों ओरसे प्रदीप्त अग्निकी राशिसे वेष्टित तथा मेघरहित आकाशमें मध्यान्हके समयमें आतप (धूप) के निवारणसे शून्य अर्थात् छायाशून्य निरावरण स्थानमें प्राप्त जीवको उष्णतासे उत्पन्न जैसा दुःख होता है, उससे अनन्तगुण अधिक कष्ट उष्णवेदनायुक्त नरकोंमें होता है। तथा पौष और माघके मासोंमें तुषार (बर्फ) से लिप्त शरीरवाले, और रात्रिमें हृदय, हस्त, चरण, अधर ओष्ट और दांतोंके खटखटानेवाले प्रतिक्षण शीतकालके पवनके बढनेपर अग्निके आश्रय तथा वस्त्रसे रहित मनुष्यको शीतसे उत्पन्न दुःख जैसा अशुभ होता है, उससे भी अनन्त गुण कष्ट शीतवेदनासहित नरकोंमें होता है। तथा नरककी उष्णतामें इतना कष्ट होता है कि, यदि उष्णवेदनावाले नरकसे नारक जीवको निकालकर अति प्रदीप्त बड़ी भारी अङ्गारकी राशिमें फेंक दें, तो वह मन्द पवनसे अति शीतल छायामें प्राप्तके समान अनुपम सुखको अनुभवन करैगा और निद्रायुक्त भी हो जावेगा। इस प्रकारकी उष्णता नरककी वर्णन की जाती है। ऐसे ही यदि शीतवेदनावाले नरकसे नारकजीवको निकालकर कोई रात्रिके समय माघ मासमें आकाशमें तुषारकी राशिपर फेंक दें, तो यद्यपि वह तुषार राशि दांतोंको खटखटानेवाली तथा शरीरकम्पा आदिका हेतु है; तथापि वहां पर वह नारकजीव सुखको अनुभवन करैगा और अनुपनिद्राको भी प्राप्त होगा। इसप्रकार अति कष्टदायक नरकके शीतजनित दुःखको वर्णन करते हैं।

अशुभतरविक्रियाः। अशुभतराश्च विक्रिया नरकेषु नारकाणां भवन्ति। शुभं करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वते। दुःखाभिभूतमनसश्च दुःखप्रतीकारं चिकीर्षवो गरीयस एव ते दुःखहेतून्विकुर्वत इति॥

अशुभतरविक्रिया—नरकोंमें नारकजीवोंकी विक्रिया अशुभतर होती है। शुभकरेंगे ऐसे विचारयुक्त होने पर भी अशुभतर ही विकारको प्राप्त होते हैं। तथा दुःखोंसे अति ग्रस्तचित्त होकर दुःखोंके प्रतीकार अर्थात् मेटनेके उपाय करनेकी इच्छा करते हुए भी महान् दुःखोंहीको उत्पन्न करते है॥ ३॥

परस्परोदीरितदुःखाः॥ ४॥

सूत्रार्थः—नरकके जीव परस्पर एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते है।

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्ति । क्षेत्रस्वभावजनिताच्चाशुभात्पुद्गलपरिणामादित्यर्थः ॥

विशेषव्याख्या—नरकके जीवोंको नरकमें परस्पर उदीरित दुःख होते हैं अर्थात् क्षेत्रके स्वभावसे तथा अशुभ पुद्गलपरिणामके कारण वे नारकी अन्योन्य एक दूसरेको दुःख ही उत्पन्न करते हैं ।

तत्र क्षेत्रस्वभावजनितपुद्गलपरिणामः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिः । शीतोष्णे व्याख्याते क्षुत्पिपासे वक्ष्यामः । अनुपरतशुष्केन्धनोपादानेनैवाग्निना तीक्ष्णेन प्रततेन क्षुदग्निना दन्दह्यमानशरीरा अनुसमयमाहरयन्ति ते सर्वे पुद्गलानप्यद्युस्तीव्रया च नित्यानुषक्तया पिपासया शुष्ककण्ठौष्ठतालुजिह्वाः सर्वोदधीनपि पिबेयुर्न च तृप्तिं समाप्नुयुर्वर्धेयातामेव चैषां क्षुत्तृष्णे इत्येवमादीनि क्षेत्रप्रत्ययानि ॥

वहां क्षेत्रके स्वभावसे उत्पन्न पुद्गलोंके परिणाम शीत, उष्ण, क्षुत् (भूख) तथा पिपासा आदि हैं । शीत तथा उष्णका व्याख्यान तो कर चुके हैं; अब क्षुत् तथा पिपासा कहते है । निरन्तर शुष्क ईंधनसे अति प्रज्वलित विस्तृत अग्निके तुल्य अति तीक्ष्ण और चारोंओरसे व्याप्त क्षुधारूप अग्निसे निरन्तर दन्दह्यमान् अर्थात् जलते हुए शरीरवाले, प्रतिक्षण भोजनकी ही इच्छा करते है, यदि पावें तो वे सब नारकी जीव पुद्गल अर्थात् मृत्तिका पाषाणादि भी खा जावें; और सदाकी तीव्र पिपासासे जिनके कंठ, ओष्ट, तालु तथा जिव्हादि शुष्क हो गये है, ऐसे नरकके जीव यदि पावें तो सम्पूर्ण समुद्रोंको भी पी जावें, तथापि तृप्त न हों ! किन्तु उनकी क्षुधा और पिपासा वढती ही जावे । इस प्रकार क्षेत्र अर्थात् नरकस्थानके कारणसे क्षुधा पिपासा आदि होते है ।

परस्परोदीरितानि च । अपि चोक्तम् । भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति तन्नारकेष्ववधिज्ञानमशुभभवहेतुकं मिथ्यादर्शनयोगाच्च विभङ्गज्ञानं भवति । भावदोषोपघातात्तु तेषां दुःखकारणमेव भवति । तेन हि ते सर्वतः तिर्यगूर्ध्वमधश्च दूरत एवाजस्रं दुःखहेतून्पश्यन्ति । यथा च काकोलूकमहिनकुलं चोत्पत्त्यैव बद्धवैरं तथा परस्परं प्रति नारकाः । यथा वापूर्वान् शुनो दृष्ट्वा श्वानो निर्दयं क्रुध्यन्त्यन्योन्यं प्रहरन्ति च तथा तेषां नारकाणामवधिविषयेण दूरत एवान्योन्यमालोक्य क्रोधस्तीव्रानुशयो जायते दुरन्तो भवहेतुकः । ततः प्रागेव दुःखसमुद्घातार्त्ताः क्रोधाग्न्यादीपितमनसोऽतर्किता इव श्वानः समुद्धता वैक्रियं भयानकं रूपमास्थाय तत्रैव पृथिवीपरिणामजानि क्षेत्रानुभावजनितानि चायःशूलशिलामुसलमुद्गरकुन्ततोमरासिपट्टिशशक्त्ययोघनखड्गयष्टिपरशुभिण्डिमालादीन्यायुधान्यादाय करचरणदशनैश्चान्योन्यमभिघ्नन्ति । ततः परस्पराभिहता विकृताङ्गा निस्तनन्तो गाढवेदनाः शूनाघातनप्रविष्टा इव महिषसूकरोरभ्राः स्फुरन्तो रुधिरकर्दमे चेष्टन्ते । इत्येवमादीनि परस्परोदीरितानि नरकेषु नारकाणां दुःखानि भवन्तीति ॥

परस्परोदीरितदुःख—नारकजीव परस्पर दुःखोंको उत्पन्न करते है । पूर्व प्रकरणमे कहा भी है कि, "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" अर्थात् "देव तथा नरकके

जीवोंको अवधिज्ञान भव (जन्म) रूप निमित्तसे ही होता है,, वह अवधिज्ञान नरकके जीवोंको अशुभका ही कारण होता है, और मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे वह (अवधिज्ञान) विभङ्गज्ञान हो जाता है, अर्थात् कवधि ज्ञान हो जाता है । और उनके भावरूप दोषके उपघातसे दुःखका ही कारण वह विभङ्गज्ञान होता है; उस अवधिज्ञानसे वे चारोंओरसे अर्थात् तिर्यक् (तिरछा) ऊपर नीचे और दूरसे निरन्तर दुःखोके हेतुओंको ही देखते है । और जैसे काक और उलूक, नकुल और सर्प उत्पत्तिहीसे बद्धवैर होते है । और भी जैसे कुत्ते अन्य अपरिचित कुत्तोंको देखकर निर्दयतापूर्वक क्रोध करते है, तथा परस्परदांतोंका प्रहार करते है; ऐसे ही नरकके जीव भी अवधिज्ञानसे पूर्वजन्मके वैर आदिको स्मरण करके दूरसे ही एक दूसरेको देखकर दुरन्त (बुरा है अन्त जिसका) तथा संसारके हेतुरूप तीव्र क्रोधयुक्त हो जाते है । इसके पश्चात् मिलनेसे पूर्व ही दुःखोंके समुद्घातसे अतिशय पीड़ित क्रोधरूप अग्निसे जाज्वल्यमान् चित्त, आकस्मिक विना विचारे कुत्तोंके समान समुद्धत होकर वैक्रियक भयानकरूप धारण करके वहां ही पृथिवीके परिणामसे उत्पन्न, अथवा क्षेत्रके प्रभावसे उत्पन्न, लोहमय शूल, शिला, मुशल, मुद्गर, कुन्त (भाला), तोमर (वर्छी अथवा एक प्रकारके भाले), तलवार, असिपट्टिश (पट्टे वा ढाल), शक्ति, लोहके घन, खड्ग, यष्टि (लट्ठ) परशु, तथा बन्दूकादि अस्त्र शस्त्रोंको लेकर तथा कर चरण (घुस्से, लातें) और दांतोंसे परस्पर हनन करते है । तत्पश्चात् परस्पर अत्यन्त ताड़ित होनेसे छिन्न भिन्न शरीर होकर महावेदनासे चिल्लाते हुए पशुबद्ध स्थानमे प्रविष्ट महिष शूकर और भेड़ोंके समान उछलते हुए रुधिरके कीचड़मे लोटते हैं । नरकोंमें परस्परसे उत्पन्न (किये हुए) इसी प्रकारके अनेक दुःख नारक जीवोंको होते है ॥ ४ ॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थः—नरकके जीवोंको संक्लिष्ट परिणामवाले असुरोंसे उदीरित (उत्पादित) दुःख भी सहन करने पड़ते है, जो चौथी भूमिके पहिले २ होते है ।

भाष्यम्—संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च नारका भवन्ति । तिसृषु भूमिषु प्राक् चतुर्थ्याः । तद्यथा । अम्बाम्बरीषश्यामशबलरुद्रोपरुद्रकालमहाकालास्यासिपत्रवनकुम्भीवालुकावैतरणीखरस्वरमहाघोषाः पञ्चदश परमाधार्मिका मिथ्यादृष्टयः पूर्वजन्मसु संक्लिष्टकर्माणः पापाभिरतय आसुरीं गतिमनुप्राप्ताः कर्मक्लेशजा एते ताच्छील्यान्नारकाणां वेदनाः समुदीरयन्ति चित्राभिरुपपत्तिभिः । तद्यथा । तप्तायोरसपायननिष्टप्तायःस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यग्रारोपणावतारणायोघनाभिघातवासी क्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचनायःकुम्भपाकाम्बरीषतर्जनयन्त्रपीडनायःशूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनाङ्गारदहनवाहनासूचीशाद्वलापकर्षणैः तथा सिंहव्याघ्रद्वीपिश्वशृगालवृककोकमार्जारनकुलसर्पवायसगृध्रकाकोलूकश्येनादिखादनैः तथा तप्तवालुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशनवैतरण्यवतारणपरस्परयोधनादिभिरिति ॥

विशेषव्याख्या—चतुर्थ भूमिके पूर्व अर्थात् तीन भूमियोंमें संक्लिष्टपरिणामविशिष्ट असुरोंके द्वारा भी नरकके जीवोंको दुःख होते हैं। सो इस प्रकार कि, अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकालास्य, असिपत्रवन, कुम्भी, वालुका, वैतरणी, खर, स्वर, और महाघोष; ये पन्द्रह महा अधार्मिक (पापी) मिथ्यादृष्टि, पूर्वजन्मोंमें संक्लिष्ट काम करनेवाले, पापोंमें निरन्तर तत्पर, इसीसे आसुरी गतिको प्राप्त हुए, और कर्मक्लेशसे उत्पन्न होनेवाले असुर है। जो क्लेशदेनेहीके शील (स्वभाव) वाले होनेके कारणसे अनेक प्रकारकी चित्र विचित्र युक्तियोंकेद्वारा नरकके जीवोंको वेदना उत्पन्न करते हैं। यथा, अति संतप्त लोहके रसके पिलानेसे अति संतप्त लोहके खम्भेसे आलिङ्गन करानेसे, मायारचित (मिथ्याभूत) शाल्मलीवृक्षके अग्रभागमें चढाने और उतारनेसे, लोहके घनसे ताडनादि द्वारा, वसूला तथा क्षुरे आदिसे अङ्गोंके काटनेसे, अतिक्षार और संतप्त (अति उष्ण) तैलसे स्नान करानेसे, लोहके घडोंमें पकानेसे, भुसीकी अग्निमें भूंजनेसे, अनेक प्रकारके (कोल्हू आदि) यंत्रोंमें पीड़नादिद्वारा, लोह रचित-शूल तथा शलाकाओंसे, छेदनभेदनादिसे, आरोंसे अंगोंके चीड़ने फाड़नेसे, अङ्गाराग्निमें जलानेसे, तथा अग्नि लादनेसे और सूचीसदृश तीक्ष्ण कटीले घासोंमें घसीटनेसे, अनेक दुःख उत्पन्न करते हैं। तथा सिंह व्याघ्र, चीते, कुत्ते, शृगाल, भेड़िये, कोक, मार्जार, नकुल, सर्प, काक, गृध्र, काकोलूक (घुग्घू वा उल्लू) और वाज आदि हिंसक जीवोंसे उनके मांस आदिको खिलानेसे, और अति संतप्त वालूमें चलानेसे, और तरवारके सदृश पत्रयुक्त वनोंमें प्रवेश करानेसे, वैतरणी (विष्टादि पूर्ण नदी) में तैरानेसे, तथा परस्पर युद्ध कराने आदिसे असुर नरकके जीवोंको दुःख देते हैं।

स्यादेतत्किमर्थं त एवं कुर्वन्तीति। अत्रोच्यते। पापकर्माभिरतय इत्युक्तम्। तद्यथा गोवृषभमहिषवराहमेषकुक्कुटवार्तकालावकान्मुष्टिमल्लांश्च युध्यमानान् परस्परं चाभिघ्नतः पश्यत रागद्वेषाभिभूतानामकुशलानुबन्धिपुण्यानां नराणां परा प्रीतिरुत्पद्यते तथा तेषामसुराणां नारकांस्तथा तानि कारयतामन्योन्यं घ्नतश्च पश्यतां परा प्रीतिरुत्पद्यते। ते हि दुष्टकन्दर्पास्तथाभूतान् दृष्ट्वाट्टहासं मुञ्चन्ति चेलोत्क्षेपान्क्ष्वेडितास्फोटितावल्गिते तलतालनिपातनांश्च कुर्वन्ति महतश्च सिंहनादान्नदन्ति। तच्च तेषां सत्यपि देवत्वे सत्सु च काम्यिकेष्वन्येषु प्रीतिकारणेषु मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायोपहतस्यानालोचितभावदोषस्याप्रत्यवमर्षस्याकुशलानुबन्धिपुण्यकर्मणो वालतपसश्च भावदोषानुकर्षिणः फलं यत्सत्स्वप्यन्येषु प्रीतिहेतुष्वशुभ एव प्रीतिहेतवः समुत्पद्यन्ते॥

अस्तु, इस प्रकारकी वेदना संक्लिष्ट असुर देते है यह तो माना, परन्तु वे इस प्रका क्यों करते हैं? ऐसा करनेसे उनका क्या प्रयोजन हैं? इसपर कहते हैं कि; वे निरन्तर पाप कर्मोंमें ही तत्पर रहते है, यह वार्ता प्रथम कह आये हैं। इसलिये जैसे; गे वैल, महिष, (भैंसा), शूकर, मेष (मेड़), कुकुट (मुर्गे), नट तथा मुष्टमल्ल (मुष्टिव

प्रहारवाले) जब आपसमें लडते है, और एक दूसरेको मारते है, तब जैसे रागद्वेपसे पूर्ण तथा अकुशलपुण्यके बन्धन करनेवाले मनुष्योंको बड़ी भारी प्रीति होती है, ऐसे ही इस प्रकार कार्य करानेवाले उन असुरोंको भी जब नारक जीव परस्पर लड़ते है, तब उन्हें वैसा देखकर अतिशय प्रीति उत्पन्न होती है। और वे दुष्ट कामनायुक्त असुर इस प्रकार दुर्दशाग्रस्त नरकके जीवोंको देखकर अट्टहास (महाहास्य) करते है, प्रसन्नताके मारे वस्त्र फेंकते हैं, तालियां बजाते है, और बडे जोरसे सिंहवत् चिग्घार मारते हैं। और उनका यह कार्य,—यद्यपि देवयोनिमें उत्पन्न होनेसे उनमें देवत्व है, तथा कामियोंके प्रीतिहेतुभूत अन्यकारण भी विद्यमान है, तथापि माया, निदान, और मिथ्यादर्शन इन शल्यों, तीव्रकषायोंके उदय, भावदोषकी आलोचनासे शून्य, विचार सहनशीलतासे रहित, अकुशलतासे सम्बन्ध रखनेवाले पुण्यकर्म, तथा भावदोप सहित वालतपस्याका फल है जो, अन्य अनेक प्रीतिके कारण होने पर भी उनके अशुभ ही प्रीतिके कारण उत्पन्न होते है।

इत्येवमप्रीतिकरं निरन्तरं सुतीव्रं दुःखमनुभवतां मरणमेव काङ्क्षतां तेषां न विपत्तिरकाले विद्यते कर्मभिर्धारितायुषाम् । उक्तं हि । औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुपासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष इति । नैव तत्र शरणं विद्यते नाप्यपक्रमणम् । ततः कर्मवशादेव दग्धपाटितभिन्नच्छिन्नक्षतानि च तेषां सद्य एव संरोहन्ति शरीराणि दण्डराजिरिवाम्भसीति ॥

इसप्रकार अप्रीतिकारक परस्परसे तथा असुरोंके द्वारा उत्पन्न निरन्तर अति तीव्र दुःखोंको अनुभवन करते हुए और उस दुःखसे सदा मरणको ही चाहनेवाले नरकके जीवोंकी अकालमें मृत्यु भी नही होती । क्योंकि कर्मोकेद्वारा उनका आयुष् नियत है। और ऐसा कहा भी है–"औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुपासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" अर्थात् "उपपातरूप जन्मवाले, चरम शरीरी, उत्तमपुरुप और असङ्ख्येय वर्ष आयुष्वालोंके आयुष्का अपवर्तन नही हो सकता।" न तो नरकके जीवोंको इन दुःखोंसे कोई शरण ही है और न वहांसे कही भागके जा सकते हैं। इस हेतुसे कर्मके वशसे ही उनके शरीर दग्ध होनेपर, फाडे जानेपर, छिन्न भिन्न और अत्यन्त क्षत (अनेक घावोंसे युक्त) होने पर भी पुनः ज्योंके त्यों ऐसे हो जाते हैं, जैसे जलमें दंडोंकी रेखा।

एवमेतानि त्रिविधानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्तीति ॥

इसप्रकार त्रिविध दुःख होते है अर्थात् अशुभतर लेश्या परिणामादिमें उत्पन्न, परस्पर कारणसे उत्पन्न, और असुरोंकेद्वारा उत्पन्न, ये तीन प्रकारके दुःख होते हैं।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—उननरकोंमें जीवोंकी परा अर्थात् उत्कृष्टस्थिति एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बावीस और तेतीस सागरोपमा होती है।

भाष्यम्—तेषु नरकेषु नारकाणां पराः स्थितयो भवन्ति। तद्यथा। रत्नप्रभायामेकं सागरोपमम्। एवं त्रिसागरोपमा सप्तसागरोपमा दशसागरोपमा सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशतिसागरोपमा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा। जघन्या तु पुरस्ताद्वक्ष्यते। नारकाणां च द्वितीयादिषु। दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामिति।

विशेषव्याख्या—उन पूर्वोक्त रत्नप्रभादि नरकोंमें जीवोंकी सबसे अधिक स्थिति क्रमसे एक, तीन, आदि सागरोपमा होती है। यथा:—रत्नप्रभामें एक सागरोपमा, शर्कराप्रभामें तीन सागरोपमा, वालुकाप्रभामें सात सागरोपमा, पंकप्रभामें दश सागरोपमा, धूमप्रभामें सत्रह सागरोपमा, तमःप्रभामें बावीस सागरोपमा, और महातमःप्रभामें तेवीस सागरोपमा परा अर्थात् सबसे उत्कृष्ट स्थिति होती है। यह वर्णन परास्थितिका है, और जघन्या स्थितिका वर्णन आगे करेंगे। यथा **"नारकाणां च द्वितीयादिषु" "दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्"** अर्थात् "नरकके जीवोंकी द्वितायादिभूमियोंमें भी इसप्रकार जघन्यस्थिति है" तथा "प्रथम भूमिमें दशहजार वर्षकी स्थिति है" (अध्याय ४, सूत्र ४३,४४)।

तत्रास्रवैर्यथोक्तैर्नारकसंवर्तनीयैः कर्मभिरसंज्ञिनः प्रथमायामुत्पद्यन्ते। सरीसृपा द्वयोरादितः प्रथमद्वितीययोः। एवं पक्षिणस्तिसृषु। सिंहाश्चतसृषु। उरगाः पञ्चसु। स्त्रियः षट्सु। मत्स्यमनुष्याः सप्तस्विति। न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति। न हि तेषां बह्वारम्भपरिग्रहादयो नरकगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति। नाप्युद्वर्त्य नारका देवेषूत्पद्यन्ते। न ह्येषां सरागसंयमादयो देवगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति। उद्वर्तितास्तु तिर्यग्योनौ मनुष्येषु वोत्पद्यन्ते। मानुषत्वं प्राप्य केचित्तीर्थकरत्वमपि प्राप्नुयुरादितस्तिसृभ्यः निर्वाणं चतसृभ्यः संयमं पञ्चभ्यः संयमासंयमं षड्भ्यः सम्यग्दर्शनं सप्तभ्योऽपीति ॥

उनमे आस्रवोंकेद्वारा नरकके जीवोंके संवर्त्तन (व्यवहार) के योग्य शास्त्रोक्त कर्मोंसे असंज्ञी जीव प्रथम भूमिमें उत्पन्न होते हैं। और सरीसृप (सर्प विशेष) प्रथम तथा द्वितीय भूमिमें उत्पन्न होते है। और पक्षी तीनों भूमियोमें उत्पन्न होते है। सिंह चारों भूमियोंमें होते है। विषधर सर्प पांचोंमें उत्पन्न होते है। स्त्रियां छहों भूमियोमें उत्पन्न होती है। और मनुष्य तथा मत्स्य सातों भूमियोंमें उत्पन्न होते है। किन्तु देव और नारकजीव

---

१ **नारकाणां च द्वितीयादिषु**, इस सूत्रके पहिले **'परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा'** कहा है। जिस का अर्थ यह है कि, पूर्व २ स्वर्गोंमे जो उत्कृष्ट स्थिति है वह महेन्द्र कल्पके परे जघन्य स्थिति है। सो इस सूत्र की अनुवृति 'च' पदकेद्वारा ली गई है, अर्थात् जिसप्रकार महेन्द्रकल्पके परे स्थितिका क्रम है, उसी प्रकार द्वितीयादि भूमियोंमें भी पूर्व २ की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह पर २ की जघन्य स्थिति है।

नरकोंमें उत्पन्न नहीं होते । क्योंकि नरक गतिके साधक अधिक आरंभ और अधिक परिग्रह आदि उन देव और नारकियोके नही है । और नरक गतिसे निकलकर नरकके जीव देवताओंमें भी उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि देवगतिके कारण सराग संयमादि हैं, वे भी उनके नहीं हैं । किन्तु नरकयोनिके नियतकालके पश्चात् छूटनेपर वे मनुष्योंमें अथवा तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होते है । और कोई २ आदिकी तीन भूमियोंमेंसे निकलनेके पश्चात् मनुष्यत्व पाकर तीर्थंकर पदवीको भी प्राप्त हो सक्ते हैं । तथा चार भूमियोंसे निकलकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं । पांच भूमियोंसे संयम, छह भूमियोंसे संयमासंयम और सम्यग्दर्शन तो सातों नरकभूमियों से निकलकर प्राप्तकर सकते है ।

द्वीपसमुद्रपर्वतह्रदतडागसरांसि ग्रामनगरपत्तनादयो विनिवेशा बादरो वनस्पतिकायो वृक्षतृणगुल्मादिः द्वीन्द्रियादयस्तिर्यग्योनिजा मनुष्या देवाश्चतुर्निकाया अपि न सन्ति । अन्यत्र समुद्धातोपपातविक्रियासाङ्गतिकनरकपालेभ्यः । उपपाततस्तु देवा रत्नप्रभायामेव सन्ति नान्यासु । गतिस्तृतीयां यावत् ॥

नरक भूमियोंमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, ह्रद, तड़ाग, सर (छोटे तलाब) ग्राम, नगर, और पत्तनादिकोंकी रचना तथा स्थूल वनस्पतिकाय, वृक्ष, तृण, लतादिक और द्वीन्द्रियादि जीव, तिर्यञ्च, मनुष्य और चतुर्निकायके देव, ये कोई भी नहीं होते[1] । परन्तु समुद्धातमें प्राप्त, उपपात जन्मवाले, वैक्रियकशरीरधारी, साङ्गतिक[2] और नरकपाल अर्थात् महापापी इन सबको छोड़के । अर्थात् ये नरकभूमियोंमें जा सक्ते है । यहां इतना और भी जानना आवश्यक है, कि उपपातरूप जन्मसे जो देव होते है, वे रत्नप्रभा भूमिमें हैं, अन्य भूमियोंमें नही । और इनका गमन तृतीयभूमि पर्यन्त हो सक्ता है, अधिक नहीं ।

यच्च वायव आपो धारयन्ति न च विश्वग्गच्छन्त्यापश्च पृथिवीं धारयन्ति न च प्रस्पन्दन्ते पृथिव्यश्चाप्सु विलयं न गच्छन्ति तत्तस्यानादिपारिणामिकस्य नित्यसन्ततेर्लोकविनिवेशस्य लोकस्थितिरेव हेतुर्भवति ॥

और जो वायु[3] जलको धारण करते है, वे चारों ओर नही वहते अर्थात् साधारण वायुके समान इधर उधर नहीं जाते । और जल जो पृथिवीको धारण करते हैं, वे भी इधर उधर कहीं फिसल कर नहीं चलते । और पृथिवी भी जलमें नही डूबती, और ऐसा होनेमे अनादिकालसे पारिणामिक तथा नित्य प्रवाहरूपसे जो लोकोंकी रचना है, उसमें लोकस्थिति ही कारण है ।

---

१ रत्नप्रभाके तुल्य नीचेकी छह भूमियोंमें द्वीप समुद्रादि नहीं हैं । २ पूर्व जन्मके मित्र । ३ सप्तभूमियोंमें जो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठा है उसकी व्यवस्था कहते हैं ।

अत्राह। उक्तं भवता लोकाकाशेऽवगाहः। तदनन्तरं ऊर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तादिति। तत्र लोकः कः कतिविधो वा किंसंस्थितो वेति। अत्रोच्यते॥

अत्र यहांपर कहते हैं, कि आपने यह कहा है कि धर्माधर्म तथा जीवादि द्रव्योंका लोकाकाश पर्यन्त अवगाह है, अर्थात् सब द्रव्योंकी लोकाकाश पर्यन्त गति है। और उसके पश्चात् यह भी कहा है कि, वे ऊपर लोकके अन्त तक जाते हैं। सो उक्त विषयमें प्रश्न है कि, लोक क्या है? कै प्रकारका है? और वह किस प्रकारसे स्थित है?। अत्र यहां उत्तर कहते हैं,—

पञ्चास्तिकायसमुदायो लोकः। ते चास्तिकायाः स्वतत्त्वतो विधानतो लक्षणतश्चोक्ता वक्ष्यन्ते च। स लोकः क्षेत्रविभागेन त्रिविधोऽधस्तिर्यगूर्ध्वं चेति। धर्माधर्मास्तिकायौ लोकव्यवस्थाहेतू। तयोरवगाहविशेषाल्लोकानुभावनियमात् सुप्रतिष्टकवज्राकृतिर्लोकः। अधोलोको गोकन्धराधरार्धाकृतिः। उक्तं ह्येतत्। भूमयः सप्ताधोऽधः पृथुतराच्छत्रातिच्छत्रसंस्थिता इति ता यथोक्ताः। तिर्यग्लोको झल्लर्याकृतिः। ऊर्ध्वलोको मृदङ्गाकृतिरिति। तत्र तिर्यग्लोकप्रसिद्ध्यर्थमिदमाकृतिमात्रमुच्यते॥

पंचास्तिकायोंका जो समुदाय अर्थात् समूह है, वही लोक है। और वे पंचास्तिकाय निजतत्त्वरूपसे, विधानसे और लक्षणसे कुछ कहे हैं, और आगे भी कहेंगे। वह पंचास्तिकायसमूहरूप लोक क्षेत्रविभागसे तीन प्रकारका है; अर्थात् अधोलोक, तिर्यक्लोक, और ऊर्ध्वलोक। पंचास्तिकायोंमेंसे धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय ये दोनों लोकोंकी व्यवस्थाके कारण हैं। और इन दोनोंके अवगाहन (गमन व्याप्ति) विशेषसे, लोकके अनुभावके नियमसे सुप्रतिष्टक वज्राकार लोक है, अर्थात् यह आकार सब लोकका है। अधो लोक गौकन्धराधरार्ध(?)के आकार है। यह कहा भी है। "सातों भूमि अधो २ भागमें विशाल और छत्र तथा अतिच्छत्राकार स्थित है"। इसप्रकार सातों भूमियोंकी स्थिति जैसी है वैसी कही। और तिर्यग्लोक झल्लरीके आकार है। और ऊर्ध्वलोक मृदङ्गके आकार है उनमें तिर्यग्लोकका केवल आकार मात्र उसकी (तिर्यग्लोककी) प्रसिद्धिके अर्थ संक्षेपसे कहते है॥ ६॥

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः॥ ७॥

सूत्रार्थः—जम्बूद्वीपादि शुभनामवाले द्वीप और लवणसमुद्रादि शुभनामवाले समुद्र हैं

भाष्यम्—जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणादयश्च समुद्राः शुभनामान इति। यावन्ति लोके शुभानि नामानि तन्नामान इत्यर्थः। शुभान्येव वा नामान्येषामिति ते शुभनामानः। द्वीपादनन्तरः समुद्रः समुद्रादनन्तरो द्वीपो यथासङ्ख्यम्। तद्यथा। जम्बूद्वीपो द्वीपो लवणोदः समुद्रः धातकीखण्डो द्वीपः कालोदः समुद्रः पुष्करवरो द्वीपः पुष्करोदः समुद्रः वरुणवरो द्वीपो वरुणोदः समुद्रः क्षीरवरो द्वीपः क्षीरोदः समुद्रो घृतवरो द्वीपो घृतोदः समुद्रः इक्षुवरो

द्वीप इक्षुवरोदः समुद्रः नन्दीश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरवरोदः समुद्रः अरुणवरो द्वीपोऽरुणवरोदः समुद्र इत्येवमसङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता वेदितव्या इति ॥

विशेषव्याख्या—जम्बूद्वीपसे आदि लेके द्वीप और लवणसमुद्रसे आदि लेके समुद्र ये शुभनामवाले हैं । इसका यह तात्पर्य है कि लोकमें जितने शुभनाम हैं, उन नामोंसे ये युक्त हैं । शुभ नामवाले, इसका यह तात्पर्य है कि इनके शुभ ही नाम हैं अशुभ नहीं । द्वीपके अनन्तर समुद्र और समुद्रके अनन्तर द्वीपसमुद्र है, इसप्रकार यथासंख्य समझना चाहिये । यथा;—जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, और उसके अनन्तर लवणोद नामक समुद्र है; उसके पश्चात् पुनः धातकीखण्ड नामक द्वीप है, उसके अनन्तर पुनः कालोद नामक समुद्र है; पुनः पुष्करवरद्वीप है, पुनः पुष्करोदनामक समुद्र है; पुनः वरुणवरद्वीप है, पुनः वरुणोद नामक समुद्र है; पुनः क्षीरवर नामक द्वीप है और क्षीरोद समुद्र है; पुनः घृतवर नामक द्वीप है, पुनः घृतोद नामक समुद्र है; पुनः इक्षुवर नामक द्वीप है, पुनः इक्षुवरोद नामक समुद्र है; पुनः नन्दीश्वर नामक द्वीप है, पुनः नन्दीश्वरवरोद समुद्र है; पुनः अरुणवर नामक द्वीप है, और पुनः उसके अनन्तर अरुणवरोद नामक समुद्र है; इस प्रकार असंख्येय द्वीप समुद्र स्वयम्भूरमण पर्यन्त जानने चाहिये ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—ये द्वीप समुद्र द्विगुण २ विष्कंभके धारण करनेवाले हैं, तथा पूर्व पूर्व द्वीप समुद्रको पर २ के द्वीपसमुद्र चारों ओरसे घेरे हैं, और सब ही वलयाकार (वृत्ताकार) हैं ।

भाष्यम्—सर्वे चैते द्वीपसमुद्रा यथाक्रममादितो द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः प्रत्येतव्याः । तद्यथा । योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य वक्ष्यते । तद्द्विगुणो लवणजलसमुद्रस्य । लवणजलसमुद्रविष्कम्भाद्द्विगुणो धातकीखण्डद्वीपस्य । इत्येवमास्वयम्भूरमणसमुद्रादिति ॥

विशेषव्याख्या—प्रथम जम्बूद्वीपसे आदि लेके द्वीप और समुद्र सब यथाक्रमसे द्विगुण २ व्यास प्रमाण होते गये है, और पर २ के द्वीप समुद्र पूर्व २ द्वीप समुद्रको चारों ओरसे घेरे है । और वलय (कटक अर्थात् कडे) के आकारके हैं, ऐसा जानना चाहिये । जैसे; एक सहस्रयोजन अर्थात् एकलक्ष योजन विष्कंभ (विस्तार) जम्बूद्वीपका कहेंगे । और जम्बूद्वीपसे द्विगुण विष्कंभ लवणसमुद्रका है; और लवणसमुद्रके विष्कंभसे द्विगुण विष्कंभ धातकीखंडका है । इस प्रकार पूर्व २ से पर २ द्विगुण विष्कंभवाले द्वीप समुद्र स्वयंभूरमण पर्यन्त जानने चाहिये ।

पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः । सर्वे पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः प्रत्येतव्याः । जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण परिक्षिप्तः । लवणजलसमुद्रो धातकीखण्डेन परिक्षिप्तः । धातकीखण्डद्वीपः कालोदसमुद्रेण परि-

क्षिप्तः । कालोदसमुद्रः पुष्करवरद्वीपार्धेन परिक्षिप्तः । पुष्करद्वीपार्धं मानुषोत्तरेण पर्वतेन परिक्षिप्तम् । पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरोदेन समुद्रेण परिक्षिप्तः । एवमास्वयम्भूरमणात्समुद्रादिति ॥

पूर्व २ का परिक्षेप करनेवाले है, इसका तात्पर्य यह है, कि सब द्वीप समुद्र अपनेसे पूर्व २ को चारों ओरसे घेरे है। जैसे; प्रथम जम्बूद्वीप अपनेसे द्विगुण विष्कंभवाले लवणोदसमुद्रसे चारों ओरसे घिरा है, और लवणोदसमुद्र अपनेसे द्विगुण परिमाणवाले धातकीखंडसे घिरा है । ऐसे ही धातकीखंडद्वीप कालोदसमुद्रसे घिरा है। कालोदसमुद्र पुष्करवरद्वीपसे घिरा है । पुष्करार्द्ध मानुषोत्तरपर्वतसे घिरा है। और पुष्करवर द्वीप पुष्करवरसमुद्रसे घिरा है । इसी प्रकार स्वयंभूरमण पर्यन्त द्वीप समुद्र पूर्व २ पर २ से घिरे है।

वलयाकृतयः । सर्वे च ते वलयाकृतयः सह मानुषोत्तरणेति ॥

'वलयाकृतय.' इसका यह अभिप्राय है, कि सब द्वीप समुद्र मानुषोत्तरपर्वत सहित वलयके आकार हैं ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थः—उन द्वीपसमुद्रोंके मध्यमें मेरुपर्वत ही है नाभि जिसकी ऐसा, तथा वृत्ताकार एकलक्ष योजन विष्कंभवाला जम्बूद्वीप है।

भाष्य—तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्ये तन्मध्ये ॥ मेरुनाभिः । मेरुरस्य नाभ्यामिति मेरुर्वास्य नाभिरिति मेरुनाभिः । मेरुरस्य मध्य इत्यर्थः ॥ सर्वद्वीपसमुद्राभ्यन्तरो वृत्तः कुलालचक्राकृतिर्योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । वृत्तग्रहणं नियमार्थम् । लवणादयो वलयवृत्ता जम्बूद्वीपस्तु प्रतरवृत्त इति । यथा गम्येत वलयाकृतिभिश्चतुरस्रत्र्यस्रयोरपि परिक्षेपो विद्यते तथा च माभूदिति ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वोक्त असंख्य द्वीप और समुद्रोंके मध्यमे मेरुपर्वतरूप नाभियुक्त, प्रतरवृत्त एकलाख योजन विष्कंभयुक्त जम्बूद्वीप है। वहांपर 'मेरुनाभि' इस पदसे मेरु जिसकी नाभिमें है, अथवा मेरु जिसकी नाभि है, यह आशय है। दोनोंप्रकारके समाससे मेरु जिसके मध्यमें है, यह अभिप्राय है । सब द्वीप और समुद्रोंके आभ्यन्तर वृत्ताकार अर्थात् कुलालके चक्रसदृश आकारवान् शतसहस्र (लाख) योजन विष्कंभ सहित जम्बूद्वीप है। यहां पर वृत्त कहना इस नियमके अर्थ है कि, लवणसे आदि लेके द्वीप समुद्र वलयाकार वृत्त है। और जम्बूद्वीप प्रतरवृत्त है। यह कथन इसलिये है कि, कदाचित् ऐसा ज्ञान न हो जावे कि वलयाकार पदार्थोंको चतुष्कोण और त्रिकोणोंका भी परिवेष्टन (घिराव) होता है, जो कि न होना चाहिये।

मेरुरपि काञ्चनस्थालनाभिरिव वृत्तो योजनसहस्रमधोधरणितलमवगाढो नवनवत्यु

च्छ्रितो दशाधो विस्तृतः सहस्रमुपरीति । त्रिकाण्डस्त्रिलोकप्रविभक्तमूर्तिश्चतुर्भिर्वनैर्भद्रशालनन्दनसौमनसपाण्डकैः परिवृत्तः । तत्र शुद्धपृथिव्युपलवज्रशर्कराबहुलं योजनसहस्रमेकं प्रथमं काण्डम् । द्वितीयं त्रिषष्टिसहस्राणि रजतजातरूपाङ्कस्फटिकबहुलम् । तृतीयं षट्त्रिंशत्सहस्राणि जम्बूनदबहुलम् । वैडूर्यबहुला चास्य चूलिका चत्वारिंशद्योजनान्युच्छ्रायेण मूले द्वादशविष्कम्भेण मध्येऽष्टावुपरि चत्वारीति । मूले वलयपरिक्षेपि भद्रशालवनम् । भद्रशालवनात्पञ्च योजनशतान्यारुह्य तावत्प्रतिक्रान्तिविस्तृतं नन्दनम् । ततोऽर्धत्रिषष्टिसहस्राण्यारुह्य पञ्चयोजनशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतमेव सौमनसम् । ततोऽपि षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य चतुर्नवतिचतुःशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतं पाण्डकवनमिति । नन्दनसौमनसाभ्यामेकादशैकादशसहस्राण्यारुह्य प्रदेशपरिहाणिर्विष्कम्भस्येति ॥

मेरु भी काञ्चन (सुवर्ण) के थारकी नाभिके समान वृत्ताकार सहस्र योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, निन्नानवे सहस्र योजन उंचा, दश सहस्र योजन अधोभागमें विस्तृत, और सहस्र योजन ऊपर विस्तारयुक्त है । तथा तीन कांड सहित, तीनों लोकोंको प्रविभक्तमूर्ति अर्थात् विभाग करनेवाला और भद्रशाल, नन्दन, सौमनस, तथा पाण्डुक नामक चार वनोंसे घिरा है । उन तीनों कांडो (विभागों) मेंसे प्रथमकांड शुद्धपृथिवी, पाषाण (बहुमूल्य पाषाण), वज्र (हीरकादि) तथा शर्करा (वालू) से प्रायः पूर्ण और एक सहस्र योजन प्रमाण सहित है । और द्वितीयकांड प्रायः रौप्य, सुवर्ण तथा स्फटिक मणिसे पूर्ण त्रेसठसहस्र योजन प्रमाण सहित है । तथा तृतीयकांड प्रायः जम्बूनदनामक उत्तम सुवर्णसे पूर्ण और छत्तीससहस्र योजन प्रमाण सहित है । और चवालीस योजन ऊंची, मूलभागमें बारह योजन विस्तारसहित, मध्यभागमें आठ और ऊपर चार योजन विष्कंभसहित इस मेरुकी चूलिका है । और मूल भागमें भद्रशालवन उसको वेष्टित किये (घेरे) है । और भद्रशालसे पांचसौ योजन और चढके वहां तक-प्रतिक्रान्ति (प्रतिव्याप्ति वा प्रतिबिम्ब) से विस्तृत नन्दनवन है । और उसके पश्चात् साढे त्रेसठ सहस्र योजन आगे चढके पांच ही सौ योजन प्रतिक्रान्तिसे विस्तृत सौमनस वन है । और उस सौमनससे भी छत्तीस सहस्र योजन और आगे चढके चारसौ चौरानवे योजन पर्यन्त प्रतिक्रान्तिसे विस्तृत पाण्डकवन है । और नन्दन तथा सौमनस इन दोनोंसे ग्यारह २ सहस्र योजन चढके विष्कंभके प्रमाणकी परिहाणि अर्थात् न्यूनता है ॥ ९ ॥

१ यह मेरु सर्वत्र सम प्रमाणसे नहीं है, किन्तु प्रदेशप्रमाणकी परिहाणिसे न्यून होता गया हैं; इस विषयको दर्शाते हैं × × × × × × नन्दनवनसे ऊपर और सौमनसके नीचे मध्यमे ग्यारह २ सहस्र योजन चढके एक सहस्र योजन विष्कमकी न्यूनता होती जाती है । और सौमनसके ऊपर तथा नन्दनके नीचे इन आचार्य-(सूरि)ने नहीं कहीं । × × × और यह परिहाणि (न्यूनता) जो आचार्यने कही है, वह गणितके अनुसार किञ्चित भी विश्वासके योग्य नहीं है । क्योंकि सौमनस वनमे अभ्यन्तरका विष्कभ तीन सहस्र दो सौ वहत्तर योजन तथा ग्यारहके आठ भाग है । ३२७२ $\frac{८}{११}$ । और बाह्यविष्कभ चार हजार दो सौ वहत्तर योजन तथा ग्यारहके आठ भाग है । ४२७२ $\frac{८}{११}$ । और आचार्य कथित परिहाणिसे

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरा-
वतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

सूत्रार्थः—उस जम्बूद्वीपमे भरत हैमवतादि सात वर्षधर क्षेत्र हैं ।

भाष्यम्—तत्र जम्बूद्वीपे भरतं हैमवतं हरयो(?)विदेहा रम्यकं हैरण्यवतमैरावतमिति सप्त वंशाः क्षेत्राणि भवन्ति । भरतस्योत्तरतो हैमवतं हैमवतस्योत्तरतो हरय इत्येवं शेषाः । वंशा वर्षा वास्या इति चैषां गुणतः पर्यायनामानि भवन्ति । सर्वेषां चैषां व्यवहारनयापेक्षादादित्यकृताद्दिग्नियमादुत्तरतो मेरुर्भवति । लोकमध्यावस्थितं चाष्टप्रदेशं रुचकं दिङ्नियमहेतुं प्रतीत्य यथासम्भवं भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—जम्बूद्वीपमें भरत १, हैमवत २, हरि ३, विदेह ४, रम्यक् ५, हैरण्यवत ६, और ऐरावत ७; ये सात वंशधर क्षेत्र हैं । भरतके उत्तर हैमवत है, और हैमवतके उत्तर हरिनामक क्षेत्र है । इस प्रकार रम्यकादि भी पूर्व २ के उत्तर समझ लेना चाहिये । वंश, वर्ष, तथा वास्य ये इन क्षेत्रोंके गुणसे पर्याय नाम हैं, अर्थात् ये सात वंशधरपर्वत, वर्षधरपर्वत अथवा वास्यधरपर्वत कहे जा सकते है । और व्यवहार नयकी अपेक्षासे, सूर्यकृत दिशाके नियमसे, इन भरत हैमवत आदि सब क्षेत्रोंमें मेरु उत्तर दिशामें है । परन्तु लोकके मध्यमें स्थित रुचकाष्ट प्रदेशोंको दिशाओंका हेतु मानकर यथासम्भव निश्चय दिग्विभाग होता है ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-
नीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थः—उन भरतादि क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पूर्व पश्चिम चौडे हिमवत् आदि छह वर्षधरपर्वत है ।

भाष्यम्—तेषां वर्षाणां विभक्तारो हिमवान् महाहिमवान् निषधो नीलो रुक्मी शिखरी इत्येते षड्वर्षधराः पर्वताः । भरतस्य हैमवतस्य च विभक्ता हिमवान् हैमवतस्य हरिवर्षस्य च विभक्ता महाहिमवानित्येवं शेषाः ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वमें जो भरत, हैमवत, आदि क्षेत्र कहे हैं, उनको विभक्त अर्थात् पृथक् २ करनेवाले हिमवान्, महा हिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं । उनमें भरत तथा हैमवतको पृथक् करनेवाला हिमवान् पर्वत है । और हैमवत तथा हरिका विभाग करनेवाला महाहिमवान् । ऐसे ही शेष भी

कोई भी विष्कंभ नहीं आता । और वह बाह्य तथा आभ्यन्तरके विष्कंभ प्रमाण असत्य नहीं हो सके, क्योंकि शास्त्रमें पडा है । और आर्षानुसारी गणितशास्त्रवेत्ता परिहाणिको और प्रकारसे वर्णन करते हैं । मेरु ऊपर एकलक्ष योजन ऊंचा है । अपत्रयन्यूनतादिसे रहित सहस्र योजन भूमिमें गड़ा हुआ अदृश्य है ।

जान लेना। अर्थात् हरि तथा विदेहका विभाजक निषध है, विदेह तथा रम्यकका विभाजक नील है। रम्यक हैरण्यवतका रुक्मी है, और हैरण्यवत तथा ऐरावत वर्षका विभाजक शिखरी पर्वत है ॥ ११ ॥

तत्र पञ्च योजनशतानि षड्विंशानि षट् चैकोनविंशतिभागा भरतविष्कम्भः । स द्विर्द्विर्हिमवद्धैमवतादीनामा विदेहेभ्यः । परतो विदेहेभ्योऽर्धार्धहीनाः ॥ पञ्चविंशतियोजनान्यवगाढो योजनशतोच्छ्रायो हिमवान् । तद्द्विर्महाहिमवान् । तद्द्विर्निषध इति ॥

उनमेसे पांचसौ छब्बीस योजन और छहके उन्नीसवें भाग ($५२६\frac{६}{१९}$) विष्कंभ प्रमाण सहित भरतवर्ष है। आगे हिमवत आदि पर्वत तथा हेमवत आदि क्षेत्रोंके विष्कंभ विदेहक्षेत्र पर्यन्त दूने २ होते चले गये है, और विदेहसे परे (आगे) अर्ध अर्ध न्यून होते गये है। उनमें पच्चीस योजन विस्तृत और शतयोजन ऊंचा हिमवान है, और उसका भी दूना निषध है।

भरतवर्षस्य योजनानां चतुर्दशसहस्राणि चत्वारि शतान्येकसप्ततानि षट् च भागा विशेषतो ज्या। इषुर्यथोक्तो विष्कम्भः। धनुःकाष्ठं चतुर्दशसहस्राणि शतानि पञ्चाष्टाविंशान्येकादश च भागाः साधिकाः ॥

और चौदह सहस्र चारसौ योजन तथा इकहत्तरमें छह भाग ($१४४००\frac{६}{७१}$ योजन) भरतवर्षकी ज्यौं प्रत्यञ्चा[1] अथवा जीवा है। इषु अर्थात् वाणका विष्कंभ $५२६\frac{६}{१९}$ योजन कहा है। और धनुष्काष्ठ अर्थात् चापकी परिधि चौदह सहस्र पांचसौ और कुछ अधिक अठ्ठाईसमें ग्यारह भाग योजन विष्कंभ ($१४५००\frac{११}{२८}$) है।

भरतक्षेत्रमध्ये पूर्वापरायत उभयतः समुद्रमवगाढो वैताढ्यपर्वतः षड् योजनानि सक्रोशानि धरणिमवगाढः पञ्चाशद्विस्तरतः पञ्चविंशत्युच्छ्रितः ॥

भरतवर्षमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर लम्बा पड़ा हुआ दो ओरके समुद्रमें प्रविष्ट वैताढ्य (वैताद्यवा विजयार्ध) पर्वत है; जो कि कुछ कोश अधिक छह योजन पृथिवीमें प्रविष्ट है। पचास योजन विस्तृत और पच्चीस योजन ऊंचा है।

विदेहेषु निषधस्योत्तरतो मन्दरस्य दक्षिणतः काञ्चनपर्वतशतेन चित्रकूटेन विचित्रकूटेन चोपशोभिता देवकुरवो विष्कम्भेणैकादश योजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ च भागौ। एवमेवोत्तरेणोत्तराः कुरवश्चित्रकूटविचित्रकूटहीना द्वाभ्यां च काञ्चनाभ्यामेव यमकपर्वताभ्यां विराजिताः ॥

विदेहवर्षमें निषध पर्वतके उत्तर, मन्दरके दक्षिण काञ्चनमय शतपर्वत सहित चित्रकूट तथा विचित्रकूटसे उपशोभित देवकुरु भोगभूमि हैं। जो कि ग्यारह हजार आठसौ और वियालीसमें दो भाग ($११८००\frac{२}{४२}$) योजन विष्कंभ प्रमाण सहित है। इसी प्रकार

१ धनुषकी डोरीके तुल्य रेखा.

उत्तरकी ओर उत्तरकुरु है, किन्तु वे चित्रकूट तथा विचित्रकूटोंसे हीन हैं, परन्तु काञ्चनमय यमक नाम दो पर्वतोंसे वे उत्तरकुरु शोभित हैं।

विदेहा मन्दरदेवकुरूत्तरकुरुभिर्विभक्ताः क्षेत्रान्तरवद्भवन्ति। पूर्वे चापरे च। पूर्वेषु षोडश चक्रवर्तिविजया नदीपर्वतविभक्ताः परस्परागमाः अपरेऽप्येवंलक्षणाः षोडशैव॥

मन्दर, देवकुरु, तथा उत्तर कुरुओंसे अन्य क्षेत्रोंके सदृश विदेह भी विभक्त (पृथक् किये हुए) है। और उनकी पूर्वविदेह तथा अपरविदेह ऐसी संज्ञा हैं। पूर्वमें सोलह विदेह है, जो कि चक्रवर्तीविजय तथा नदी और पवर्तोंसे विभक्त परस्पर है। और अपर विदेह भी इसीप्रकार लक्षणयुक्त सोलह ही है।

तुल्यायामविष्कम्भावगाहोच्छ्रायौ दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ तथा हिमवच्छिखरिणौ महाहिमवद्रुक्मिणौ निषधनीलौ चेति॥

दक्षिण तथा उत्तरके वैताढ्य विस्तार, विष्कंभ, अवगाह तथा उंचाईमें समान हैं। ऐसे ही हिमवत् और शिखरी समान है। महाहिमवत् और रुक्मी समान हैं, तथा निषध और नील समान है।

क्षुद्रमन्दरास्तु चत्वारोऽपि धातकीखण्डकपुष्करार्धका महामन्दरात्पञ्चदशभिर्योजनसहस्रैर्हीनोच्छ्रायाः। षड्भिर्योजनशतैर्धरणितले हीनविष्कम्भाः। तेषां प्रथमं काण्डं महामन्दरतुल्यम्। द्वितीयं सप्तभिर्हीनम्। तृतीयमष्टाभिः। भद्रशालनन्दनवने महामन्दरवत्। ततो अर्धषट्पञ्चाशद्योजनसहस्राणि सौमनसं पञ्चशतं विस्तृतम्। ततोऽष्टाविंशतिसहस्राणिचतुर्नवति चतुःशत विस्तृतमेव पाण्डकं भवति। उपरि चाधश्च विष्कम्भोऽवगाहश्च तुल्यो महामन्दरेण। चूलिका चेति॥

और चारों क्षुद्रमन्दर, धातकीखण्डक और पुष्करार्धक अर्थात् धातकीखण्ड तथा पुष्करार्धमें होनेवाले, महामन्दरसे पन्द्रहसहस्र योजन न्यून ऊंचे हैं। और छहसौ योजन धरणीतलमें भी न्यून विष्कंभ हैं। उन क्षुद्रमन्दरोंका प्रथमकांड महामंदरके तुल्य है। द्वितीयकांड सातसे न्यून है। और तृतीयकांड आठसे हीन है। भद्रशाल तथा नन्दनवन महामन्दरके समान हैं। उसके पश्चात् साढ़े छप्पन हजार योजन लम्बा तथा पांचसौ योजन विस्तृत सौमनसवन है। और उसके अनन्तर अट्ठाईस हजार योजन लम्बा और चारसौ चौरानवे योजन विस्तृत (चौड़ा) पाण्डकवन है। इसका ऊपर तथा नीचेका विष्कंभ और अवगाह भी महामन्दरके तुल्य है। और चूलिका भी उसीके समान है।

विष्कम्भकृतेर्दशगुणाया मूलं वृत्तपरिक्षेपः। स विष्कम्भपादाभ्यस्तो गणितम्। इच्छावगाहोनावगाहाभ्यस्तस्य विष्कम्भस्य चतुर्गुणस्य मूलं ज्या। ज्याविष्कम्भयोर्वर्गविशेषमूलं विष्कम्भाच्छोध्यं शेषार्धमिपुः। इषुवर्गस्य षड्गुणस्य ज्यावर्गयुतस्य कृतस्य मूलं धनुःकाष्ठम्। ज्यावर्गचतुर्भागयुक्तमिषुवर्गमिषुविभक्तं तत्प्रकृतिवृत्तविष्कम्भः। उदग्धनुःकाष्ठाद्दक्षिणं शोध्यं शेषार्धं बाहुरिति॥

विष्कंभकृत दशगुणका मूल वृत्तपरिक्षेप है; और वह वृत्तपरिक्षेप विष्कंभपादाभ्यस्त गणित है। इच्छावगाह ऊनावगाहाभ्यस्त चतुर्गुण विष्कंभका मूल ज्या है । ज्या और विष्कंभका वर्ग विशेष मूल विष्कंभसे शोधनीय है। शेषार्ध इषु है। षड्गुण ज्या वर्ग-युक्त इषु वर्गकृतका षड्गुणमूल धनुःकाष्ठ है । और ज्या वर्गका चतुर्भागयुक्त और इषुसे विभक्त जो इषु वर्ग है, वह प्रकृतिवृत्त विष्कंभ है। और उदग्धनुःकाष्ठसे दक्षिण शोधनीय है। और शेषार्ध बाहु है।

अनेन करणाभ्युपायेन सर्वक्षेत्राणां सर्वपर्वतानामायामविष्कम्भज्येषुधनुःकाष्ठपरिमाणानि ज्ञातव्यानि ॥

इस कारणरूप उपायसे सब क्षेत्रोंके तथा सब पर्वतोंके आयाम, विष्कंभ, ज्या, इषु, और धनुःकाष्ठ रूप परिमाण जानने चाहिये[२] ।

द्विर्धातकीखण्डे ॥ १२ ॥

सूत्रार्थः—जम्बूद्वीपमें जो मन्दर तथा वंशधर पर्वतादि कहे हैं, वे सब धातकीं खण्डमें द्विगुण २ हैं।

भाष्यम्—एते मन्दरवंशवर्षधरा जम्बूद्वीपेऽभिहिता एते द्विगुणा धातकीखण्डे द्वाभ्यामिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां विभक्ताः । एभिरेव नामभिर्जम्बूद्वीपकसमसङ्ख्याः पूर्वार्धे चापरार्धे च चक्रारकसंस्थिता निषधसमोच्छ्रायाः कालोदलवणजलस्पर्शिनो वंशधराः सेष्वाकाराः। अरविवरसंस्थिता वंशा इति ॥

विशेषव्याख्या—जम्बूद्वीपमें जो मन्दर तथा वर्षधरपर्वतादि कथन किये हैं, वे सब धातकीखण्डमें दक्षिणसे उत्तरकी ओर लम्बायमान् दो इषुके आकारवाले इष्वाकार पर्वतोंसे विभक्त द्विगुण है । तथा धातकीखण्डके पूर्वार्द्ध और अपरार्द्धमे भी इन्हीं पूर्वोक्त नामोंसे संयुक्त, जम्बूद्वीपके समान संख्यायुक्त, चक्रमें (पहियेमें) आरकके समान स्थित, निषधपर्वतके तुल्य ऊंचे, कालोद और लवणसमुद्रके जलको स्पर्श करनेवाले, अर्थात् कालोदसे लवणसमुद्र तक विस्तृत, और इष्वाकार ये वंशधरपर्वत है। अरोके विवरोंमें (छिद्रोंमें) स्थितके समान है, इस कारणसे ये वंश कहे जाते है ॥१२॥

---

१ ये गणितके पारिभाषिक शब्द हैं, हमारी समझमें पूर्णरूपसे नहीं आये ।

२ इस विषयमें बहुतसे विद्वान् स्वय और भी अनेक सूत्रोंकी रचना करके उनका व्याख्यान करते हैं। विस्तार न हो, इसलिये आचार्यने सक्षेपसे यह तत्त्व संग्रह किया है, और इसी हेतुसे शास्त्रनिपुण जन विस्ताररूपसे जो सूत्रोंका कथन है; वह प्राचीन नहीं है, ऐसा कहते हैं। और विस्तार ही इष्ट है, तो लक्ष ग्रन्थकी, परिभाषारूपसे जम्बूद्वीपका विस्तार करें, तो भी क्या विस्तार हुआ? अर्थात् कुछ नहीं । अथवा विस्तारार्थीको उन आचार्योंके रचित सूत्रोंसे बहुत गुणयुक्त सिद्धान्त क्या निकल आता है? इस हेतु उनका अभिप्राय उपेक्षाके योग्य है।

पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥

सूत्रार्थः—जैसे धातकीखण्डमें मन्दरादिकोंकी संख्यादि विषय कहे, वैसे ही पुष्करार्धमें भी समझना चाहिये।

भाष्यम्—यश्च धातकीखण्डे मन्दरादीनां सेष्वाकारपर्वतानां सङ्ख्याविषयनियमः स एव पुष्करार्धे वेदितव्यः ॥

विशेषव्याख्या—मन्दरादि तथा इषुके आकारसहित वर्षधरपर्वतोंका जो द्विगुण संख्यादिका नियम वर्णन किया है, वही नियम पुष्करार्द्ध द्वीपमें जानना चाहिये।

ततः परं मानुषोत्तरो नाम पर्वतो मानुषलोकपरिक्षेपी सुनगरप्राकारवृत्तः पुष्करवरद्वीपार्धविनिविष्टः काञ्चनमयः सप्तदशैकविंशतियोजनशतान्युच्छ्रितश्चत्वारि त्रिंशानि क्रोशं चाधो धरणीतलमवगाढो योजनसहस्रं द्वाविंशमधस्ताद्विस्तृतः सप्तशतानि त्रयोविंशानि मध्ये चत्वारि चतुर्विंशान्युपरीति ॥

उसके अनन्तर **मानुषोत्तर** पर्वत है, जो कि मनुष्य लोकको घेरे हुए है, तथा उत्तम नगरके प्राकार (कोट)के सदृश वृत्ताकार, पुष्करार्ध द्वीपमें प्रविष्ट, सुवर्णमय, सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊंचा, एक कोस अधिक चारसौ तीस (तेतीस) योजन पृथ्वीके अधो भागमें नीचा, एक हजार बाईस योजन नीचेके अर्थात् मूलके विस्तारसहित और सातसौ तेईस योजन मध्यभागमें और चारसौ चोवीस योजन उपरिभागमे ऐसा मानुषोत्तर पर्वत है।

न कदाचिदस्मात्परतो जन्मतः संहरणतो वा चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्ता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च। अन्यत्र समुद्घातोपपाताभ्याम्। अत एव च मानुषोत्तर इत्युच्यते ॥

इस मानुषोत्तर पर्वतसे परे कदाचित् भी जन्मसे अथवा संहरणसे चारण विद्याधर, और ऋद्धि प्राप्त मनुष्य पूर्वकालमें न हुए और न होंगे, अर्थात्, इस पर्वतके आगे चारणादि न कभी जन्में न मरे और न जन्मेगे न मरेंगे। किन्तु यह नियम समुद्घात और उपपातको छोड़के है, अर्थात् समुद्घात और उपपात वाले मानुषोत्तरपर्वतके आगे भी जा सक्ते हैं। इस कारण इसका नाम मानुषोत्तर[1] है।

तदेवमर्वाङ्मानुषोत्तरस्यार्धतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं पञ्चमन्दराः पञ्चत्रिंशत्क्षेत्राणि त्रिंशद्वर्षधरपर्वताः पञ्च देवकुरवः पञ्चोत्तराः कुरवः शतं षष्ट्यधिकं चक्रवर्तिविजयानां द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके जनपदानामन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशदिति ॥

इस रीतिसे मानुषोत्तरपर्वतके पूर्व ढाई द्वीप, दो समुद्र, पांच मन्दर, पैतीस क्षेत्र,

---

१ जो इस भाष्यको विद्याधर ऋद्धिप्राप्तोंके गमनके निषेधमें लगाते हैं, उनको आगमका विरोध है, क्योंकि सब चारणादि तथा ऋद्धिप्राप्तोंका गमन मानुषोत्तरके आगे भी शास्त्रोंमें कहा है, परन्तु जन्ममरण बाहिर नहीं होता।

तीस वर्षधरपर्वत, पांच देवकुरु, पांच उत्तरकुरु, एक सौ साठ चक्रवर्त्तिविजय, दो सौ पचपन जनपद और छप्पन अन्तरद्वीप हैं ॥ १३ ॥

अत्राह । उक्तं भवता मानुषस्य स्वभावमार्दवार्जवत्वं चेति तत्र के मनुष्याः क्व चेति । अत्रोच्यते—

अब यहां पर कहते हैं कि, अपने मानुषके स्वभाव मार्दव (मृदुता) आर्जव (सरलता) तो कहे, परन्तु वहां मनुष्य कौन हैं और कहां रहते हैं? इसके उत्तरकेलिये यहां अग्रिम सूत्र कहते हैं,—

प्राग्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थः—मानुषोत्तरपर्वतके पूर्व ही अन्तरद्वीपोंमें तथा पैंतीस क्षेत्रोंमें जन्मसे मनुष्य होते हैं ।

भाष्यम्—प्राग्मानुषोत्तरात्पर्वतात्पञ्चत्रिंशत्सु क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु जन्मतो मनुष्या भवन्ति । संहरणविद्यर्द्धियोगात्तु सर्वेष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु समुद्रद्वये च समन्दरशिखरेष्विति ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वमें जिस मानुषोत्तर पर्वतका वर्णन किया है, उसके पूर्व ही अन्तर द्वीपों सहित पैंतीस क्षेत्रोंमें जन्म धारण करके मनुष्य होते हैं, अर्थात् मनुष्योंका जन्म मानुषोत्तर पर्वतके पूर्व ही होता है । और संहरण तथा विद्या ऋद्धिके योगसे तो मन्दरके शिखरोंसहित ढाई द्वीपोंमें और दोनों समुद्रोंमें भी मनुष्योंके गमनादि होते है ।

भारतका हैमवतका इत्येवमादयः क्षेत्रविभागेन । जम्बूद्वीपका लवणका इत्येवमादयो द्वीपसमुद्रविभागेनेति ॥

और उन क्षेत्रोंके विभागसे भारतक, हैमवतक, अर्थात् भरत वा हेमवत आदि क्षेत्रोंमें होनेवाले इत्यादि संज्ञा होती है । और जम्बूद्वीपक तथा लवणक इत्यादि संज्ञा द्वीप तथा समुद्रके विभागसे होती है ॥ १४ ॥

आर्या म्लिशश्च ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—मनुष्योंके आर्य और म्लिश अथवा म्लेच्छ ये दो भेद है ।

भाष्यम्—द्विविधा मनुष्या भवन्ति । आर्या म्लिशश्च ॥ तत्रार्याः षड्विधाः । क्षेत्रार्या जात्यार्याः कुलार्याः कर्मार्याः शिल्पार्या भाषार्या इति । तत्र क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः । तद्यथा । भरतेष्वर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बष्ठाः ज्ञाताः कुरवो बुंबुनाला उग्रा भोगा राजन्या इत्येवमादयः । कुलार्याः कुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादापञ्चमादासप्तमाद्वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः । कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिलिपिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः । शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनापिततुन्नवायदेवटादयोऽल्पसावद्या

१ म्लेंच्छाश्चेत्यपि पाठ. ।

आगर्हिता जीवाः । भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्णं लोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधानामप्यार्याणां संव्यवहारं भाषन्ते ॥

विशेषव्याख्या—मनुष्य दो प्रकारके है, आर्य और म्लिश । उनमेंसे आर्य छह प्रकारके हैं, क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, तथा भाषार्य । इनमेंसे क्षेत्रार्य वे हैं, जो पन्द्रह प्रकारकी कर्म भूमियोंमें उत्पन्न है, जैसे भारतवर्षके साढ़े छब्बीस जनपदोंमें तथा शेष चक्रवर्तीविजयोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य । अर्थात् आर्यक्षेत्रोंमें उत्पन्न होनेसे उनकी आर्य संज्ञा हुई है । और **जात्यार्य** अर्थात् जातिसे आर्य; जैसे इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरु, बुंबुनाल, उग्र, भोग, तथा राजन्य इत्यादि । कुलसे आर्य; जैसे कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव, अथवा और जो कुलकरोंके तीसरेसे आरंभ करके पंचमसे आदिलेके अथवा सप्तमकुलसे जो उत्पन्न हुए हैं, जिनका विशुद्धकुल और प्रकृति है, वे सब **कुलार्य** हैं । तथा **कर्मार्य** अर्थात् कर्मसे आर्य, जैसे; यजन (यज्ञकरना) याजन (यज्ञकराना), अध्ययन, अध्यापन आदि प्रयोग करनेवाले तथा कृषि (खेती), लिपि (लेखन), वाणिज्य (व्यापार), आदि योनि पोषणकी वृत्ति करनेवाले सब **कर्म्मार्य** है । और तन्तुवाय (कपड़े बुननेवाले), कुलाल (कुंभार), नापित (नाई), तुन्नवाय (सूत कातनेवाले), और देवट आदि जो अल्पपापयुक्त अथवा अनिन्दित जीविका करनेवाले है, वे **शिल्पार्य** है । और **भाषार्य** वे है, जो शिष्टभाषाके नियत वर्णोंसे ने हुए और लोकमें प्रसिद्ध स्पष्ट शब्दोंको जिनको कि पूर्वोक्त पांच प्रकारके आर्य व्यवहारमें लाते है, भाषण करते है ।

अतो विपरीता म्लिशः । तद्यथा । हिमवतश्चतसृषु विदिक्षु त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियोजनशतविष्कम्भायामाः । तद्यथा । एकोरुकाणामाभाषकाणां लाङ्गूलिकानां वैषाणिकानामिति ॥ चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । हयकर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शष्कुलिकर्णानामिति ॥ पञ्चशतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । गजमुखानां व्याघ्रमुखानामादर्शमुखानां गोमुखानामिति ॥ षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । अश्वमुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति ॥ सप्त योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । अश्वकर्णसिंहकर्णहस्तिकर्णकर्णप्रावरणनामानः ॥ अष्टौ योजनशतान्यवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । उल्कामुखविद्युज्जिह्वमेषमुखविद्युद्दन्तनामानः ॥ नवयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा भवन्ति । तद्यथा । घनदन्तगूढदन्तविशिष्टदन्तशुद्धदन्तनामानः ॥ एकोरुकाणामेकोरुकद्वीपः । एवं शेषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वेदितव्याः ॥ शिखरिणोऽप्येवमेवेत्येवं षट्पञ्चाशदिति ॥

और इनके विरुद्ध म्लिश अर्थात् म्लेच्छ हैं । जैसे; हिमवानपर्वतकी चारों विदिशाओंमें तीनसौ योजन लवणसमुद्रमें प्रवेश करके, चार मनुष्योंकी विजातियों (निंद्य

जातियों)के निवासार्थं तीनसौ योजन लम्बे चौड़े चार ही अन्तरद्वीप हैं। जैसे; एकोरुक अर्थात् एकजंघावालोंका, अभाषकोंका, लाङ्गूलिकों अर्थात् पुच्छवालोंका, तथा वैषाणिकों अर्थात् सींगवालोंका अन्तरद्वीप । और चारसौ योजन प्रवेशकरके चारसौ योजन ही आयाम तथा विष्कंभसहित चार अन्तरद्वीप हैं । जैसे; हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, शष्कुलिकर्णवालोंके । तथा पांचसौ योजन प्रवेश करके पांचसौ ही योजन आयाम तथा विष्कंभसहित अन्तरद्वीप है । जैसे; गजमुख, व्याघ्रमुख, आदर्शमुख तथा गोमुखवालोंके । और छहसौ योजन प्रवेश करके छहसौ योजन ही आयाम तथा विष्कंभ प्रमाणवाले अन्तरद्वीप है । जैसे; अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख तथा व्याघ्रमुखवालोंके । और ऐसे ही सातसौ योजन प्रवेश करके सात ही सौ योजन आयाम विष्कंभ प्रमाण अन्तरद्वीप हैं; जैसे; अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, हस्तिकर्ण, और कर्णप्रावरणोंके । और ऐसे ही आठसौ योजन प्रवेश करके आठसौ योजन आयाम तथा विष्कंभप्रमाणसहित ही अन्तरद्वीप है । जैसे; उल्कामुख, विद्युज्जिव्ह, मेषमुख, और विद्युद्दन्तोंके । तथा नव सौ योजन प्रवेश करके नव सौ योजन विस्तार विष्कंभसहित अन्तर द्वीप है । जैसे; घनदन्त, गूढ़दन्त, विशिष्टदन्त, तथा शुद्धदन्तोंके । अब यहां यह जानना आवश्यक है कि, एकोरुक संज्ञक म्लेच्छोंका **एकोरुक** नाम अन्तरद्वीप है, आभाषकोंका **आभाषक**; इसी प्रकार शेष अन्य म्लेच्छोंके उसी २ नामके अर्थात् जो उनके नाम है, उसी नामके अन्तरद्वीप जानने चाहिये । इसी प्रकार छप्पन अन्तरद्वीप शिखरीपर्वत सम्बन्धी भी जानने चाहिये[1] ॥ १५ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—मनुष्यक्षेत्रोंमे भरत, ऐरावत तथा विदेह ये कर्म भूमियां हैं, देवकुरु तथा उत्तरकुरुको छोड़ करके ।

भाष्यम्—मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतविदेहाः पञ्चदश कर्मभूमयो भवन्ति । अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः । संसारदुर्गान्तगमकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य ज्ञातारः कर्त्तार उपदेष्टारश्च भगवन्तः परमर्षयस्तीर्थकरा अत्रोत्पद्यन्ते । अत्रैव जाताः सिद्ध्यन्ति नान्यत्र । अतो निर्वाणाय कर्मणः सिद्धिभूमयः कर्मभूमय इति । शेषासु विंशतिर्वंशाः सान्तरद्वीपा अकर्मभूमयो भवन्ति । देवकुरूत्तरकुरवस्तु कर्मभूम्यभ्यन्तरा अप्यकर्मभूमय इति ॥

विशेषव्याख्या—मानुषोत्तर पर्वतके पूर्व जो मनुष्यक्षेत्र वर्णन किया है, उसमे भरत, ऐरावत तथा विदेहमें पंचदश कर्मभूमि है, किन्तु इनके अभ्यन्तर जो देवकुरु तथा उत्त-

---

१ यह अन्तर द्वीपका भाष्य प्राय. नष्ट होगया है, कई दुर्विदग्ध छयानवे अन्तर द्वीप भाष्यमें लिखते है, परन्तु यह अनार्ष है, क्योंकि आर्ष जीवागमादि ५६ ही मिलता है । वाचक परपरासे यह भेद नहीं है, क्योंकि सूत्रका उलघन नहीं होता । इस लिये इष्ट सिद्धांत भाष्यको नष्ट किया है ।

रकुरु भोगभूमियां हैं, उन्हें छोड़ करके। अर्थात् ये दोनों कर्मभूमि नहीं हैं। संसाररूपी अति भयंकर दुर्गके अन्तको प्राप्त करनेवाला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र स्वरूप जो मोक्षमार्ग है, उसके जाननेवाले, करनेवाले तथा उपदेशदाता भगवान् परमर्षि तीर्थंकर इन्हीं कर्मभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं। और इन्हीं कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीव सिद्धि अर्थात् मोक्षसिद्धिको प्राप्त होते हैं, दूसरी भूमियोंसे नहीं। अतएव कर्मभूमि, निर्वाणकेलिये जो कर्म हैं, उनकी सिद्धिकी भूमि हैं। और इनसे शेष जो अन्तरद्वीप सहित बीस वंश अर्थात् क्षेत्र हैं, वे अकर्मभूमि है। और देवकुरु तथा उत्तरकुरु कर्मभूमियोंके अभ्यन्तर प्रविष्ट होने पर भी अकर्मभूमि हैं ॥ १६ ॥

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नरो नरा मनुष्या मानुषा इत्यनर्थान्तरम्। मनुष्याणां परा स्थितिस्त्रीणिपल्योपमान्यपरान्तर्मुहूर्तेति ॥

सूत्रार्थः—नृ, नर, तथा मनुष्य, मानुष इन शब्दोंका एक ही अर्थ है। मनुष्योंकी परा अर्थात् उत्कृष्टस्थिति तीनपल्यकी है, और अपरा अर्थात् जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है ॥ १७ ॥

[1]तिर्यग्योनीनां च ॥ १८ ॥

सूत्रार्थः—जो तिर्यग्योनिसे उत्पन्न होते हैं, उनकी भी उत्कृष्टस्थिति तीनपल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

भाष्यम्—तिर्यग्योनिजानां च परापरे स्थिती त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते भवतो यथासङ्ख्यमेव। पृथक्करणं यथासङ्ख्यदोषविनिवृत्त्यर्थम्। इतरथा इदमेकमेव सूत्रमभविष्यदुभत्रय चोभे यथासङ्ख्यं स्यातामिति ॥

विशेषव्याख्या—तिर्यग्योनिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी भी परास्थिति तीन पल्योपम है, और अपरास्थिति अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है। परा तथा अपराका, और त्रिपल्योपम तथा अन्तर्मुहूर्तका यथासांख्य है। अर्थात् परास्थिति त्रिपल्योपम है, और अपरा अन्तर्मुहूर्त है और "नृस्थिती" इत्यादिसूत्र तथा "तिर्यग्योनिजानां च" इस सूत्रको यथासंख्य दोषकी निवृतिकेलिये पृथक् २ किया है। अन्यथा एक सूत्र होता, और मनुष्योंकी परास्थिति त्रिपल्योपम होती है, और तिर्यग्योनिजोंकी अपरा अन्तर्मुहूर्त कालतककी स्थिति है; ऐसा यथासंख्य बोध हो जाता।

द्विविधा चैषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां स्थितिः। भवस्थितिः कायस्थितिश्च। मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते परापरे भवस्थिती। कायस्थितिस्तु परा सप्ताष्टौ वा भवग्रहणानि ॥ तिर्यग्योनिजानां च यथोक्ते समासतः परापरे भवस्थिती। व्यासतस्तु शुद्धपृथि

---

1 तिर्यग्योनिजानां चेत्यपि पाठः।

वीकायस्य परा द्वादशवर्षसहस्राणि । खरपृथिवीकायस्य द्वाविंशतिः। अप्कायस्य सप्त। वायुकायस्य त्रीणि। तेजःकायस्य त्रीणि रात्रिंदिनानि। वनस्पतिकायस्य दशवर्षसहस्राणि। एषां कायस्थितिरसङ्ख्येया अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यो वनस्पतिकायस्यानन्ताः। द्वीन्द्रियाणां भवस्थितिर्द्वादशवर्षाणि । त्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद्रात्रिंदिनानि । चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः। एषां कायस्थितिः सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः पञ्चविधाः। तद्यथा। मत्स्या उरगाः परिसर्पाः पक्षिणश्चतुष्पदा इति। तत्र मत्स्यानामुरगाणां भुजगानां च पूर्वकोट्येव पक्षिणां पल्योपमासङ्ख्येयभागश्चतुष्पदानां त्रीणि पल्योपमानि गर्भजानां स्थितिः। तत्र मत्स्यानां भवस्थितिः पूर्वकोटिस्त्रिपञ्चाशदुरगाणां द्विचत्वारिंशद्भुजगानां द्विसप्ततिः पक्षिणां स्थलचराणां चतुरशीतिर्वर्षसहस्राणि सम्मूर्छिनानां भवस्थितिः । एषां कायस्थितिः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि। सर्वेषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां कायस्थितिरप्यपरान्तर्मुहूर्तैवेति ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे लोकप्रज्ञप्तिर्नामा तृतीयोध्यायः समाप्तः ॥

और मनुष्य तथा तिर्यग्योनिवालोंकी स्थितिके पुनः दो भेद होते है, एक भवस्थिति दूसरी कायस्थिति। सो मनुष्योंकी परा तथा अपरा भवस्थिति पूर्वोक्त रीतिसे ही होती है। जैसे परा भवस्थिति त्रिपल्योपम होती है, अपरा भवस्थिति अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त होती है। और कायस्थिति जो परा है, वह सात व आठ भवग्रहण पर्यन्त रहती है। और तिर्यग्योनिजोंकी समास व समृष्टिरूपसे परापर भवस्थिति पूर्वोक्त रूपसे है। और पृथक् २ रूपसे तो शुद्ध पृथिवीकायकी परास्थिति बारहहजार वर्ष पर्यन्त है, और खर पृथिवीकायकी परास्थिति बावीसहजार वर्ष पर्यन्त है । तथा अप्कायकी सात, वायुकायकी तीन तथा तैजसकायकी तीन रात दिनकी स्थिति है । और वनस्पतिकायकी दशहजार वर्ष है। तथा इनकी कायस्थिति भी असंखेय है। और वनस्पतिकायकी अनन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी हैं । दो इन्द्रियवालोंकी भवस्थिति बारहवर्ष पर्यन्त है। तीन इन्द्रियवालोंकी एक कम पचास अर्थात् उनचास रातदिन है। चार इन्द्रियवालोंकी छह महिना है, और इनकी कायस्थिति संख्येय सहस्रवर्ष पर्यन्त है। पांच इन्द्रियवाले तिर्यग्योनिजोंके पांच भेद है, यथा; मत्स्य, उरग, परिसर्प (चारों ओर फिसलके चलनेवाले), पक्षी और चतुष्पद (चौपाये)। इनमेसे मत्स्य, उरग और भुजगोंकी एकपूर्वकोटि ही स्थिति है। पक्षियोंकी पल्योपम असंख्येयभाग, और गर्भज चतुष्पदोंकी तीन पल्योपम स्थिति है। उनमें मत्स्योंकी भवस्थिति पूर्वकोटि है, उरगोंकी तिरपन, भुजगोंकी व्यालीस, पक्षियोंकी बहत्तर है। और स्थलचारी संमूर्छनजन्मवालोंकी चौरासी सहस्र वर्ष भवस्थिति है। और इन सबकी कायस्थिति सात वा आठ भवग्रहण पर्यन्त है। और सम्पूर्ण मनुष्य तथा तिर्यग्योनिजोंकी अपरा कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है।

इति द्विवेद्युपनामकाचार्य्यपदवीधारिठाकुरप्रसादशर्मविरचितभाषाटीकासमलङ्कृते तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अत्राह । उक्तं भवता भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति । तथौदयिकेषु भावेषु देवगतिरिति । केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । सरागसंयमादयो देवस्य । नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि । न देवाः । तत्र के देवाः । कतिविधा वेति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते है कि "भवप्रत्यय अर्थात् भव वा जन्मनिमित्तक अवधिज्ञान देव तथा नारक जीवोंको होता है" (अ० १ सू० २२)। "औदयिक भावोंमें देवगति है अर्थात् इक्कीस प्रकारके औदयिक भावोंमें देवगति भी एक है" (अ०२ सू० ६)। "केवली भगवान्, शास्त्र, चार प्रकारके संघ, धर्म और भवनवासी आदि देवोंका अवर्णवाद दर्शनमोहके आस्रवका हेतु है" (अ० ६ सू० १४)। "सराग संयमादि देवायुके कारण है" (अ० ६ सू० २०)। "नारकजीव तथा सम्मूर्च्छन जन्मवाले नपुंसक होते हैं। देव नहीं होते" (अ० २ सू० ५०–५१)। इत्यादि स्थलोंमें आपने देव शब्दका प्रयोग किया। अब प्रश्न यह है कि, देव कौन हैं? और उनके भेद कितने हैं? उत्तरमें यहां सूत्र कहते हैं;–

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

सूत्रार्थः—देव चार निकायोंसे संयुक्त है।

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया भवन्ति । तान्परस्ताद्वक्ष्यामः ॥

विशेषव्याख्या—देवोंके चार निकाय हैं, उन चारोंको हम आगे कहेंगे । यहां पर निकाय शब्दका अर्थ समानधर्मवाले प्राणियोंका समूह वा संघ है।

तृतीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

सूत्रार्थः—तृतीय निकाय पीतलेश्यावाला है।

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां देवनिकायानां तृतीयो देवनिकायः पीतलेश्य एव भवति । कश्चासौ । ज्योतिष्क इति ॥

विशेषव्याख्या—देवोंके जो चार निकाय अर्थात् समुदाय हैं, उनमेंसे जो तीसरा समुदाय है, उसके पीतलेश्या ही है। वह तीसरा निकाय ज्योतिष्कदेवोंका है, अर्थात् तीसरे निकायवाले जो ज्योतिष्कदेव है, वे पीतलेश्यावाले होते है।

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थः—वे देवनिकाय कल्पोपपन्नपर्यन्त क्रमसे दश, आठ, पांच और बारह भेद युक्त हैं।

भाष्यम्—ते च देवनिकाया यथासङ्ख्यमेवं विकल्पा भवन्ति । तद्यथा । दशविकल्पा भवनवासिनोऽसुरादयो वक्ष्यन्ते । अष्टविकल्पा व्यन्तराः किन्नरादयः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः सूर्यादयः । द्वादशविकल्पा वैमानिकाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः सौधर्मादिष्विति ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वमें जो चार निकाय देवोंके कहे है, वे यथासंख्य नियमसे इस प्रकार विकल्प अर्थात् भेदयुक्त हैं । यथा; प्रथम भवनवासीदेवोंके दश भेद है; वे दश-भेद असुरादिक आगे कहे जावेंगे । द्वितीय व्यन्तरदेवोंके किन्नरादि आठ भेद है । तृतीय ज्योतिष्कदेवोंके सूर्यादि पांच भेद है । और चतुर्थ वैमानिकदेवोंके सौधर्मादि बारह भेद हैं । इस प्रकार कल्पोपपन्न अर्थात् स्वर्गवासी देवों पर्यन्त ही भेद है ।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थः—पूर्वोक्त निकायोंमें प्रत्येकके इन्द्र सामानिकादि दश २ भेद है ।

भाष्यम्—एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति । तद्यथा । इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्बिषिकाश्चेति । तत्रेन्द्राः भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कविमानाधिपतयः । इन्द्रसमानाः सामानिका अमात्यपितृगुरूपाध्यायमहत्तरवत् केवलमिन्द्रत्वहीनाः । त्रायस्त्रिंशा मन्त्रिपुरोहितस्थानीयाः । पारिषद्या वयस्यस्थानीयाः । आत्मरक्षाः शिरोरक्षस्थानीयाः । लोकपाला आरक्षिकार्थचरस्थानीयाः । अनीकाधिपतयो दण्डनायकस्थानीयाः । अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव । प्रकीर्णकाः पौरजनपदस्थानीयाः । आभियोग्या दासस्थानीयाः । किल्बिषिका अन्तस्थस्थानीया इति ॥

विशेषव्याख्या—उन देव निकायोंमें एक २ में दश २ भेद सहित देव होते है । यथा;–इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल[1], अनीक[2] वा अनीकाधिपति, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक । ये इन दश भेदोंमें जो इन्द्र है, वे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और विमान प्रत्येकके अधिपति है, अर्थात् प्रत्येक समुदायके अधिपति वा स्वामीको **इन्द्र** कहते है । **सामानिक** इन्द्रके समान होते है, अर्थात् जो अमात्य पिता, गुरु, उपाध्यायोंके सदृश महत्व वा महिमायुक्त होते है, केवल इन्द्रत्व उनमें नही होता, वे **सामानिक** है । मंत्री पुरोहितादिकोंके स्थानापन्न **त्रायस्त्रिंश** है । वयस्य अर्थात् मित्रोंके स्थानापन्न **पारिषद्य** है । शिरकी रक्षा करनेवालोंके स्थानापन्न **आत्मरक्ष** हैं । जैसे राजाओंके यहां आरक्षक अर्थचर कोतवालादि है, वैसे ही **लोकपाल** है ।

---

१ जो निज विषयमें सधि तथा रक्षामें नियत हैं, चौरादिको जो पकडते हैं, जैसे राजाओंके यहा कोतवालादिक होते हैं, उन्हींके स्थानापन्न लोकपाल है ।

२ सूत्रमें केवल '**अनीक**' ही का ग्रहण किया है, और भाष्यमें '**अनीकानि**' लिखके '**अनीकाधिपतयः**' (अनीकके अधिपत) ऐसा भी लिखा है, परन्तु यहां '**अनीक**' तथा '**अनीकाधिपति**' इन दोनोंसे एक ही तात्पर्य है । इसी विचारसे भाष्यकारने '**अनीकानि**' इसका विवरण (टीका) '**अनीकाधिपतयः**' यह किया है, न कि '**अनीक**' और '**अनीकाधिपत**' दो भेद कहे हैं । और ऐसा न माननेसे दश भेद जो कहे हैं, उनका विरोध होगा, क्योंकि **अनीकाधिपति**को भिन्न माननेसे ११ भेद होते हैं ।

अनीकाधिपति दण्डनायक अर्थात् माजिष्ट्रेटके स्थानापन्न हैं, और अनीक अर्थात् सेनाके स्थानापन्न अनीक हैं। प्रकीर्णक पुरवासी तथा जनपद (राज्यकी प्रजा) के स्थानापन्न हैं। आभियोग्य दासोंके स्थानापन्न हैं। और किल्बिषिक अन्तस्थ अर्थात् शूद्र व नीच जातिके स्थानापन्न हैं।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थः—व्यन्तर और ज्योतिष्कदेव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल वर्जित हैं।

भाष्यम्—व्यन्तरा ज्योतिष्काश्चाष्टविधा भवन्ति त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या इति ॥

विशेषव्याख्या—चार निकायोंमेंसे व्यन्तर तथा ज्योतिष्क इन दो निकायोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपालवर्जित आठ ही भेद हैं। अर्थात् व्यन्तर ज्योतिष्कोंमें त्रायस्त्रिंश लोकपाल नहीं होते।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—पूर्वके दो निकायोंमें दो २ इन्द्र हैं।

भाष्यम्—पूर्वयोर्देवनिकाययोर्भवनवासिव्यन्तरयोर्देवविकल्पानां द्वौ द्वाविन्द्रौ भवतः। तद्यथा। भवनवासिषु तावद्द्वौ असुरकुमाराणामिन्द्रौ भवतश्चमरो बलिश्च। नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च। विद्युत्कुमाराणां हरिर्हरिसहश्च। सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुदारी च। अग्निकुमाराणामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च। वातकुमाराणां वेलम्बः प्रभञ्जनश्च। स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च। उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च। द्वीपकुमाराणां पूर्णोऽवशिष्टश्च। दिक्कुमाराणाममितोऽमितवाहनश्चेति ॥ व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च। किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च। महोरगाणामतिकायो महाकायश्च। गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च। यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च। राक्षसानां भीमो महाभीमश्च। भूतानां प्रतिरूपोऽतिरूपश्च। पिशाचानां कालो महाकालश्चेति ॥ ज्योतिष्काणां तु बहवः सूर्याश्चन्द्रमसश्च ॥ वैमानिकानामेकैक एव। तद्यथा। सौधर्मे शक्रः। ऐशाने ईशानः। सनत्कुमारे सनत्कुमार इति। एवं सर्वकल्पेषु स्वकल्पाह्वाः। परतस्त्विन्द्रादयो दश विशेषा न सन्ति। सर्व एव स्वतन्त्रा इति ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वकथित चार निकायोंमेंसे पूर्वके जो दो निकाय भवनवासी और व्यन्तर हैं, उनमें दो २ इन्द्र हैं। यथा; भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके दो इन्द्र हैं, एक चमर और दूसरा बलि। नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द। विद्युतकुमारोंके हरि और हरिसह। सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुदारी। अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव। वातकुमारोंके वेलम्ब और प्रभंजन। स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष। उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ। द्वीपकुमारोंके पूर्ण तथा अवशिष्ट। दिक्कुमारोंके अमित और वाहन। और व्यन्तरोंमें भी किन्नरोंके दो इन्द्र हैं, एक किन्नर और दूसरा किम्पुरुष। किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष। महोरगोंके

अतिकाय और **महाकाय**। गन्धर्वोंके **गीतिरति** और **गीतियश**। यक्षोंके **पूर्णभद्र** और **महाभद्र** और राक्षसोंके **भीम** और **महाभीम**। भूतोंके **प्रतिरूप** और **अतिरूप**। और पिशाचोंके **काल महाकाल** नामके दो इन्द्र हैं। इस प्रकार भवनवासी और व्यन्तरोंके भेदोमें प्रत्येकके दो २ इन्द्र बतलाये। शेष दो निकायोंमेंसे ज्योतिष्कोंमें अनेक **सूर्य** तथा **चन्द्रमा** इन्द्र हैं। और वैमानिकोंमें एक एक ही इन्द्र है। यथा; सौधर्ममें **शक्र** इन्द्र है। ऐशानस्वर्गमें **ईशान** इन्द्र है। सनत्कुमारस्वर्गमें **सनत्कुमार** इन्द्र है। इसी प्रकार सर्व कल्पोंमें उसी २ कल्पके स्वनामके इन्द्र है। परन्तु कल्पोंके आगे इन्द्रादि दश भेद नहीं है, वहां तो सब ही स्वतंत्र हैं।

पीतान्तलेश्याः॥ ७॥

सूत्रार्थः—पूर्वके दो निकायोंमें पीतान्त लेश्या होती हैं।

भाष्यम्—पूर्वयोर्निकाययोर्देवानां पीतान्ताश्चतस्रो लेश्या भवन्ति॥

विशेषव्याख्या—पूर्वके जो भवनवासी और व्यन्तर ये दो निकाय हैं, उन निकायके देवोंको आरंभसे लेकर पीतपर्यन्त चार लेश्या होती हैं। अर्थात् उनको कृष्णा, नीला, कापोता और पीता ये चार लेश्या होती हैं॥ ७॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्॥ ८॥

सूत्रार्थः—ऐशान स्वर्गपर्यन्त देवोंके कायप्रवीचार है।

भाष्यम्—भवनवास्यादयो देवा आ ऐशानात्कायप्रवीचारा भवन्ति। कायेन प्रवीचार एषामिति कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम्। ते हि संक्लिष्टकर्माणो मनुष्यवन्मैथुनसुखमनुप्रलीयमानास्तीव्रानुशयाः कायसंक्लेशजं सर्वाङ्गीणं स्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिमुपलभन्त इति॥

विशेषव्याख्या—भवनवासी देवोंसे आदि लेकर ऐशानस्वर्ग तकके देव कायप्रवीचार हैं। काय अर्थात शरीरसे जिनका प्रवीचार है, वे कायप्रवीचार। और मैथुन विषयका जो उपसेवन सो प्रवीचार, यह कायप्रवीचारका अर्थ है। सारांश शरीरकेद्वारा मैथुनविषयका जो उपभोग, संभोग अथवा उपसेवन करते है, वे कायप्रवीचार है। ये अर्थात् भवनवासीयोंसे लेकर ऐशानकल्प तकके देव निश्चयकरके संक्लिष्टकर्मवाले हैं; अतएव मनुष्योंके समान मैथुनके सुखको अनुभवन करते हुए तीव्रकामनासे युक्त होकर कायसम्बन्धी क्लेशजन्य सम्पूर्ण अंगोका जो स्पर्श है, उस स्पर्शजनितसुखको प्राप्त होकर प्रीतिको प्राप्त होते है।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः॥ ९॥

सूत्रार्थः—शेष आठ कल्पोंके देवोंमेसे दो २ कल्पोंके देव यथासंख्य करके क्रमसे स्पर्श, रूप, शब्द तथा मनसे प्रवीचार करनेवाले है।

भाष्यम्—ऐशानादूर्ध्वं शेषाः कल्पोपपन्ना देवा द्वयोर्द्वयोः कल्पयोः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा भवन्ति यथासङ्ख्यम् । तद्यथा । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवान्मैथुनसुखप्रेप्सूनुत्पन्नास्थान्विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते । ताः स्पृष्ट्वैव च ते प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ तथा ब्रह्मलोकलान्तकयोर्देवानेवंभूतोत्पन्नास्थान्विदित्वा देव्यो दिव्यानि स्वभावभास्वराणि सर्वाङ्गमनोहराणि शृङ्गारोदाराभिजाताकारविलासान्युज्ज्वलचारुवेषाभरणानि स्वानि रूपाणि दर्शयन्ति । तानि दृष्ट्वैव ते प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ तथा महाशुक्रसहस्रारयोर्देवानुत्पन्नप्रवीचारास्थान्विदित्वा देव्यः श्रुतिविषयसुखानत्यन्तमनोहरान् शृङ्गारोदाराभिजातविलासाभिलापच्छेदतलतालाभरणरवमिश्रान्हसितकथितगीतशब्दानुदीरयन्ति । तान् श्रुत्वैव ते प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ आनतप्राणतारणाच्युतकल्पवासिनो देवाः प्रवीचारायोत्पन्नास्था देवीः संकल्पयन्ति संकल्पमात्रेणैव ते परां प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ एभिश्च प्रवीचारैः परतः परतः प्रीतिप्रकर्षविशेषोऽनुपमगुणो भवति प्रवीचारिणामल्पसंक्लेशत्वात् । स्थितिप्रभावाभिरधिका इति वक्ष्यते ॥

विशेषव्याख्या—ऊपर कहे हुए ईशानस्वर्गसे ऊपर शेष जो कल्पोपपन्न देव हैं । वे दो २ कल्पोंके क्रमसे स्पर्श, रूप, शब्द तथा मनसे प्रवीचार अर्थात् मैथुन सेवन करनेवाले है । सो इस प्रकार कि, सनत्कुमार तथा माहेन्द्र कल्पोंके देवोंको मैथुन सुखके अभिलाषी तथा उत्पन्न आस्था (आशा वा कामना) सहित जानकर देवी अर्थात् देवाङ्गना उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं । उन देवियोंको स्पर्श करनेसे ही वे देव प्रीतिको प्राप्त होते है और कामनानिवृत्त भी हो जाते हैं । ऐसे ही ब्रह्मलोक तथा लोकान्तकके देवोंको देवाङ्गनायें दिव्य, स्वभावसे ही प्रकाशशील, सर्वाङ्गमनोहर, शृंगारके उत्तम आकार विलासोंसे पूर्ण, तथा उज्ज्वल और रमणीय वेष (वस्त्रादि) और भूषणादि युक्त अपने रूपोंको दिखाती है । वे देव उनके अति मनोहर रूपको देखते ही प्रीतिको प्राप्त होते हैं, तथा कामनासे भी निवृत्त हो जाते है । इसी प्रकार महाशुक्र तथा सहस्रार स्वर्गके देवोंको उत्पन्न मैथुनकी कामनासहित जानकर देवियां उनके निकट आकर उपस्थित होती है, और उनके सम्मुख श्रवण विषयको सुखदायक, अत्यन्त मनोहर शृंगार, उदार (उत्कृष्ट) अभिजात विलास अभिलाप छेद तलतालयुक्त, आभूषणोंके शब्द सहित, हसित कथित गीतके शब्दोंको उच्चारण करती है । उन्हीं शब्दोंके श्रवणमात्रसे वे प्रीतिको प्राप्त होते है और कामनासे भी रहित हो जाते हैं । और आनत, प्राणत तथा आरण, अच्युत कल्पोंके जो देव हैं, उन्हें जिस समय मैथुन सेवनकी कामना होती है, उसी समय वे देवियोंका संकल्प करते हैं, और केवल अपने मनके संकल्पमात्रसे ही परमप्रीतिको प्राप्त होते है, और मैथुनकी कामनासे भी निवृत्त हो जाते है । इन शरीर, स्पर्श, रूप, शब्द तथा मनकेद्वारा मैथुनके उपसेवनोंसे आगे २ के देवोंके प्रीतिका प्रकर्ष विशेष अनुपम गुण है । क्योंकि आगे २ के मैथुनसेवि-

योंके अल्पसंक्लेश है। और स्थितिप्रभावादिसे भी अधिक अधिक हैं, ऐसा आगे कहेंगे (अ० ४ सू० २१)।

परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

सूत्रार्थः—कल्पोपपन्नसे परे जो देव है, वे अप्रवीचार हैं।

भाष्यम्—कल्पोपपन्नेभ्यः परे देवा अप्रवीचारा भवन्ति। अल्पसंक्लेशत्वात् स्वस्थाः शीतीभूताः। पञ्चविधप्रवीचारोद्भवादपि प्रीतिविशेषादपरिमितगुणप्रीतिप्रकर्षाः परमसुखतृप्ता एव भवन्ति ॥

अत्राह। उक्तं भवता देवाश्चतुर्निकाया दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पा इत्युक्ते निकायाः के के चैषां विकल्पा इति। अत्रोच्यते। चत्वारो देवनिकायाः। तद्यथा। भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका इति ॥ तत्र—

विशेषव्याख्या—यहां पर्यन्त तो आरंभसे लेके कल्पोपपन्नपर्यन्त देवोंके प्रवीचारका वर्णन किया, अब इसके पश्चात् कल्पसे परे अर्थात् कल्पातीतकी व्यवस्था कहते है कि—कल्पोपपन्नोंसे परे जो देव है वे अप्रवीचार होते है, अर्थात् उनके मैथुन सेवन नहीं होता। क्योंकि इन देवोंके संक्लेश अथवा संक्लिष्टकर्म अल्प होते है, अतएव वे स्वस्थ, शान्त और सदा शीतलभूत रहते है। पांच प्रकारके प्रवीचारद्वारा अर्थात् काय, स्पर्श, रूप, शब्द तथा मनोजन्य मैथुन सेवनकेद्वारा उत्पन्न जो प्रीतिविशेष है, उससे भी अपरिमितगुण अर्थात् पूर्वोक्त पंचविध मैथुनोंसे जो आनन्द होता है, उससे अपरिमित–अनन्तगुण प्रीति वा आनन्दकी अधिकतायुक्त ये देवगण होते हैं, अतएव परमसुखतृप्त ही रहते है ॥ १० ॥

अब यहां कहते हैं कि, आपने देवोंके चार निकाय कहे और क्रमसे प्रथम निकाय दश भेद, द्वितीय आठ भेद, तृतीय पांच भेद और चतुर्थ बारह भेदसहित है, यह भी कहा, तब चारों निकाय कौन २ है? तथा उनके दश, आठ, पांच तथा बारह विकल्प भी कौन २ हैं। इसका समाधान यहां कहते है। चार देव निकाय है। सो इस प्रकार कि, १ भवनवासी, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक। इनमें—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थः—भवनवासियोंके असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमारादि दश भेद है।

भाष्यम्—प्रथमो देवनिकायो भवनवासिनः। इमानि चैषां विधानानि भवन्ति। तद्यथा असुरकुमारा नागकुमारा विद्युत्कुमाराः सुपर्णकुमारा अग्निकुमारा वातकुमाराः स्तनितकुमारा उदधिकुमारा द्वीपकुमारा दिक्कुमारा इति। कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमारा मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणा-

वरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्बणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते। असुरकुमारावासेष्वसुरकुमाराः प्रतिवसन्ति शेषास्तु भवनेषु। महामन्दरस्य दक्षिणोत्तरयोर्दिग्विभागयोर्वह्वीषु योजनशतसहस्रकोटीकोटीष्वावासा भवनानि च दक्षिणार्धाधिपतीनामुत्तरार्धाधिपतीनां च यथास्वं भवन्ति। तत्र भवनानि रत्नप्रभायां बाहल्यार्धमवगाह्य मध्ये भवन्ति। भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः॥

विशेषव्याख्या—चारों निकायोंमेंसे प्रथम निकाय भवनवासी हैं। उनके भेद ये हैं। यथा; असुरकुमार १, नागकुमार २, विद्युत्कुमार ३, सुपर्णकुमार ४, अग्निकुमार ५, वातकुमार ६, स्तनितकुमार ७, उदधिकुमार ८, द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १०। ये सब कुमारोंके समान रमणीयदर्शन, सुकुमार, मृदु, मधुर तथा ललित गतिवाले, शृंगार सहित सुन्दर रूप विक्रियायुक्त होते हैं। और कुमारोंके तुल्य उद्धत रूप, वेष, भाषा, आभरण, अस्त्रशस्त्रादि प्रहरण, वस्त्र तथा यान वाहनादि युक्त होते हैं। और कुमारोंके ही समान इनका व्यक्त अर्थात् स्पष्टराग क्रीड़ामें तत्पर रहता है; अतएव इन्हें कुमार कहते हैं। इनमें असुरकुमार, असुरकुमारोंके आवासमें रहते हैं, और शेष भवनोंमें निवास करते हैं। महामन्दरके दक्षिण और उत्तर दिग्विभागोंमें अनेक लाखयोजन कोटी कोटीयोंमें असुरकुमारोंके आवास हैं, और भवन भी दक्षिणार्धाधिपतियोंके और उत्तरार्धाधिपतियोंके यथास्वं है। वहां रत्नप्रभामें वहलभागके अर्ध मध्यमें प्रवेशकरके मध्यमें भवन है। भवनोंमें जो रहते है, उन्हें भवनवासी कहते हैं।

भवप्रत्ययाश्चैषामिमा नामकर्मनियमात्स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति। तद्यथा। गम्भीराः श्रीमन्तः काला महाकाया रत्नोत्कटमुकुटभास्वराश्चूडामणिचिह्ना असुरकुमारा भवन्ति। शिरोमुखेष्वधिकप्रतिरूपाः कृष्णश्यामा मृदुललितगतयः शिरस्सु फणिचिह्ना नागकुमाराः। स्निग्धा भ्राजिष्णवोऽवदाता वज्रचिह्ना विद्युत्कुमाराः। अधिकरूपग्रीवोरस्काः श्यामावदाता गरुडचिह्नाः सुपर्णकुमाराः। मानोन्मानप्रमाणयुक्ता भास्वन्तोऽवदाता घटचिह्ना अग्निकुमारा भवन्ति। स्थिरपीनवृत्तगात्रा निमग्नोदरा अश्वचिह्ना अवदाता वातकुमाराः। स्निग्धाः स्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वनाः कृष्णा वर्धमानचिह्नाः स्तनितकुमाराः। ऊरुकटिष्वधिकप्रतिरूपाः कृष्णश्यामा मकरचिह्ना। उदधिकुमाराः। उरःस्कन्धबाहुग्रहस्तेष्वधिकप्रतिरूपाः श्यामावदाताः सिंहचिह्ना द्वीपकुमाराः। जङ्घाग्रपादेष्वधिकप्रतिरूपाः श्यामा हस्तिचिह्ना दिक्कुमाराः। सर्वे विविधवस्त्राभरणप्रहरणावरणा भवन्तीति॥

भवप्रत्ययसे अर्थात् देवयोनिमें जन्म लेनेके कारणसे तथा नामकर्मके नियमसे निज जाति विशेषमें नियत ऐसी विक्रिया इन देवोंके होती है। सो इस प्रकार कि,—गंभीर, श्रीमन्त अर्थात् शोभादि ऐश्वर्ययुक्त, काले, महाकाय, रत्नजटित मुकुटोंसे प्रकाशशील चूड़ामणिसे चिह्नित **असुरकुमार** होते हैं। शिर और मुखोंमें प्रतिरूप कृष्ण, श्याम, मृदु तथा ललित गतिवाले शिरमें नागसे चिह्नित **नागकुमार** होते हैं। चिक्कण, प्रकाशशील,

भास्वर शुक्लवर्ण, तथा वज्रोंसे चिह्नित **विद्युत्कुमार** होते हैं। अतिसुन्दर ग्रीवा (गला) तथा वक्षस्थल (छाती) से भूषित, श्याम तथा शुद्ध वर्ण, तथा गरुडसे चिह्नित **सुपर्णकुमार** होते है। मान–ऊर्ध्वमान और प्रमाण–युक्त, प्रकाशशील, शुद्ध शुक्लवर्ण, और घटसे चिह्नित **अग्निकुमार** होते हैं। स्थिर–स्थूल तथा वर्तुलाकार शरीरधारी, निमग्न अर्थात् नमित उदरसहित, शुद्ध वर्ण, और अश्वसे चिह्नित **वातकुमार** होते है। चिक्कण, स्निग्ध, गम्भीर, प्रतिध्वनि और महानाद–संयुक्त, कृष्णवर्ण, और वर्धमानचिह्नयुक्त **स्तनितकुमार** होते हैं। जंघा तथा कटिप्रदेशमे अधिक सुन्दर, कृष्ण श्यामवर्ण, तथा मकरसे चिह्नित **उदधिकुमार** होते हैं। वक्षस्थल, कन्धा, बाहू, और अग्र हस्तोंके विषे अधिक सुन्दर, श्याम शुद्ध वर्ण, तथा सिंहसे चिह्नित **द्वीपकुमार** होते है। और जंघा, और अग्रपादोंमें अधिक सौन्दर्य्य–सहित, श्यामवर्ण और हस्तियोंसे चिह्नित **दिक्कुमार** होते हैं। सब ए दशो कुमार अनेक प्रकारके वस्त्र, आभूषण तथा शस्त्र–अस्त्र–आदिसे सम्पन्न होते है॥

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः॥१२॥

सूत्रार्थः—द्वितीय व्यन्तरनिकाय है और उसके किन्नर आदि आठ भेद हैं।

भाष्यम्—अष्टविधो द्वितीयो देवनिकायः। एतानि चास्य विधानानि भवन्ति। अधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रिष्वपि लोकेषु भवननगरेष्वावासेषु च प्रतिवसन्ति। यस्माच्चाधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात्पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनियतगतिप्रचारा मनुष्यानपि केचिद्भृत्यवदुपचरन्ति विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा इत्युच्यन्ते।

विशेषव्याख्या—अब द्वितीय जो निकाय है वह व्यन्तर है। और उसके भेद आठ हैं। जैसे–किन्नर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८। ये[1] अधोभागमे, तिर्य्यग्भागमें, तथा ऊर्ध्वभागमें, तीनो लोकोंमें, भवनोंमें, नगरोंमें, तथा आवासोंमें ये व्यन्तर देव निवास करते हैं। इस हेतुसे कि अधोभागमें, तिर्य्यग्भागमें, और ऊर्ध्वभागमें तीनो लोकोंको स्पर्श करते हुए स्वतंत्रतासे, और दूसरेके अभियोगसे प्रायः अनियत गतिके प्रचारसे चारों ओर गिरते घूमते रहते हैं, और कोई २ मनुष्योंकी भी भृत्यके समान सेवा करते है; तथा विविध (अनेक) प्रकारके पर्वत, कन्दरा, अन्तर्वन और विवर आदिमें निवास करते रहते है, इस हेतुसे ये व्यन्तर कहे जाते है॥

तत्र किन्नरा दशविधाः। तद्यथा—किन्नराः किम्पुरुषाः किंपुरुषोत्तमाः किन्नरोत्तमा हृदयंगमा रूपशालिनोऽनिन्दिता मनोरमा रतिप्रिया रतिश्रेष्ठा इति॥ किम्पुरुषा दशविधाः।

१ रत्नप्रभा भूमिका सहस्र योजन अवगाढ जो प्रथमकाण्ड उसके नीचे ऊपर शत २ (सौ २) योजन छोडके मध्यमें असंख्येय लक्ष भूमिनगर तथा आवास हैं। जो व्यन्तरोंके निवासस्थान हैं।

तद्यथा—पुरुषाः सत्पुरुषा महापुरुषाः पुरुषवृषभाः पुरुषोत्तमा अतिपुरुषा मरुदेवा मरुतो मेरुप्रभा यशस्वन्त इति ॥ महोरगा दशविधाः। तद्यथा—भुजगा भोगशालिनो महाकाया अतिकायाः स्कन्धशालिनो मनोरमा महावेगा महेष्वक्षा मेरुकान्ता भास्वन्त इति ॥ गान्धर्वा द्वादशविधाः। तद्यथा—हाहा-हूहू-तुम्बुरवो नारदा ऋषिवादिका भूतवादिकाः कादम्बा महाकादम्बा रैवता विश्वावसवो गीतरतयो गीतयशस इति ॥ यक्षास्त्रयोदशविधाः। तद्यथा—पूर्णभद्रा माणिभद्राः श्वेतभद्रा हरिभद्राः सुमनोभद्रा व्यतिपातिकभद्राः सुभद्राः सर्वतोभद्रा मनुष्ययक्षा वनाधिपतयो वनाहारा रूपयक्षा यक्षोत्तमा इति ॥ सप्तविधा राक्षसाः। तद्यथा—भीमा महाभीमा विघ्ना विनायका जलराक्षसा राक्षसराक्षसा ब्रह्मराक्षसा इति ॥ भूता नवविधाः। तद्यथा—सुरूपाः प्रतिरूपा अतिरूपा भूतोत्तमा स्कन्दिका महास्कन्दिका महावेगाः प्रतिच्छन्ना आकाशगा इति ॥ पिशाचाः पञ्चदशविधाः। तद्यथा —कूष्माण्डाः पटका जोषा आह्नकाः काला महाकालाश्चौक्षा अचौक्षास्तालपिशाचा मुखरपिशाचा अधस्तारका देहा महाविदेहास्तूष्णीका वनपिशाचा इति ॥

इनमें किन्नर दश प्रकारके होते हैं। जैसे—किन्नर, किम्पुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय, और रतिश्रेष्ठ। किम्पुरुष भी दश प्रकारके है। जैसे—पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ, तथा यशस्वत्। महोरगभी दश प्रकारके है। जैसे—भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मेरुकान्त और भास्वान्। और गन्धर्व वारह प्रकारके है। जैसे—हाहा, हूहू, तुम्बुरु, नारद, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति, और गीतयशस्। यक्ष तेरह प्रकारके है। जैसे—पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। ब्रह्म-राक्षस सात प्रकारके हैं। जैसे—भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, जलराक्षस, राक्षसराक्षस, और ब्रह्मराक्षस। भूत नौ प्रकारके है। जैसे—सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, स्कन्दिक, महास्कन्दिक, महावेग, प्रतिच्छन्न, और आकाशग। पिशाच १५ पन्द्रह प्रकारके हैं। जैसे—कूष्माण्ड, पटक, जोष, आह्नक, काल, महाकाल, उक्षा, अचौक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णीक और वनपिशाच।

तत्र किन्नराः प्रियङ्गुश्यामाः सौम्याः सौम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणा अशोकवृक्षध्वजा अवदाताः। किम्पुरुषा ऊरुबाहुष्वधिकशोभा मुखेष्वधिकभास्वरा विविधाभरणभूषणाश्चित्रस्रगनुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजाः ॥ महोरगाः श्यामावदाता महावेगाः सौम्याः सौम्यदर्शना महाकायाः पृथुपीनस्कन्धग्रीवा विविधानुविलेपना विचित्राभरणभूषणा नागवृक्षध्वजाः। गान्धर्वा रक्तावदाता गम्भीराः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुमुखाकाराः सुस्वरा मौलिधरा हारविभूषणास्तुम्बुरुवृक्षध्वजाः। यक्षाः श्यामावदाता गम्भीरा तुन्दिला वृन्दारका. प्रियदर्शना मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वौष्ठा भास्वरमुकुटधरा

नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजाः। राक्षसा अवदाता भीमा भीमदर्शनाः शिरःकराला रक्तलम्बौष्ठास्तपनीयविभूषणा नानाभक्तिविलेपनाः खट्वाङ्गध्वजाः। भूताः श्यामाः सुरूपाः सौम्या आपीवरा नानाभक्तिविलेपनाः सुलसध्वजाः कालाः। पिशाचाः सुरूपाः सौम्यदर्शना हस्तग्रीवासु मणिरत्नविभूषणाः कदम्बवृक्षध्वजाः। इत्येवंप्रकारस्वभावानि वैक्रियाणि रूपचिह्नानि व्यन्तराणां भवन्तीति ॥

इन दश प्रकारके व्यन्तरोंमें **किन्नर** प्रियङ्गुके सदृश श्याम, सौम्यस्वभाव, सौम्यदर्शन, मुखोंमें अधिक रूपशोभायुक्त, मुकुटोंसे शिरोंमें विभूषित, अशोक वृक्षकी ध्वजाधारी और शुद्ध गौर वर्ण होते है। तथा **किम्पुरुष** जंघा और भुजाओंमें अधिक शोभायुक्त, मुखदेशमें अधिक प्रकाशसहित, विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे शोभित, चित्र विचित्र माला तथा अनुलेपनोंसे सज्जित और चम्पकवृक्षकी ध्वजा धारण किये होते है। तथा **महोरग** श्याम–शुद्धरूप, महावेग, सौम्यस्वभाव, सौम्यदर्शन, महाकाय, विशाल तथा स्थूल स्कंध और ग्रीवासहित, अनेक प्रकारके अनुविलेपन (उबटन आदि) सहित, विचित्र भूषण–वस्त्रोंसे शोभित और नागवृक्षकी ध्वजासे शोभित होते है। **गन्धर्व** रक्त–शुक्लवर्ण, गंभीर, प्रियदर्शन, सुरूप, उत्तम मुखवाले, उत्तमस्वर (शब्दके स्वर) युक्त, मुकुटधारी, हारोंसे भूषित और तुम्बुरु वृक्षकी ध्वजा धारण किये हुए होते हैं। **यक्ष** श्याम–शुद्धवर्ण, गंभीर, तुंदिल (तोंदवाले), मनोहर, प्रियदर्शन, मानोन्मानप्रमाण–सहित, हाथ तथा पावोंके तलभाग, नख, तालु, जिह्वा और ओष्ठ प्रदेशोंमें रक्तवर्ण, प्रकाशमान मुकटोंको धारण किये हुए, अनेक प्रकारके रत्नमय भूषणोंसे शोभित और वटवृक्षकी ध्वजा धारण किये हुए होते है। **राक्षस** शुद्धवर्ण, भीम, भीम (भयंकर) दर्शनवाले, शिरोदेशमें अतिकराल, रक्तवर्णके लम्बे २ ओटोंको धारण किये हुए, सुवर्णके आभूषणोंसे शोभित, नानाप्रकारके विलेपनोंसे युक्त और खट्वांगध्वजाधारी होते है। **भूत** कृष्णवर्ण, अतिसुन्दर, सौम्य, अतिस्थूल, नानाप्रकारके अनुलेपधारी, और सुलस ध्वजाधारी होते है। और **पिशाच** अतिसुन्दर, सौम्यदर्शन, हाथ तथा गलेमें मणियों और रत्नोंके आभूषणोंसे शोभित तथा कदम्बके वृक्षोंकी ध्वजाओंसे चिह्नित होते है। इस प्रकारके वैक्रियक स्वभाव, तथा रूप और चिह्न व्यन्तर देवोंके है।

तृतीयो देवनिकायः।

अव तृतीय देवनिकायका वर्णन करते हैं—

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥ १३ ॥

सूत्रार्थः—तीसरे ज्योतिष्क निकायमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और प्रकीर्णक तारा इस प्रकार पांच भेद है।

भाष्यम्—ज्योतिष्काः पञ्चविधा भवन्ति। तद्यथा—सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि प्रकी-

र्णतारका इति पञ्चविधा ज्योतिष्का इति। असमासकरणमार्षाच्च सूर्याचन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतः यथा गम्येतैतदेवैषामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति। तद्यथा—सर्वाधस्तात्सूर्यास्ततश्चन्द्रमसस्ततो ग्रहास्ततो नक्षत्राणि ततोऽपि प्रकीर्णतारा: । ताराग्रहास्त्वनियतचारित्वात्सूर्यचन्द्रमसामूर्ध्वमधश्च चरन्ति। सूर्येभ्यो दशयोजनावलम्बिनो भवन्तीति । समाद्भूमिभागादष्टसु योजनशतेषु सूर्यास्ततो योजनानामशीत्यां चन्द्रमसस्ततो विंशत्यां तारा इति । द्योतयन्त इति द्योतींषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्का ज्योतिषो वा देवा ज्योतिरेव वा ज्योतिष्काः। मुकुटेषु शिरोमुकुटोपगूहितैः प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैः सूर्यचन्द्रतारामण्डलैर्यथास्वं चिह्नैर्विराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति॥

विशेषव्याख्या—ज्योतिष्क देव पांच प्रकारके हैं। यथाः—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और प्रकीर्णक तारका ये पांच प्रकारके ज्योतिष्क देव है। इस सूत्रमें समास न करनेका और आर्ष प्रमाणसे सूर्य तथा चन्द्रमाका क्रमभेद करनेका कारण यह है कि, जिससे यह सूचित होजाय कि इनकी यथाक्रम ऊर्ध्व स्थिति है। अर्थात् आर्ष ग्रन्थोंमें चन्द्रमा पूर्व पठित है और सूर्य पश्चात्, वह यहाँपर इष्ट नहीं है। यहाँपर सूर्यको ही प्रथम कहना है। क्योंकि पाठक्रमानुसार ऊपर इनकी स्थिति नहीं है। किंतु इनकी एकके पश्चात् दूसरेकी ऊपर २ स्थिति है। जैसे–सबके नीचे प्रथम सूर्य है, पश्चात् चन्द्रमा हैं, चन्द्रमाओंके ऊपर ग्रह है, उनके ऊपर नक्षत्र है और नक्षत्रोंके ऊपर प्रकीर्णकतारका है। और ताराग्रह तो अनियतचारी अर्थात् जिनकी गति नियत नहीं ऐसे होनेसे सूर्य तथा चन्द्रमाके ऊपर तथा नीचे भी भ्रमण करते है. और सूर्यसे दश योजन अवलम्ब होते है अर्थात् सूर्यसे दश योजन दूर रहते है । समान भूमिभागसे आठसौ (८००) योजनपर सूर्य है, सूर्यसे अस्सी (८०) योजनपर चन्द्रमा है, और चन्द्रमासे बीस (२०) योजनपर तारा है। प्रकाशशील विमानोंमें जो है, उनको ज्योतिष्क कहते है । ज्योतिष् (प्रकाश)से होनेवाले देव अथवा ज्योतिष् (प्रकाश) रूप ही जो देव उनको ज्योतिष्क कहते हैं। उन ज्योतिष्कोंके मुकुटोंमें शिरोमुकुटोंसे आच्छादित और प्रभामण्डलोंके समान उज्वल ऐसे सूर्य, चन्द्र तथा ताराओंके मण्डलरूप अपने २ चिह्न यथाक्रमसे विराजमान है। अर्थात् सूर्य सूर्यमण्डलोंसे, चन्द्रमा चन्द्रमण्डलोंसे तथा तारागण तारामण्डलोंसे चिह्नित है। और वे ज्योतिष्क देव प्रकाशमय है।

मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयो नृलोके॥ १४॥

सूत्रार्थः—ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकमें नित्यगतिरूप होकर मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं।

भाष्यम्—मानुषोत्तरपर्यन्तो मनुष्यलोक इत्युक्तम् । तस्मिञ्ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयो भ्रमन्ति। मेरोः प्रदक्षिणा नित्या गतिरेषामिति मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयः। एकादशस्वेकविंशेषु योजनशतेषु मेरोश्चतुर्दिशं प्रदक्षिणं चरन्ति। तत्र द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे, लवण-

जले चत्वारो, धातकीखण्डे द्वादश, कालोदे द्वाचत्वारिंशत्पुष्करार्धे द्विसप्ततिरित्येवं मनुष्यलोके द्वात्रिंशत्सूर्यशतं भवति । चन्द्रमसामप्येष एव विधिः । अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि, अष्टाशीतिर्ग्रहाः, षट्षष्टिः सहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्ततानि तारा कोटाकोटीनामेकैकस्य चन्द्रमसः परिग्रहः । सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तूर्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति । अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलविष्कम्भः, चन्द्रमसः षट्पञ्चाशद्, ग्रहाणामर्धयोजनं, गव्यूतं नक्षत्राणां, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धक्रोशो, जघन्यायाः पञ्चधनुःशतानि । विष्कम्भार्धबाहल्याश्च भवन्ति । सर्वे सूर्यादयो नृलोक इति वर्तते । बहिस्तु विष्कम्भवाहल्याभ्यामतोऽर्धं भवंति ॥ एतानि च ज्योतिष्कविमानानि लोकस्थित्या प्रसक्तावस्थितगतीन्यपि ऋद्धिविशेषार्थमाभियोग्यनामकर्मोदयाच्च नित्यं गतिरतयो देवा वहन्ति । तद्यथा—पुरस्तात्केसरिणो, दक्षिणतः कुञ्जरा, अपरतो वृषभा, उत्तरतो जविनोऽश्वा इति ॥

विशेषव्याख्या—मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्त मनुष्यलोक है ऐसा पूर्वप्रकरण अ० ३, सू० १४ में कहा है । उस मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क देव नित्यगतिवाले होकर मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते हैं । मेरुकी प्रदक्षिणारूप जिनकी नित्य गति है उनको मेरुप्रदक्षिणानित्यगतिवाले कहते है । ए ज्योतिष्क देव मेरुसे गेरासौ इक्कीस (११२१) योजन दूर चारों दिशाओंमें प्रदक्षिणा करतेहुए भ्रमण करते हैं । तहां जम्बूद्वीपमें दो, लवणजल (क्षारसमुद्र)में चार, धातकीखण्डमें बारह (१२), कालोद समुद्रमें बयालीस (४२) और पुष्करार्द्धमें बहत्तर (७२) सूर्य हैं; इस प्रकार मनुष्यलोकमें एकसौ बत्तीस (१३२) सूर्य होते है । चन्द्रमाओंकी भी यही विधि है । इन सब (चन्द्रमाओं)में अट्ठाईस (२८) नक्षत्र, अट्ठासी (८८) ग्रह, तथा छासठ हजार नौसै पछत्तर (६६९७५) कोटाकोटी एक २ चन्द्रमाके ताराओंका परिग्रह है । अर्थात् प्रत्येक चन्द्रमाके (६६९७५) कोटाकोटी तारे हैं । सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र ए तो तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोकमें है, और शेष[1] ज्योतिष्क अर्थात् प्रकीर्णक तारा ऊर्ध्वलोकमें रहते है । अड़तालीस (४८) योजन तथा साठमें एक भाग $\frac{१}{६०}$ योजन सूर्यमण्डलका विष्कम्भ है; चन्द्रमाका छप्पन (५६) योजन, ग्रहोंका आधा योजन, नक्षत्रोंका दो कोश और ताराओंमें सबसे बड़ी ताराका अर्ध कोश और सबसे छोटीका पांचसौ

१ शेषपदसे यहां प्रकीर्णताराओंसे तात्पर्य है । क्योंकि जो सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र यह चार गिनादिये तो शेष प्रकीर्णतारा रहे; वेही ऊर्ध्वलोकमें रहते है यही अभिप्राय आचार्यका है । परंतु आर्षग्रन्थोंमें ऐसा लेख नहीं है । क्योकि वहां तो समस्त ज्योतिष्कोंकी स्थिति तिर्यग्लोकमे ही कही है । और "शेष तारारूप ज्योतिष्क ऊर्ध्वलोकमें होते हैं" यह वृत्तिकारका आशय उनके (वृत्तिकारके) बहुश्रुत होनेसे अविरुद्धही है, क्योंकि अठारहसौ (१८००) योजन ऊंचा तिर्यग्लोक मानसे तिर्यग्लोकके अधोभागकी अपेक्षासे ऊर्ध्वदिग्भाव होताही है, इसमें कुछ विरोध नहीं है. अर्थात् ऊर्ध्वलोकका अर्थ ऊर्ध्वदिशा करनेसे सब विरोध मिटता है.

धनुष् है। विष्कम्भसे अर्द्धबाहल्य ऊँचाई होती है। सूर्य आदि सब ज्योतिष्क मनुष्य-लोकमें होते है। और मनुष्यलोकके बाहर तो विष्कम्भ तथा बाहल्यसे अर्द्धभाग होते है। ये ज्योतिष्कदेवोंके विमान लोककी स्थितिसे यद्यपि प्रसक्त अवस्थित गति अर्थात् गतिमें तत्पर तथा निवृत्त गतिवाले है तथापि ऋद्धिविशेषके लिये, आभियोग्य नाम कर्मके उदयसे नित्यगतिसे प्रीति करनेवाले देवता इनको भ्रमण कराते हैं। जैसे—इनके विमानोंके अग्रभागमें सिंह[1] रहते है, दक्षिणभागमें गजेन्द्र, पृष्ठभागमें वृषभ (बैल) और उत्तरभागमें अतिवेगशाली तुरङ्ग (घोड़े) रहते हैं।

तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—नित्यगतिवाले ज्योतिष्क देवोंसे कालका विभाग होता है।

भाष्यम्—कालोऽनन्तसमयो वर्तनादिलक्षण इत्युक्तम्। तस्य विभागो ज्योतिष्काणां गतिविशेषकृतश्चारविशेषेण हेतुना। तैः कृतस्तत्कृतः। तद्यथा—अणुभागाश्चारा अंशाः कला लवा नालिका मुहूर्ता दिवसरात्रयः पक्षा मासा ऋतवोऽयनानि संवत्सरा युगमिति लौकिकसमो विभागः॥ पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पन्नोऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः॥ पुनस्त्रिविध परिभाष्यते सङ्ख्येयोऽसङ्ख्येयोऽनन्त इति॥

विशेषव्याख्या—'अनन्त समययुक्त, वर्तना आदिलक्षणसहित काल है' ऐस कहा है (अध्या. ५ सू. २२,३९)। उस अनन्तसमययुक्त तथा वर्तना—आदिलक्षण सहित कालका विभाग ज्योतिष्क देवोंकी गतिविशेषकृत है। अर्थात् ज्योतिष्कदेवोंकी जं संचरण वा भ्रमण विशेषगति है वही कालके विभागमें हेतु है। 'तत्कृतः' यहांपर समार 'तैः कृतः' उनके गतिविशेषोंसे कृत, ऐसा समझना चाहिये। कालके विभाग, जैसे—अणु भाग (अति सूक्ष्मभाग), चार, अंश, कला, लव, नालिका, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पक्ष मास, ऋतु, अयन (दक्षिणायन वा उत्तरायण) 'छः महीनेका अयन होता है' वर्ष औ युग, यह सब लौकिकके समान कालका विभाग है। पुनः कालका अन्य विकल्प (भाग भी है। जैसे—प्रत्युत्पन्न (वर्तमान), अतीत (भूत) और अनागत अर्थात् भविष्य। य तीन प्रकारका कालका भेद है। वही काल पुनः तीन प्रकारका निर्धारित होता है जैसे—संख्येय, असंख्येय और अनंत।

तत्र परमसूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रमकाल समय इत्युच्यते परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः। तं हि भगवन्तः परमर्षयः केवलिनो विदन्ति तु निर्दिशन्ति परमनिरुद्धत्वात्। परमनिरुद्धे हि तस्मिन् भाषाद्रव्याणां ग्रहणनिसर्गयो करणप्रयोगासम्भव इति। ते त्वसङ्ख्येया आवलिका। ताः सङ्ख्येया उच्छ्वासस्तथा निःश्वासः तौ बलवतः पट्विन्द्रियस्य कल्यस्य मध्यमवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः। ते सप्त स्तोकः

१ ए॰ प्रकारके ज्योतिष्क देवही सिंहादिककी आकृति धारण किये होते है।

ते सप्त लवः। तेऽष्टात्रिंशदर्धं च नालिका। ते द्वे मुहूर्तः। ते त्रिंशदहोरात्रम्। तानि पञ्चदश पक्षः। तौ द्वौ शुक्लकृष्णौ मासः। तौ द्वौ मासावृतुः। ते त्रयोऽयनम्। ते द्वे संवत्सरः। ते पञ्च चन्द्रचन्द्राभिवर्धितचन्द्राभिवर्धिताख्या युगम्। तन्मध्येऽन्ते चाधिकमासकौ। सूर्यसवनचन्द्रनक्षत्राभिवर्धितानि युगनामानि। वर्षशतसहस्रं चतुरशीतिगुणितं पूर्वाङ्गम्। पूर्वाङ्गशतसहस्रं चतुरशीतिगुणितं पूर्वं। एवं तान्ययुतकमलनलिनकुमुदतुद्यटटाववा हाहाहूहूचतुरशीतिशतसहस्रगुणाः सङ्ख्येयः कालः। अत ऊर्ध्वमुपमानियतं वक्ष्यामः। तद्यथा हि नाम योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पल्यमेकरात्राद्युत्कृष्टसप्तरात्रजातानामङ्गलोम्नां गाढं पूर्णं स्याद्वर्षशताद्वर्षशतादेकैकस्मिन्नुद्ध्रियमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं स्यादेतत्पल्योपमम्। तद्दशभिः कोटाकोटिभिर्गुणितं सागरोपमम्। तेषां कोटाकोट्यश्चतस्रः सुषमसुषमा। तिस्रः सुषमा। द्वे सुषमदुःषमा। द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि हित्वा एका दुःषमसुषमा। वर्षसहस्राणि एकविंशतिर्दुःषमा। तावत्येव दुःषमदुःषमा। ता अनुलोमप्रतिलोमा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यौ भरतैरावतेष्वनाद्यनन्तं परिवर्तेतेऽहोरात्रवत्। तयोः शरीरायुःशुभपरिणामानामनन्तगुणहानिवृद्धी अशुभपरिणामवृद्धिहानी। अवस्थितावस्थितगुणा चैकैकान्यत्र। तद्यथा— कुरुषु सुषमसुषमा, हरिरम्यकवासेषु सुषमा, हैमवतहैरण्यवतेषु सुषमदुःषमा, विदेहेषु सान्तरद्वीपेषु दुःषमसुषमा, इत्येवमादिर्मनुष्यक्षेत्रे पर्यापन्नः कालविभागो ज्ञेय इति॥

उन कालके विभागोंमेंसे परम सूक्ष्म क्रियावान्, सबसे जघन्य गतिमें परिणत जो परमाणु है उस परमाणुके बीजके अवगाहनक्षेत्रके व्यतिक्रमका जो काल है, अर्थात् जितनें कालमें अपने क्षेत्रसे दूसरेमें पलटा खाके स्थित होता है वा केवल पलटा खाता है वह काल समय कहलाता है और वह समयरूप काल सूक्ष्म होनेसे अत्यन्त दुष्प्राप्य है अर्थात् बुद्धिमानोंसे भी दुःखसे जाना जाता है, और "यह ऐसा है," इस प्रकार निर्देश करने योग्य (दूसरेको दर्शानेयोग्य) नहीं है। उस समयरूप कालको भगवान् परमर्षि केवली (केवल ज्ञानसम्पन्न) जनही जानते है, न कि उसको निर्देशकरके अन्यको दर्शाते है; क्योंकि वह अति सूक्ष्म होनेसे परम निरुद्ध है। परम निरुद्ध उस समयरूप कालमें भाषाद्रव्योंके वाणी वा शब्दादिके ग्रहण तथा त्यागमें करणोंके (इन्द्रियोंके) प्रयोगका असंभव है। और वे असंख्येयसमय मिलके एक आवलिका होती है। और वे संख्येय आवलिकायें मिलकर एक उच्छ्वास तथा निश्वास होता है। और वे उच्छ्वास तथा निश्वास मिलकर बलवान्, समर्थ इन्द्रियसहित, नीरोग, युवा, और स्वस्थ मनवाले पुरुषका एक प्राण है। सप्तप्राण मिलके एक स्तोक होता है। सप्त (सात) स्तोकका एक लव होता है। अड़तीस तथा अर्द्ध अर्थात् साढ़े अड़तीस लवकी एक नालिका होती है। दो नालिकाका एक मुहूर्त होता है। और तीस मुहूर्तका एक रात्रिदिन होता है। पन्द्रह (१५) रात्रिदिनका एक पक्ष होता है। और दो पक्ष शुक्ल

१ परम अर्थात् साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशयसहित जनोंसेभी दुर्ज्ञेय है।

तथा कृष्णपक्ष मिलके एक मास होता है। दो मासका एक ऋतु होता है। तीनऋतुका एक अयन होता है। और दो अयनका एक वर्ष होता है। और वे पांच वर्ष चन्द्रचन्द्राभिवर्धित तथा चन्द्राभिवर्धित नामवाले मिलकर एक युग होता है। और उस पंच वर्षरूप युगके मध्य और अन्तमें अधिक-मास (दो अधिक-मास) होते हैं। सूर्य, सवन, चन्द्र, नक्षत्र तथा अभिवर्धित ये युगोंके नाम हैं। और चौरासीसे गुणित शतसहस्र वर्ष, अर्थात् एक लक्षको चौरासीसे गुणा करनेसे चौरासी लक्ष वर्ष हुए, और वे चौरासी लक्ष वर्ष मिलके एक पूर्वाङ्ग होता है। और शतसहस्र पूर्वाङ्ग अर्थात् एक लक्ष पूर्वाङ्ग चौरासीसे गुणित होनेसे चौरासी लक्ष पूर्वाङ्गका एक पूर्व होता है। और वे पूर्व अयुत, कमल, नलिन, कुमुद, तुट्य, टटा, ववा, हाहा हूहूसंज्ञक चौरासी शतसहस्र (चौरासी लक्ष) से गुणित होनेसे एक संख्येय काल होता है। और अब इसके आगे उपमासे नियत काल कहैंगे। जैसे-एक योजन चौड़ा तथा एक योजन ऊंचा वृत्ताकार एक पल्य (रोमगर्तगढ़ा) हो जो कि एक रात्रिसे लेके सप्त रात्रिपर्यन्त उत्पन्न मेषादि पशुओंके लोमों-(रोमों) से गाढरूपसे अर्थात् खूब ठासके पूर्ण किया जाय तत् पश्चात् सौ सौ वर्षके अनन्तर एक २ रोम उस गढ़ेमेंसे निकाला जाय तो जितने कालमें वह गढ़ा सर्वथा रिक्त अर्थात् खाली होजाय उसको एक पल्योपमकाल कहते है। और वह पल्योपम दशकोटा-कोटिसे गुणा करनेसे एक सागरोपम काल होता है। और चार कोटाकोटी सागरोपमकी एक सुषमसुषमा होती है। तीन कोटाकोटी सागरोपमकी सुषमा है। दो कोटाकोटी सागरोपमकी सुषमदुःषमा होती है। बयालीससहस्र वर्ष कम एक सागरोपमकी एक दुःषमसुषमा होती है। इक्कीससहस्रवर्षकी दुःषमा होती है। और उतनेहीकी दुःषमदुःषमाभी होती है। और इन्ही सुषमसुषमा आदि छहों कालोंकी अनुलोम प्रतिलोमभावसे अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी होती है। अर्थात् अनुलोम (जिस क्रमसे लिखा) वह तो अवसर्पिणी, और इसके विपरीत क्रमसे अर्थात् प्रथम दुःषमदुःषमा १ पुनः दुःषमा २ दुःषमसुषमा ३ सुषमदुःषमा ४ सुषमा ५ और षष्ठ सुषमसुषमा यह उत्सर्पिणी है। ये अनादि अनन्त अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी रात्रिदिनके सदृश भरत तथा ऐरावत वर्षोंमें परिवर्तित होती रहती हैं। अर्थात् एकके अनन्तर द्वितीय निरन्तर चक्र लगाया करती हैं। जैसे-अवसर्पिणीके पीछे उत्सर्पिणी, और उत्सर्पिणीके पीछे पुनः अवसर्पिणी, यह चक्र घूमा करता है। और इन दोनोंमें शरीर, आयु, तथा शुभ परिणामोंकी अनन्त गुण हानि और वृद्धिभी होती चली जाती है। तात्पर्य यह कि अवसर्पिणी कालमें ज्यों २ दुष्ट कालकी ओर उतरेगे त्यों २ शरीर, आयु और शुभपरिणामोंकी हानि होती जायगी और उत्सर्पिणीमें इनकी वृद्धि होती जायगी। तथा अशुभ परिणामोंकीभी वृद्धि तथा हानि होती जाती है। अर्थात् अवसर्पिणीमें आगे २ के कालमें अशुभ

परिणामोंकी वृद्धि होती जायगी और उत्सर्पिणीमें इनकी अनन्तगुण हानि होती जायगी । और भरत तथा ऐरावत वर्षके सिवाय अन्यत्र अन्य वर्षोंमें एक एक गुण अवस्थित रहते हैं । जैसे कुरुवर्षमें सुषमसुषमाही सदा रहती है, हरिवर्ष तथा रम्यकमें सदा सुषमा रहती है; हैमवत और हैरण्यवत वर्षोंमें सुषमदुःषमा रहती है; अन्तरद्वीपसहित विदेहोंमें दुःषमसुषमा रहती हैं; इसी प्रकार मनुष्यक्षेत्रोंमें कालविभाग सर्वत्र प्राप्त समझना चाहिये ।

बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिष्कदेव अवस्थित रहते है ।

भाष्यम्—नृलोकाद्बहिर्ज्योतिष्का अवस्थिताः । अवस्थिता इत्यविचारिणोऽवस्थितविमानप्रदेशा अवस्थितलेश्याप्रकाशा इत्यर्थः । सुखशीतोष्णरश्मयश्चेति ॥

विशेषव्याख्या—"ज्योतिष्कदेव मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगतिशील रहते है" यह विषय ज्योतिष्कदेवोंके विषयमें पूर्व (अ. ४ सू. १४) है । अब कहते हैं कि मनुष्यलोकके बाह्य ये विषय स्थित रहते है । इसका तात्पर्य यह है कि संचरण वा विचरणशील न होकर विमानप्रदेशमें अवस्थित रहते है । अर्थात् इनकी लेश्या तथा प्रकाश अवस्थित रहता है । और मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिष्कदेवोंकी शीत और उष्ण किरणें सुखदायक होती हैं ।

वैमानिकाः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थः—वैमानिक चतुर्थ देवनिकाय है ।

भाष्यम्—चतुर्थो देवनिकायो वैमानिकाः । तेऽत ऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते । विमानेषु भवा वैमानिकाः ।

विशेषव्याख्या—चतुर्थ तथा अन्तिम देवोंका निकाय वैमानिक है । अब आगे उनका वर्णन करैगे । वैमानिक शब्दका अर्थ यह है कि विमानोंमें होनेवाले, अर्थात् जो विमानोंमे हों वे वैमानिक कहलाते हैं ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

सूत्रार्थः—कल्पोपपन्न तथा कल्पातीत ये दो भेद वैमानिक देवोंके है ।

भाष्यम्—द्विविधा वैमानिका देवाः । कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । तान् परस्ताद्वक्ष्याम इति ॥

विशेषव्याख्या—वैमानिक देवोंके जो कल्पोपपन्न तथा कल्पातीत दो भेद हैं, उनको हम आगे वर्णन करैगे ।

उपर्युपरि ॥ १९ ॥

सूत्रार्थः—वैमानिक देव ऊपर २ स्थित है ।

भाष्यम्—उपर्युपरि च यथानिर्देशं वेदितव्याः। नैकक्षेत्रे नापि तिर्यगधो वेति ॥

विशेषव्याख्या—उपरि उपरि यथानिर्देश समझना चाहिये। अर्थात् जिस क्रमसे वैमानिकदेव सूत्रमें निर्दिष्ट (दर्शाये गये) हैं उसी क्रमसे वे ऊपर २ एकके ऊपर दूसरे स्थित है। न तो वैमानिक देव एक क्षेत्रमें हैं और न तिर्यग् भागमें हैं और न अधोभागमें हैं; किन्तु ऊपर २ स्थित हैं।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ २० ॥

सूत्रार्थः—सौधर्म आदि जो विमान है, उनमें चतुर्थ निकाय वैमानिक देव होते हैं, और वे ऊपर २ होते है ऐसा कहभी चुके हैं।

भाष्यम्—एतेषु सौधर्मादिषु कल्पविमानेषु वैमानिका देवा भवन्ति। तद्यथा—सौधर्मस्य कल्पस्योपर्यैशानः कल्पः। ऐशानस्योपरि सानत्कुमारः। सानत्कुमारस्योपरि माहेन्द्र इत्येवमा-सर्वार्थसिद्धादिति ॥ सुधर्मा नाम शक्रस्य देवेन्द्रस्य सभा। सा तस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः। ईशानस्य देवराजस्य निवास ऐशान इत्येवमिन्द्राणां निवासयोग्याभिख्याः सर्वे कल्पाः ॥ ग्रैवेयास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रैवा ग्रीव्या ग्रैवेया ग्रैवेयका इति ॥ अनुत्तराः पञ्च देवनामान एव। विजिता अभ्युदयविघ्नहेतव एभिरिति विजयवैजयन्तजयन्ताः। तैरेव विघ्नहेतुभिर्न पराजिता अपराजिताः। सर्वेष्वभ्युदयार्थेषु सिद्धाः सर्वार्थश्च सिद्धाः सर्वे चैषामभ्युदयार्थाः सिद्धा इति सर्वार्थसिद्धाः। विजितप्रायाणि वा कर्माण्येभिरुपस्थितभद्राः परीषहैरपराजिताः सर्वार्थेषु सिद्धाः सिद्धप्रायोत्तमार्था इति, विजयादय इति ॥

विशेषव्याख्या—जिनके विषयमें उपरि उपरि स्थिति कहीगई है इन सौधर्मादिकल्प-विमानोंमें रहनेवाले ये वैमानिक देव हैं। जैसे—प्रथमसौधर्मकल्प है, उसके ऊपर ऐशानकल्प है। ऐशानके ऊपर सानत्कुमारकल्प है। और सानत्कुमारकल्पके ऊपर माहेन्द्रकल्प है। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धपर्यन्त एकके ऊपर दूसरे विमान है। सुधर्मानामिका शक्र अर्थात् इन्द्रजीकी सभा है। वह सुधर्मानामिका सभा जिस स्वर्गमें है उसको सौधर्मकल्प कहते हैं। इसी रीतिसे ईशान जो देवराज वा इन्द्र हैं उनका जो निवासस्थान है वह ऐशानकल्प है। ऐसेही सब इन्द्रोंके निवासयोग्य अन्वर्थ (सार्थक) नामवाले ये सब कल्प है। और ग्रैवेय तो लोकपुरुष (पुरुषाकाररूप लोक)के ग्रीवाप्रदेशमें अर्थात् गलस्थानमें निविष्ट (स्थित) हैं, अर्थात् ग्रीवाके आभूषणके समान हैं; ग्रैव, ग्रीव्य, ग्रैवेय, तथा ग्रैवेयक ये सब एकार्थवाचक हैं। अनुत्तर पंचदेवोंके नाम हैं। और जिन्होंने अभ्युदयमें होनेवाले विघ्नोंको जीत लिया है; वे विजय, वैजयन्त और जयन्त है। और उन्ही विघ्नोंके हेतुओंसे जो पराजित नहीं हुए, वे अपराजित हैं। तथा संपूर्ण अभ्युदयके अर्थोंमें जो सिद्ध हैं वा संपूर्ण

अर्थोंसे जो सिद्ध है, अथवा जिनके संपूर्ण अभ्युदयके अर्थ सिद्ध होगये है वे सर्वार्थ-सिद्ध हैं । जिन्होंने संपूर्ण कर्मोंको प्रायः जीतलिया है, अर्थात् जिनका भद्र (उत्तम) समय उपस्थित है वे विजय, वैजयन्त और जयंत हैं, २२ परीषहोंसे जो पराजित नही हुए वे अपराजित हैं; तथा संपूर्ण अर्थोंमें जो सिद्ध हैं अर्थात् जिनके उत्तम अर्थ सिद्धप्राय हैं, वे सर्वार्थसिद्ध हैं. इस रीतिसे विजय आदि शब्दोंके समासविग्रहार्थ समझलेने ।

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२१॥

सूत्रार्थः—ये जो सौधर्मादिकल्पोंके देव कहे हैं, वे पूर्व २ की अपेक्षासे पर २ इन स्थिति–प्रभाव आदि–पदार्थोंमें अधिक २ हैं ।

भाष्यम्—यथाक्रमं चैतेषु सौधर्मादिषूपर्युपरि देवाः पूर्वतः पूर्वत एभिः स्थित्यादिभिरर्थैर-धिका भवन्ति ॥ तत्र स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च परस्ताद्वक्ष्यते । इह तु वचने प्रयोजनं येषा-मपि समा भवति तेषामप्युपर्युपरि गुणाधिका भवतीति यथा प्रतीयेत।प्रभावतोऽधिकाः । यः प्रभावो निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु सौधर्मकाणां सोऽनन्तगुणाधिक उपर्युपरि । म-न्दाभिमानतया त्वल्पतरसंक्लिष्टत्वादेते न प्रवर्तन्त इति ॥ क्षेत्रस्वभावजनिताच्च शुभपुद्गलपरि-णामात्सुखतो द्युतितश्चानन्तगुणप्रकर्षेणाधिकाः ॥ लेश्याविशुद्ध्याधिकाः । लेश्यानियमः पर-स्तादेषां वक्ष्यते । इह तु वचने प्रयोजनं यथा गम्येत यत्रापि विधानतस्तुल्यास्तत्रापि विशु-द्धितोऽधिका भवन्तीति । कर्मविशुद्धित एव वाधिका भवन्तीति ॥ इन्द्रियविषयतोऽधिकाः । यदिन्द्रियपाटवं दूरादिष्टविषयोपलब्धौ सौधर्मदेवानां तत्प्रकृष्टतरगुणत्वादल्पतरसंक्लेशत्वाच्चा-धिकमुपर्युपरीति ॥ अवधिविषयतोऽधिकाः सौधर्मैशानयोर्देवा अवधिविषयेणाधो रत्नप्रभां पश्यन्ति तिर्यगसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः शर्करा-प्रभां पश्यन्ति तिर्यगसङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् । इत्येवं शेषाः क्रमशः। अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्स्नां लोकनालिं पश्यन्ति । येषामपि क्षेत्रतस्तुल्योऽवधिविषयः तेषामप्युपर्युपरि विशुद्धितोऽधिको भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—सौधर्म ऐशान आदि कल्पोंके जो ऊपर २ कल्पोंके तथा जो नव ग्रैवेयक आदिक है उन सबमे ऊपर २ के देव पूर्व २ देवोंकी अपेक्षासे स्थिति–प्रभाव-आदिक पदार्थोंमें अधिक २ होते गये हैं । अर्थात् पूर्व २ देवोंकी अपेक्षा पर २ के देवोंकी स्थिति अधिक कालपर्यन्त है, उनके प्रभाव (महिमा) और सुख आदिभी अधिक है । उनमें स्थिति उत्कृष्ट तथा जघन्य दो प्रकारकी आगे कहैंगे । यहां तो इस कथनमें तात्पर्य केवल यह है कि जिनकी समान स्थिति है उनमेंभी ऊपर २ पूर्व २की अपेक्षा गुणसे अधिक है ऐसा भान हो ।अब प्रभावसे अधिक वर्णन करते है । जैसे–निग्रह तथा अनुग्रह अर्थात् वशमें लाकर दण्ड देने वा कृपा करनेका सामर्थ्य, विक्रिया (रूपादि-धारणशक्ति) अन्यके ऊपर अभियोग अर्थात् आक्रमण करके पराजय करनेकी शक्ति इत्यादि प्रभाव जैसा सौधर्मकल्पनिवासी देवीं देवोंका है, उससे अनन्तगुण अधिक ऊपर २ के

देवोंमें है। किन्तु पूर्वकी अपेक्षासे इनमें मन्द अभिमान होनेसे तथा अति अल्प संक्लिष्ट कर्म होनेसे ये निग्रहानुग्रहादिमे प्रवृत्त नहीं होते। तथा क्षेत्रके स्वभावसे उत्पन्न और शुभ पुद्गलोंके परिणामोंसेभी सुखसे तथा द्युति (शरीरादिकान्ति वा प्रकाश)सेभी सौधर्मकल्पनिवासी देवोंकी अपेक्षा ऊपरके अनन्तगुण अधिक है, अर्थात् उनका सुख और द्युति इनसे अनन्तगुण प्रकर्षतामें अधिक है। और ऐसेही लेश्याकी विशुद्धिसेभी पूर्व २ की अपेक्षासे ऊपरके देवोंकी लेश्या विशुद्ध हैं। इनकी लेश्याओंके नियम आगे कहैंगे। यहां तो इतने कथनमें तात्पर्य है कि जिसमें यह प्रतीत होजाय कि जहांपर विधानसे तुल्य हैं वहांपरभी लेश्याकी विशुद्धिसे अधिक हैं। अथवा कर्मकी विशुद्धिसेभी अधिक होते है। अब इन्द्रियोंके विषयद्वाराभी पूर्व २ की अपेक्षा ऊपर २ के अधिक हैं, ऐसा कहते है। जैसे—जो इन्द्रियोंका पाटव (सामर्थ्यविशेष) दूरसे इष्ट विषयोंकी प्राप्तिमें सौधर्मकल्पनिवासी देवोंका है उससे प्रकृष्टतर गुण होनेसे, और अल्पतर संक्लेश होनेसे ऊपर २ के देवोंका अधिक है। अवधिज्ञानके विषयसेभी ऊपर २ के अधिक हैं। जैसे-सौधर्म तथा ऐशानकल्पके देव अवधिविषयसे अधोभागमें तो रत्नप्रभा भूमिको देखते हैं, तिर्यग् भागमें असंख्यात योजन शत—सहस्र, और ऊर्ध्व भागमें अपने भवनपर्यन्त देखते हैं। तथा सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पके देव अधोभागमें शर्कराप्रभाको तिर्यक् भागमें असंख्येय योजन सहस्र और ऊर्ध्वभागमें अपने भवनोंतक देखते हैं। इसी रीतिसे क्रमसे शेष देवोंको अधिक २ अवधिविषयमें समझलेना। और अनुत्तरविमानवासी देव तो अवधिज्ञानसे संपूर्ण इस लोकनाडीको देखते हैं। और जिनका क्षेत्रसे अवधिका विषय समान है, उनका ऊपर २ विशुद्धिसे अधिक है, अर्थात् क्षेत्रमें समानता होनेपरभी ऊपर २ के देवोंका अवधि विषय अधिक विशुद्ध है, ऐसा जानना चाहिये।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थः—गति, शरीर, परिग्रह तथा अभिमानसे पूर्व २ की अपेक्षा ऊपर २ के देव हीन अर्थात् न्यून है।

भाष्यम्—गतिविषयेण शरीरमहत्त्वेन महापरिग्रहत्वेनाभिमानेन चोपर्युपरि हीनाः। तद्यथा—द्विसागरोपमजघन्यस्थितीनां देवानामासप्तम्यां गतिविषयस्तिर्यगसङ्ख्येयानि योजनकोटीकोटीसहस्राणि। ततः परतो जघन्यस्थितीनामेकैकहीना भूमयो यावत्तृतीयेति। गतपूर्वाश्च गमिष्यन्ति च तृतीयां देवाः परतस्तु सत्यपि गतिविषये न गतपूर्वा नापि गमिष्यन्ति। महानुभावक्रियातः औदासीन्याच्चोपर्युपरि देवा न गतिरतयो भवन्ति ॥ सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्देवानां शरीरोच्छ्रायः सप्तारत्नयः। उपर्युपरि द्वयोर्द्वयोरेकारत्निर्हीना आसहस्रारात्। आनतादिषु त्रिस्रः। ग्रैवेयकेषु द्वे। अनुत्तरे एका इति ॥ सौधर्मे विमानानां द्वात्रिंशच्छतसहस्राणि। ऐशानेऽष्टाविंशतिः। सानत्कुमारे द्वादश। माहेन्द्रेऽष्टौ। ब्रह्मलोके चत्वारि शतस-

हस्राणि । लान्तके पञ्चाशत्सहस्राणि । महाशुक्रे चत्वारिंशत् । सहस्रारे षट् । आनतप्राणतारणाच्युतेषु सप्तशतानि । अधोग्रैवेयकाणां शतमेकादशोत्तरम् । मध्ये सप्तोत्तरम् । उपर्येकमेव शतम् । अनुत्तराः पञ्चैवेति । एवमूर्ध्वलोके वैमानिकानां सर्वविमानपरिसङ्ख्या चतुरशीतिः शतसहस्राणि सप्तनवतिश्च सहस्राणि त्रयोविंशानीति ॥ स्थानपरिवारशक्तिविषयसंपत्स्थितिष्वल्पाभिमानाः परमसुखभागिन उपर्युपरीति ॥

विशेषव्याख्या—गतिके विषयसे, शरीरके महत्वसे, महापरिग्रहसे, और अभिमानसे ऊपर २ के देव नीचेके विमानवाले देवोंसे न्यून है । जैसे–दो सागरोपम जघन्य स्थितिवाले देवोंकी गतिका विषय सप्तम भूमिपर्यन्त है; और तिर्यक् भागमें असंख्येय योजन कोटी कोटी सहस्र है । और उससे पर जिनकी जघन्य स्थिति है, अर्थात् तीन चार आदि सागरोपम जिनकी जघन्यस्थिति है उनके गतिका विषय एक २ भूमि न्यून होता जाता है, और यह न्यूनता तृतीय भूमिपर्यन्त होती है । वे देव तृतीय भूमिमें गयेभी हैं और आगेभी जांयगे । और इसके आगे यद्यपि इनकी गतिका विषय है तथापि वे ऊपरके देव न तो पूर्वमेही उन भूमियोंमें गये और न आगे जॉयगे । क्योंकि ऊपरके देव महाऽनुभावोंकी क्रियाओंसे और औदासीन्यभावसे गतिमें (निजस्थानसे इधर उधर जानेमें) प्रीति नहीं करते । तथा सौधर्म और ऐशानकल्पके देवोंके शरीरकी उँचाई सात अरत्नि[1] होती है । और ऊपरके सहस्रार कल्पपर्यन्त दो दो कल्पोंके पीछे एक २ अरत्नि न्यून होती जाती है । और आनतादि विमानोंके देवोंके शरीरकी उँचाई तीन अरत्नि होती है । ग्रैवेयक देवोंकी दो अरत्नि होती है । और अनुत्तर विमानोंके देवोंकी शरीरकी उच्चता केवल एकही अरत्नि रहजाती है । तथा परिग्रहके विषयमेंभी प्रथम सौधर्मकल्पमें बत्तीस (३२) शत सहस्र अर्थात् बत्तीस लाख विमान हैं । ऐशानकल्पमें अट्ठावीस लक्ष हैं । सानत्कुमारकल्पमें बारह लक्ष है, माहेन्द्रमें आठ लक्ष हैं । ब्रह्मलोकमें चार लक्ष हैं । लान्तकमें पचास सहस्रही हैं । महाशुक्रमें चालीस सहस्र विमान है । सहस्रारमें छ सहस्र हैं । आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युतकल्पोंमें केवल सातसौ विमान है । और ग्रैवेयकोंके अधोभागमें एकसो ग्यारह (१११) विमान है । मध्यभागमें एकसो सात (१०७) और ऊपर केवल शत (१००) विमान हैं । और अनुत्तर देवोंके केवल पांच (५) ही विमान है । इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें चौरासी लक्ष सत्तानवे सहस्र तेवीस (८४९७०२३) विमानोंकी संख्या है । ऊपरके देव स्थान, परिवारशक्ति, विपय, सम्पत्ति सथा स्थितिके विषयमें अल्प अभिमान रखते है; अतएव ऊपर २ परम सुखके भागी हैं ।

---

१ कोहनीसे लेकर कनिष्ठिकापर्यन्त हाथकी लम्बाईको अरत्नि कहते हैं ।

उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः ।

उच्छ्वासः सर्वजघन्यस्थितीनां देवानां सप्तसु स्तोकेषु आहारश्चतुर्थकालः । पल्योपमस्थितीनामन्तर्दिवसस्योच्छ्वासो दिवसपृथक्त्वस्याहारः । यस्य यावन्ति सागरोपमानि स्थितिस्तस्य तावत्स्वर्धमासेषूच्छ्वासस्तावत्स्वेव वर्षसहस्रेष्वाहारः ॥ देवानां सद्वेदनाः प्रायेण भवन्ति न कदाचिदसद्वेदनाः । यदि चासद्वेदना भवन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवन्ति न परतोऽनुबद्धाः सद्वेदनास्तूत्कृष्टेन षण्मासान् भवन्ति ॥ उपपातः । आरणाच्युतादूर्ध्वमन्यतीर्थानामुपपातो न भवति । स्वलिङ्गिनां भिन्नदर्शनानामाग्रैवेयकेभ्य उपपातः । अन्यस्य सम्यग्दृष्टेः संयतस्य भजनीयं आसर्वार्थसिद्धात् । ब्रह्मलोकादूर्ध्वमासर्वार्थसिद्धाच्चतुर्दशपूर्वधराणामिति ॥ अनुभावो विमानानां सिद्धिक्षेत्रस्य चाकाशे निरालम्बस्थितौ लोकस्थितिरेव हेतुः । लोकस्थितिर्लोकानुभावो लोकस्वभावो जगद्धर्मोऽनादिपरिणामसन्ततिरित्यर्थः । सर्वे च देवेन्द्रा ग्रैवेयादिषु च देवा भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्माभिषेकनिःक्रमणज्ञानोत्पत्तिमहासमवसरणनिर्वाणकालेष्वासीनाः शयिताः स्थिता वा सहसैवासनशयनस्थानाश्रयैः प्रचलन्ति । शुभकर्मफलोदयाल्लोकानुभावत एव वा । ततो जनितोपयोगास्तां भगवतामनन्यसदृशीं तीर्थकरनामकर्मोद्भवां धर्मविभूतिमवधिनालोच्य संजातसंवेगाः सद्धर्मबहुमानात्केचिदागत्य भगवत्पादमूलं स्तुतिवन्दनोपासनहितश्रवणैरात्मानुग्रहमाप्नुवन्ति । केचिदपि तत्रस्था एव प्रत्युपस्थापनाञ्जलिप्रणिपातनमस्कारोपहारैः परमसंविग्नाः सद्धर्मानुरागोत्फुल्लनयनवदनाः समभ्यर्चयन्ति ॥

उच्छ्वास, आहार, वेदना, उपपात, और अनुभाव (प्रभाव) सेभी ऊपर २ के[1] देवोंमें महत्व साध्य है । सबसे जघन्यस्थितिवाले देवोंमें सात २ स्तोकोंमें (कालविशेष) में उच्छ्वास (प्राणक्रिया) होता है, और आहार चौथे कालमें होता है । और पल्योपम स्थितिवालोंका दिनके मध्यमें उच्छ्वास होता है और दिवसके पृथक्त्वका आहार होता है । अर्थात् एक दिन पृथक् करके आहार होता है । तथा जिस देवकी जितनी सागरोपमस्थिति है उसका उतनेही पक्षमें उच्छ्वास होता है । जैसे—दो सागरोपमस्थितिवालोंका एक मासमें, चार सागरोपमस्थितिवालोंका दो मासमें, इत्यादि । और जितने सागरोपम जिसकी स्थिति है, उसका आहार उतनेही सहस्र वर्षोंमें होता है । देवताओंको प्रायः सद्वेदना होती हैं न कि कदाचित् असत् वेदना (अनुभव) । यदि कदाचित् किसी समयमें असद्वेदनायें होंभी तो केवल अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्तही होती हैं न कि उससे अधिक, और अनुबद्ध (संबद्ध वा लगातार) सद्वेदनाभी अधिकसे अधिक छ मासपर्यन्त होती हैं । और उपपात आरण अच्युतके ऊपर अन्यतीर्थों (अन्यमतवालोंका) उपपात नहीं होता है । स्वलिङ्गधारी भिन्न दर्शनवालोंका ग्रैवेयकपर्यन्त उपपात होता है । और अन्य संयत सम्यग्दृष्टिका सर्वार्थसिद्धतक उपपात—होना संभव है । ब्रह्मलोकसे ऊर्ध्व और सर्वार्थसिद्धपर्यन्त केवल चतुर्दश पूर्वधरोंहीका उपपात होता है । अनुभाव—

१ अर्थात् इनका महत्व उच्छ्वास आहार आदिके द्वाराभी सिद्ध करना चाहिये ।

जैसे विमान तथा सिद्धिक्षेत्रकी आकाशप्रदेशमें निरालम्बस्थिति होनेंमे लोककी स्थितिही हेतु (कारण) है। लोकस्थिति, लोकानुभाव, लोकस्वभाव, जगद्धर्म और अनादि परिणाम-सन्तति, इन सबका एकही तात्पर्य है। सब देवेन्द्र, और ग्रैवेयकके सब देव भगवान् परमर्षि अर्हत्‌के जन्म, अभिषेक, निष्क्रमण, ज्ञानोत्पत्ति और महासमवसरणमें अथवा निर्वाणकालमें चाहै आसीन (बैठे) हों, सोते हों, वा खड़े हों अथवा अन्य किसी दशामें हों, सहसा अर्थात् अकस्मात् शीघ्रही आसन, शयन, तथा स्थानके आश्रयसहित चलायमान होते है। तात्पर्य यह कि भगवान्‌के जन्मादि पंच कल्याणोंके समयमें इनके आसनशयनादिके आश्रय कम्पायमान होते हैं। अथवा शुभ कर्मोंके उदयसे, वा लोकके प्रभावसेही चलायमान होते हैं। उसके पश्चात् उपयोग अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होनेसे भगवान्‌की अन्यके सदृश अर्थात् अन्य साधारण जनोंको अलभ्य तीर्थंकर नामकर्मसे उत्पन्न विभूति (ऐश्वर्य)को अवधिज्ञानसे देखकर संवेग (भक्तिसहित वैराग्य) उत्पन्न होनेसे सत् धर्मके बहुमानसे कोई देव तो आकर भगवान्‌के चरणमूलके निकट स्तुति, वन्दना, उपासना तथा हितापदेशके श्रवणोंसे अपने आत्माका अनुग्रह प्राप्त करते है। और कोई वहां ही खड़े होकर प्रत्युपस्थापन अर्थात् हाथ जोड़के दण्डवत् प्रणाम, नमस्कार और भेट आदिके समर्पणसे परमभक्ति आदि सम्पन्न होकर सद्धर्मके अनुरागसे विकसितनेत्र-वदनयुक्त भगवान्‌की अनेक प्रकारसे पूजा करते है।

अत्राह। त्रयाणां देवनिकायानां लेश्यानियमोऽभिहितः। अथ वैमानिकानां केषां का लेश्या इति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते है कि भवन, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क इन तीन निकायोंके लेश्याका नियम तो आपने कहा। अब वैमानिक देवोंमेंसे किनकी कौनसी लेश्या होती है इसपर कहते हैं—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वि त्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

सूत्रार्थः—सौधर्मादि कल्पोंमें प्रथम दो कल्पोंमें तो पीतलेश्या है, और उसके आगे तीन कल्पके देवोंमें पद्मलेश्या है, और आगे शेष देवोंमें शुक्ललेश्या है।

भाष्यम्—उपर्युपरि वैमानिकाः सौधर्मादिषु द्वयोस्त्रिषु शेषेषु च पीतपद्मशुक्ललेश्या भवन्ति यथासङ्ख्यम्। द्वयोः पीतलेश्याः सौधर्मैशानयोः। त्रिषु पद्मलेश्याः सानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकेषु। शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिद्धाच्छुक्ललेश्याः। उपर्युपरि तु विशुद्धतरेत्युक्तम्॥

विशेषव्याख्या—चतुर्थनिकायके देवोंमें लेश्याकी यह अवस्था है कि, आरम्भके दो कल्पोंमें तो पीतलेश्या है, उसके ऊपरके तीन कल्पोंमें पद्मलेश्या है। और उनके ऊपरके शेष देवोंमें शुक्र लेश्या है। यहांपर पीत, पद्म, शुक्ल लेश्याका और द्वित्रिशेषका

यथासंख्य है। जैसे—दो अर्थात् सौधर्म तथा ऐशानकल्पके देवोंमें तो पीतलेश्या है, और शेष अर्थात् लान्तकसे आदिलेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त शुक्लेश्याही है । और समानलेश्याओंमेंभी ऊपर २ के देवोंकी लेश्या अधिक विशुद्ध है. यह विषय कह चुके हैं।

अत्राह। उक्तं भवता द्विविधा वैमानिका देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्चेति । तन् के कल्पा इति। अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि वैमानिक देवोंके आपने दो भेद कहे हैं, एक कल्पोपपन्न और दूसरा कल्पातीत। सो उनमें कौन कल्पोपपन्न हैं और कौन कल्पातीत हैं?। इसपर यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—ग्रैवेयकसे पूर्व कल्प हैं, और उनसे परे कल्पातीत है।

भाष्यम्—प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा भवन्ति सौधर्मादय आरणाच्युतपर्यन्ता इत्यर्थः । अतोऽन्ये कल्पातीताः ॥

विशेषव्याख्या—सौधर्मसे आदि लेकर ग्रैवेयकके पूर्व अर्थात् आरणाच्युतपर्यन्त कल्प हैं और उन कल्पोंमे जो निवास करते है वे कल्पोपपन्न हैं। और शेप आगेके कल्पातीत है।

अत्राह। किं देवाः सर्वे एव सम्यग्दृष्टयो यद्भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्मादिषु प्रमुदिता भवन्ति इति। अत्रोच्यते। न सर्वे सम्यग्दृष्टयः किं तु सम्यग्दृष्टयः सद्धर्मबहुमानादेव तत्र प्रमुदिता भवन्त्यभिगच्छन्ति च । मिथ्यादृष्टयोऽपि च लोकचित्तानुरोधादिन्द्रानुवृत्त्या परस्परदर्शनात् पूर्वानुचरितमिति च प्रमोदं भजन्तेऽभिगच्छन्ति च । लोकान्तिकास्तु सर्वे एव विशुद्धभावाः सद्धर्मबहुमानात्संसारदुःखार्त्तानां च सत्त्वानामनुकम्पया भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्मादिषु विशेषतः प्रमुदिता भवन्ति । अभिनिःक्रमणाय च कृतसंकल्पान्भगवतोऽभिगम्य प्रहृष्टमनसः स्तुवन्ति सभाजयन्ति चेति ॥

अब यहांपर कहते हैं क्या सब देव सम्यग्दृष्टि होते हैं, जो भगवान् परमर्षि अर्हतोंके जन्म अभिषेक आदिमें प्रसन्न होते हैं? अब इसका उत्तर कहते हैं कि सब देवता तो सम्यग्दृष्टि नहीं होते किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है वे सद्धर्मके बहुमान (अति आदर)सेही अतिप्रसन्न होते हैं और जन्मादिके स्थानोंपर जातेभी हैं । और मिथ्यादृष्टि देवभी लोकोंके चित्तके अनुरोधसे तथा इन्द्रकी अनुकूलतासे, और परस्परके आनन्ददर्शनसे, तथ

१ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणरचित बृहत्संग्रहणिकी निजटीकामें मलयगिरि कहते हैं कि हरिभद्रसूरि तत्त्वार्थ टीकाकार लिखते हैं "भावलेश्या" छहों प्रति निकायमें देवोंको होती है। और वही आचार्य अपनी प्रज्ञापनासू (कलकत्तासंस्करण पृ. ३६५) की टीकामें कहता है। जैसे यह विषय प्रमाणबाधित है वैसा तत्त्वार्थटीका निर्धारित किया है उसीसे जानलेना । इस कथनसे निश्चित होता है कि मलयगिरिनेभी तत्त्वार्थसूत्र टीका की है।

सब देव ऐसा करते चले आये हैं (भगवान् तीर्थंकरोंके जन्मादिमे आनन्द मनाते आये हैं) इससे हमको करना चाहिये ऐसा समझकरके प्रसन्नताको प्राप्त होते है और जन्म अभिषेकादिके स्थानमें उत्सवार्थ जातेभी हैं। और लोकान्तिक देव तो सभी विशुद्ध-भाव होते है, अतएव सद्धर्मके बहुमान आदरसत्कारसे तथा संसारके दुःखोंसे पीडित जीवोंके ऊपर दया कर भगवान् परमर्षिस्वरूप अर्हत् तीर्थंकरोंके जन्म अभिषेक आदि उत्सवोंमें विशेष रूपसे प्रसन्न होते है। अभिनिष्क्रमणके लिये अर्थात् तपके अर्थ संकल्प करनेवाले भगवान्‌को उनके समीप जाकर प्रसन्नचित्तसे स्तुति, तथा बड़ाई प्रतिष्ठा आदि करते हैं।

अत्राह। के पुनर्लोकान्तिकाः कतिविधा वेति। अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि लोकान्तिक देव कौन हैं, और कितने हैं? इस हेतुसे यह आगेका सूत्र कहते है—

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः॥ २५॥

सूत्रार्थ—ब्रह्मलोकमें जो रहते है वे लोकान्तिक है।

भाष्यम्—ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः। ब्रह्मलोकं परिवृत्त्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति। तद्यथा—

विशेषव्याख्या—जिन देवोंका ब्रह्मलोक आलय अर्थात् स्थान है वे ब्रह्मलोकालय अर्थात् ब्रह्मलोकनिवासी देव लोकान्तिक कहे जाते है, न कि अन्य कल्पनिवासी, और न ब्रह्मलोकसे परे लोकके निवासी लोकान्तिक हैं। ब्रह्मलोक परिवेष्टित करके आठों दिशाओं-(चार दिशा और चार विदिशाओं)में आठही विकल्प (भेद) इनके होते हैं। जैसे—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतः (अरिष्टाश्च)२६

सूत्रार्थ—ये सारस्वत आदि आठ प्रकारके देव ब्रह्मलोककी पूर्वोत्तर आदि दिशाओंमें होते हैं।

भाष्यम्—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासङ्ख्यम्। तद्यथा—पूर्वोत्तरस्यां दिशि सारस्वताः, पूर्वस्यामादित्याः, इत्येवं शेषाः॥

विशेषव्याख्या—सारस्वत आदि मरुत् पर्यन्त आठ देव ब्रह्मलोकके पूर्वोत्तर आदि जो अष्ट दिग्विभाग हैं उनमें प्रदक्षिणरूपसे रहते है। यहांपर सारस्वत आदि देव और पूर्वोत्तरा आदि आठों दिशाओंका यथासंख्य क्रम है। जैसे—पूर्वोत्तर दिशामें सारस्वत देव रहते हैं, अर्थात् पूर्व और उत्तरदिशाके कोण (ऐशानकोण)मे सारस्वत रहते हैं। पूर्व दिशामें आदित्यसंज्ञक देव रहते है। इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये। अर्थात् पूर्व दक्षिण (आग्नेयकोण)में वह्नि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण पश्चिम

(नैर्ऋत्यकोण) में गर्दतोय, पश्चिममें तुषित, पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में अव्यावाध, और उत्तरमें मरुत् अथवा अरिष्ट देव रहते हैं ॥ २६ ॥

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—विजयादिक विमानोंके देवोंको केवल दो जन्म सिद्धाऽवस्था प्राप्त होनेमें शेष रहते हैं।

भाष्यम्—विजयादिष्वनुत्तरेषु विमानेषु देवा द्विचरमा भवन्ति । द्विचरमा इति ततश्च्युताः परं द्विर्जनित्वा सिध्यन्तीति । सकृत्सर्वार्थसिद्धमहाविमानवासिनः । शेषास्तु भजनीयाः ॥

विशेषव्याख्या—विजय आदि जो पञ्च अनुत्तर विमान हैं उन विमानोंके निवासी देवोंके दोही जन्म अन्तके रहजाते है। द्विचरम इसका यह तात्पर्य है कि विजय आदि विमानोंकी स्थितिका काल भोगकर उससे जब च्युत हों तो पुनः संसारमें दो जन्म धारण करके मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त होते हैं । और सर्वार्थसिद्ध नाम महाविमानके निवासी देवता एकही वार संसारमें जन्म लेकर उसी जन्ममें सिद्ध हो जाते हैं । और इनसे शेष जो है उनको सिद्धि कई जन्ममें वा एक दो चार आदि जन्ममें प्राप्य है।

अत्राह। उक्तं भवता जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनिगतिरिति तथा स्थितौ तिर्यग्योनीनां चेति। आस्रवेषु च माया तैर्यग्योनस्येति। तत्के तिर्यग्योनय इति। अत्रोच्यते—

अब कहते है कि आपने औदयिक भावोंमें कहा है कि "तिर्यग्योनि" गति होती है (अ. २ सू. ६)। तथा उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिमें तिर्यग्योनिवालोंकी स्थिति बतलाई है (अ. ३ सू. २६)। आस्रवमें कहा है कि माया तिर्यग्योनि वन्धके आस्रवका कारण होती है (अ. ६ सू. १७)। इत्यादि स्थानोंमें अनेकबार तिर्यग्योनिकी चर्चा की है। सो तिर्यग्योनिवाले कौन हैं?। इसके उत्तरमें अग्रिम सूत्र कहते हैं—

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—उपपातरूप जन्मसे उत्पन्न होनेवाले तथा मनुष्योंसे जो शेष अर्थात् भिन्न हैं वे सब तिर्यग्योनिके जीव है।

भाष्यम्—औपपातिकेभ्यश्च नारकदेवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथोक्तेभ्यः शेषा एकेन्द्रियादयस्तिर्यग्योनयो भवन्ति ॥

विशेषव्याख्याः—उपपातरूप जन्मसे जो उत्पन्न होनेवाले देव तथा नारकी जीव और मनुष्य इनसे जो शेष एकेन्द्रियादिक जीव हैं वे तिर्यग्योनि जीव कहे जाते है।

अत्राह। तिर्यग्योनिमनुष्याणां स्थितिरुक्ता। अथ देवानां का स्थितिरिति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते हैं कि तिर्यग्योनि तथा मनुष्योंकी स्थिति तो आपने कही । अब देवोंकी स्थिति कितने कालपर्यन्त होती है, इस लिये यह अग्रिम सूत्र कहते है—

स्थितिः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—स्थितिरित्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यते ॥

विशेषव्याख्या—अब इसके आगे देवोंकी स्थितिके विषयमें कहैंगे।

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—भवनवासी देवोंमें जो दक्षिणार्धाधिपति हैं उनकी अध्यर्ध एक पल्योपम स्थिति है।

भाष्यम्—भवनेषु तावद्भवनवासिनां दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धं परा स्थितिः। द्वयोर्द्वयोर्यथोक्तयोर्भवनवासीन्द्रयोः पूर्वो दक्षिणार्धाधिपतिः पर उत्तरार्धाधिपतिः ॥

विशेषव्याख्या—दक्षिणार्धाधिपति जो देव है उनकी अर्ध अधिक (सार्द्ध) एक पल्योपम अर्थात् डेढ़ पल्योपम परा स्थिति है। यथोक्त दो दो भवनवासी इन्द्रोंमेंसे पूर्व २ का इन्द्र दक्षिणार्धाधिपति कहा जाता है, और दूसरा उत्तरार्धाधिपति है।

शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—भवनवासियोंमें जो शेष अधिपति हैं उनकी पाद ऊन अर्थात् चौथाई पल्य कम दो पल्योपम परा स्थिति है।

भाष्यम्—शेषाणां भवनवासिष्वधिपतीनां द्वे पल्योपमे पादोने परा स्थितिः। के च शेषा उत्तरार्धाधिपतय इति ॥

विशेषव्याख्या—दक्षिणार्धाधिपतियोंकी तो डेढ़ पल्योपम परा स्थिति कहचुके, अब उनसे शेष अर्थात् जो उत्तरार्धाधिपति है उनकी एक पादसे ऊन अर्थात् पौने दो पल्योपम परा स्थिति है। यहां शेष पदसे उत्तरार्धाधिपतियोंसे तात्पर्य है।

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—असुरेन्द्रयोस्तु दक्षिणार्धाधिपत्युत्तरार्धाधिपत्योः सागरोपममधिकं च यथासङ्ख्यं परा स्थितिर्भवति ॥

विशेषव्याख्या—असुरेन्द्र जो दक्षिणार्धाधिपति तथा उत्तरार्धाधिपति हैं उनकी सागरोपम तथा कुछ अधिक परा स्थिति है। यहांपर दक्षिणार्धाधिपति तथा उत्तरार्धाधिपति और सागरोपम तथा अधिकका यथासंख्य है। अर्थात् असुरेन्द्रोंमें दक्षिणार्धाधिपतिकी सागरोपम परा स्थिति, और उत्तरार्धाधिपतिकी कुछ अधिक सागरोपम परा स्थिति है।

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—सौधर्मादिकोंमे यथाक्रमसे परा स्थिति कहैंगे।

भाष्यम्—सौधर्ममादिं कृत्वा यथाक्रममित ऊर्ध्वं परा स्थितिर्वक्ष्यते ॥

विशेषव्याख्या—यहांसे आगे सौधर्म आदिक देवोंकी परा स्थिति यथाक्रमसे कहैंगे।

सागरोपमे ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—सौधर्मे कल्पे देवानां परा स्थितिर्द्वे सागरोपमे इति ॥

विशेषव्याख्या—सौधर्मकल्पके देवोंकी परा स्थिति दो सागरोपम है।

अधिके च ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—ऐशाने द्वे एव सागरोपमे अधिके परा स्थितिर्भवति ॥

विशेषव्याख्या—और ऐशानकल्पमें कुछ अधिक दो सागरोपम परा स्थिति है।

सप्त सानत्कुमारे ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—सानत्कुमारे कल्पे सप्त सागरोपमाणि परा स्थितिर्भवति ॥

विशेषव्याख्या—सानत्कुमारकल्पके देवोंकी सात सागरोपम परा स्थिति है।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—माहेन्द्रादि कल्पोंमे इन तीन सात विशेषाधिक सागरोंसहित सात सागरोम परा स्थिति है। विशेष तीन, सात, दश, ग्यारह, तेरह, पन्द्रहं सागर अधिक सागरोपम परा स्थिति माहेन्द्र आदि कल्पोंमे है।

भाष्यम्—एभिर्विशेषादिभिरधिकानि सप्त माहेन्द्रादिपु परा स्थितिर्भवति। सप्तेति वर्तते। तद्यथा—माहेन्द्रे सप्त विशेषाधिकानि। ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्त दशेत्यर्थः। लान्तके सप्तभिरधिकानि सप्त चतुर्दशेत्यर्थः। महाशुक्रे दशभिरधिकानि सप्त सप्तदशेत्यर्थः। सहस्रारे एकादशभिरधिकानि सप्त अष्टादशेत्यर्थः। आनतप्राणतयोस्त्रयोदशभिरधिकानि सप्त विंशतिरित्यर्थः। आरणाच्युतयोः पञ्चदशभिरधिकानि सप्त द्वाविंशतिरित्यर्थः ॥

विशेषव्याख्या—यहांपर पूर्वसूत्रसे सप्तकी अनुवृत्ति आती है। इससे यह अर्थ हुआ कि विशेष अधिक सप्त सागरोपमादि परा स्थिति माहेन्द्र आदि कल्पविमानोंमें होती है। जैसे—माहेन्द्रकल्पनिवासी देवोंकी विशेष अधिक सप्त सागरोपम स्थिति होती है। ब्रह्मलोकमें तीन अधिक सप्त सागरोपम अर्थात् दश सागरोपम स्थिति होती है। लान्तकमें सप्त अधिक सप्त अर्थात् चतुर्दश (१४) सागरोपम स्थिति होती है। महाशुक्रमें दश अधिक सप्त अर्थात् सत्रह (१७) सागरोपम स्थिति होती है। सहस्रारमें एकादश (ग्यारह) अधिक सप्त अर्थात् अठारह (१८) सागरोपम स्थिति रहती है। आनत प्राणतमें त्रयोदश (तेरह) अधिक सप्त अर्थात् (२०) सागरोपम स्थिति रहती है। और आरण तथा अच्युत कल्पोंमें पंचदश (पन्द्रह) अधिक सप्त अर्थात् वावीस (२२) सागरोपम स्थिति होती है ॥ ३७ ॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—आरण और अच्युतके ऊपर नव ग्रैवेयकोंमे, विजय आदिकमें तथा सर्वार्थसिद्धमें देवोंकी स्थिति एक २ सागरोपम अधिक होती जाती है।

भाष्यम्—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेनाधिका स्थितिर्भवति नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च। आरणाच्युते द्वाविंशतिर्ग्रैवेयकेषु पृथगेकैकेनाधिका त्रयोविंशतिरित्यर्थः। एवमेकैकेनाधिका सर्वेषु नवसु यावत्सर्वेषामुपरि नवमे एकत्रिंशत्। सा विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत्। साप्येकेनाधिका सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति॥

विशेषव्याख्या—आरण तथा अच्युतके आगे नव ग्रैवेयक, विजय आदि तथा सर्वार्थसिद्धमे एक २ सागरोपम स्थितिकाल बढ़ता जाता है। जैसे—आरण और अच्युतमे तो बावीस सागरोपम स्थिति होती है यह तो कहीचुके है। अब उसके आगे नव ग्रैवेयकोंमे पृथक् २ एक २ सागरोपम अधिक होती जायगी। जैसे—प्रथम ग्रैवेयकमें तेवीस (२३), द्वितीयमें चौबीस, ऐसेही सबके अन्तमें नवम ग्रैवेयकमे एकतीस (३१) सागरोपम स्थितिकाल है। और विजय आदि चार अर्थात् विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित इन चारोंमें बत्तीस (३२) सागरोपम स्थितिकाल है। और सर्वार्थसिद्धमें वह स्थिति एक सागरोपम और अधिक होती है, अर्थात् सर्वार्थसिद्धविमाननिवासी देवोंकी तेंतीस (३३) सागरोपम होती है॥ ३८॥

अत्राह। मनुष्यतिर्यग्योनिजानां परापरे स्थिती व्याख्याते। अथौपपातिकानां किमेकैव स्थितिः परापरे न विद्येते इति। अत्रोच्यते—

अब कहते हैं कि मनुष्य तथा तिर्यग्योनिज जीवोंकी परा तथा अपरा दोनों प्रकारकी स्थितिका वर्णन किया गया। अब औपपातिक अर्थात् उपपातरूप जन्मसे उत्पन्न होनेवालोंकी क्या एकही स्थिति है? अर्थात् इनकी स्थितिमे परा अपरा भेद नही है? इसपर यह अग्रिम सूत्र कहते है—

अपरा पल्योपममधिकं च॥ ३९॥

सूत्रार्थ—सौधर्म आदिमें जघन्य स्थिति पल्योपम और कुछ अधिक है।

भाष्यम्—सौधर्मादिष्वेव यथाक्रममपरा स्थितिः पल्योपममधिकं च। अपरा जघन्या निकृष्टेत्यर्थः। परा प्रकृष्टा उत्कृष्टेत्यनर्थान्तरम्। तत्र सौधर्मेऽपरा स्थितिः पल्योपममैशाने पल्योपममधिकं च॥

विशेषव्याख्या—सौधर्म आदि कल्पोंमें यथाक्रम अपरा स्थिति पल्योपम तथा किंचित् अधिक है। अपरा अर्थात् जघन्या, सबसे निकृष्ट स्थितिका तात्पर्य है। और परा अर्थात् प्रकृष्ट, उत्कृष्ट ये दोनों एकार्थवाचक है। परा सबसे अधिक स्थिति है. उसमे सौधर्ममे अपरा स्थिति पल्योपम है, और ऐशानकल्पमें पल्योपम (एक पल्य) तथा कुछ अधिक है।

सागरोपमे॥ ४०॥

भाष्यम्—सानत्कुमारेऽपरा स्थितिर्द्वे सागरोपमे॥

विशेषव्याख्या—सानत्कुमारकल्पमें अपरा स्थिति दो सागरोपम हैं॥ ४०॥

अधिके च॥ ४१॥

भाष्यम्—माहेन्द्रे जघन्या स्थितिरधिके द्वे सागरोपमे॥

विशेषव्याख्या—माहेन्द्रकल्पमें अपरा स्थिति कुछ अधिक दो सागरोपम है ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—माहेन्द्रकल्पके परे पूर्व अर्थात् पूर्व २ स्वर्गोंमें जो परा स्थिति है वह पर २ में जघन्या अर्थात् अपरा स्थिति होती है ।

भाष्यम्—माहेन्द्रात्परतः पूर्वा परानन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति । तद्यथा-माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति । ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तके जघन्या । एवमासर्वार्थसिद्धादिति । (विजयादिषु चतुर्षु परा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सा त्वजघन्योत्कृष्टा सर्वार्थसिद्ध इति) ॥

विशेषव्याख्या—माहेन्द्रकल्पसे आगे पूर्व २ की जो परा स्थिति है वह पर २ अर्थात् आगे २ के कल्पोंमें अपरा स्थिति हो जाती है । जैसे—माहेन्द्रकल्पमें परा स्थिति विशेष अधिक सप्त सागरोपम है, वह ब्रह्मलोकमें अपरा अर्थात् जघन्या है । ऐसेही ब्रह्मलोकमें परा स्थिति दश सागरोपम है वह लान्तकमे जघन्या वा अपरा स्थिति है । इसी प्रकार पूर्व २ की परा स्थिति पर २ की जघन्या स्थिति सर्वार्थसिद्धपर्यन्त जाननी चाहिये । (विजयै आदि चार विमानोंमें परा स्थिति तेंतीस सागरोपम है. वह सर्वार्थसिद्धमें अजघन्योत्कृष्टा है ।)

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—नारक अर्थात् नरककी द्वितीया आदि भूमियोंमें भी पूर्व २ की जो परा स्थिति है वह पर २ की अपरा होती है ।

भाष्यम्—नारकाणां च द्वितीयादिषु भूमिषु पूर्वा पूर्वा परा स्थितिरनन्तरा परतः परतोऽपरा भवति । तद्यथा—रत्नप्रभायां नारकाणामेकं सागरोपमं परा स्थितिः सा जघन्या शर्कराप्रभायाम् । त्रीणि सागरोपमाणि परा स्थितिः शर्कराप्रभायां सा जघन्या वालुकाप्रभायामिति । एवं सर्वासु । तमःप्रभायां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि परा स्थितिः सा जघन्या महातमःप्रभायामिति ।

विशेषव्याख्याः—जैसे देवोंके कल्पविमानोंके विषयमें माहेन्द्रसे परे पूर्व २ की परा स्थिति, पर २ की अपरा होती है; ऐसेही नरककी द्वितीय (शर्करा प्रभा) आदि भूमियोंमें भी पूर्व २ की परा स्थिति, परकी भूमियोंकी अपरा वा जघन्या स्थिति है । जैसे—रत्नप्रभामें नारक जीवोंकी एक सागरोपम परा स्थिति है, वह शर्कराप्रभामें जघन्या स्थिति है । तथा

---

१ यहापर यह जानना उचित है कि विजय आदि चार विमानोंमें परा स्थिति बत्तीस सागरोपम है; और सर्वार्थसिद्धमें तेंतीस सागरोपम अजघन्योत्कृष्टा है, अर्थात् वहां एकही स्थिति है; परा अपरा भेद नहीं है । और भाष्यकार सर्वार्थसिद्धमेंभी जघन्या बत्तीस सागरोपम है ऐसा जो कहते हैं **"आसर्वार्थसिद्धात्"** [illegible] अभिप्राय नहीं ज्ञात होता है । कदाचित् यहां आङ् (आ) मर्यादाबोधक हो अर्थात् सर्वार्थसिद्धको छोडके **"तेन विना मर्यादा तत्सहितोऽभिविधिः"** । २ विजयादिककी परा स्थिति तो बत्तीसकी (३२) कही है [illegible] ३३ [illegible] अभिप्रायसे कहे यह नहीं जाना जाता । और कहीं २ कोष्टका पाठ नहीं है । क्योंकि अर्थ [illegible] है ।

शर्कराप्रभामें परा स्थिति तीन सागरोपम है वह वालुकाप्रभामें जघन्या स्थिति है । इसी प्रकार शेष सब भूमियोंमे भी समझ लेना चाहिये । तमःप्रभाभूमिमें बावीस (२२) सागरोपम परा स्थिति है वह महातमःप्रभामें जघन्या अर्थात् अपरा स्थिति है ॥ ४३ ॥

दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—प्रथमायां भूमौ नारकाणां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः ॥

विशेषव्याख्या—प्रथम भूमि अर्थात् रत्नप्रभा भूमिमें नारकजीवोंकी अपरा स्थिति दशसहस्र (१००००) वर्ष है ।

भवनेषु च ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—भवनवासिनां च दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः ॥

विशेषव्याख्या—भवनवासी देवोंकीभी जघन्या स्थिति दश सहस्र वर्ष है ।

व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां च देवानां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः ॥

विशेषव्याख्या—व्यन्तरदेवोंकीभी जघन्या स्थिति दश सहस्र वर्ष है ।

परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां परा स्थितिः पल्योपमं भवति ॥

विशेषव्याख्या—व्यन्तरदेवोंकी परा (सर्वोत्कृष्टा) स्थिति पल्योपम है ।

ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काणां देवानामधिकं पल्योपमं परा स्थितिर्भवति ॥

विशेषव्याख्या—ज्योतिष्कदेवोंकी परा स्थिति कुछ अधिक पल्योपम है ।

ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—ग्रहाणामेकं पल्योपमं स्थितिर्भवति ॥

विशेषव्याख्या—ग्रहोंकी परा स्थिति एकही पल्योपम होती है ॥ ४९ ॥

नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नक्षत्राणां देवानां पल्योपमार्धं परा स्थितिर्भवति ॥

विशेषव्याख्या—नक्षत्रोंकी अर्ध अर्थात् आधा पल्योपम परा स्थिति है ।

तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—तारकाणां च पल्योपमचतुर्भागः परा स्थितिः ॥

विशेषव्याख्या—ताराओंकी परा स्थिति पल्योपमका चतुर्थ भाग है ।

जघन्या त्वष्टभागः ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—तारकाणां तु जघन्या स्थितिः पल्योपमाष्टभागः ॥

विशेषव्याख्या—और ताराओंकी जघन्या स्थिति पल्योपमका अष्टम भाग है ।

चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

भाष्यम्—तारकाभ्यः शेषाणां ज्योतिष्काणां चतुर्भागः पल्योपमस्यापरा स्थितिः ॥

विशेषव्याख्या—ताराओंसे शेष जो ज्योतिष्क देव हैं उनकी अपरा स्थिति पल्योपमका चतुर्थ भाग है ।

इति तत्त्वार्थाधिगमाख्येऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे देवगतिप्रदर्शनो नामा-
चार्योपाधिधारिठाकुरप्रसादशर्मप्रणीत-भाषाटीका-
समलङ्कृतश्चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

उक्ता जीवाः । अजीवान्वक्ष्यामः ॥

जीवपदार्थका निरूपण करचुके अब अजीव पदार्थ कहते हैं ।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल अजीवकाय हैं ।

भाष्यम्—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः पुद्गलास्तिकाय इत्यजीवकायाः । तान् लक्षणतः परस्ताद्वक्ष्यामः । कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च ॥

विशेषव्याख्याः—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, तथा पुद्गलास्तिकाय; ये चारों अजीवकाय है । इनको लक्षणपूर्वक आगे कहेंगे । इस सूत्रमें कायशब्दका ग्रहण प्रदेश तथा अवयवोंके बहुत्व बोधनके अर्थ किया है, अर्थात् इनके प्रदेश अवयव बहुत है, इस बातके जतानेके लिये कायग्रहण किया है । और अद्धासमयमें कायत्व नही है यह जतानेके लियेभी कायग्रहण है ॥ १ ॥

द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—धर्म आदि चार अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और संपूर्ण जीव ये पांच द्रव्य है ।

भाष्यम्—एते धर्मादयश्चत्वारो प्राणिनश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति । उक्तं हि "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" इति ॥

विशेषव्याख्याः—धर्म आदि चार और पांचवां जीव इन पांचोंकी द्रव्य संज्ञा है । कहाभी है—"मति तथा श्रुतज्ञानका विषयनिबन्ध द्रव्योंके असर्व पर्यायों और सब द्रव्योंमे है; और केवल ज्ञानका संपूर्ण द्रव्य तथा संपूर्ण पर्यायमे विषयनिबंध है । अर्थात् मति और श्रुतज्ञानसे संपूर्ण द्रव्य तो जाने जाते है परन्तु सब पर्यायसहित नहीं; और केवल ज्ञानसे संपूर्ण पर्यायसहित सब द्रव्य जाने जाते है." यह विषय प्रथम कहचुके हैं (अ. १ सू. २७,३०) ॥ २ ॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—ये पांचो द्रव्य अर्थात् धर्म आदि चार तथा जीव नित्य अवस्थित तथा अरूपी द्रव्य हैं ।

भाष्यम्—एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति । तद्भावाव्ययं नित्यमिति वक्ष्यते ॥ अवस्थितानि च । न हि कदाचित्पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति ॥ अरूपाणि च । नैषां रूपमस्तीति । रूपं मूर्तिर्मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय इति ॥

विशेषव्याख्या—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांच नित्य द्रव्य हैं । और नित्यका लक्षण **"तद्भावाव्ययं नित्यम्"** अर्थात् वह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञानका हेतुरूप जो भाव उसको नित्य कहते है । ऐसा आगे कहैंगे (अ. ५ सू. ३०) । और ये पांचों अवस्थितरूप हैं । अवस्थितरूप इसका यह अभिप्राय है कि अपनी पञ्चत्वसङ्ख्या तथा नित्यरूप भूतार्थताको कभीभी नही त्यागते । और 'अरूपाणि' इसका यह तात्पर्य है कि धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें कोई श्वेतनीलपीतादि रूप वा वर्ण नहीं है । रूप(मूर्ति) अर्थात् विग्रह और मूर्तिके आश्रयीभूत स्पर्श रस आदिभी इनमें नहीं हैं ॥ ३ ॥

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—पुद्गल रूपी है ।

भाष्यम्—पुद्गला एव रूपिणो भवन्ति । रूपमेषामस्त्येषु वास्तीति रूपिणः ॥

विशेषव्याख्या—इन पांचोंमें पुद्गलही रूपी द्रव्य हैं । जिनके रूप है वा जिनमें रूप है वे रूपी है ॥ ४ ॥

[1]आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—धर्मसे लेकर आकाशपर्यन्त एक द्रव्य है ।

भाष्यम्—आ आकाशाद्धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति । पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणीति ॥

विशेषव्याख्या—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक २ द्रव्य है, अर्थात् धर्म अधर्म आकाश इनके अनेक भेद नहीं है किन्तु ये एकही एक है । और, पुद्गल तथा जीव ये तो अनेक द्रव्य है अर्थात् इन दोनोंके अनेक भेद है ॥ ५ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—धर्मसे लेकर आकाशपर्यन्त द्रव्य निष्क्रिय भी है ।

भाष्यम्—आ आकाशादेव धर्मादीनि निष्क्रियाणि भवन्ति । पुद्गलजीवास्तु क्रियावन्तः । क्रियेति गतिकर्माह ॥

---

१ "आ आकाशादेकरूपाणि" कहीं २ ऐसाभी सूत्रपाठ है. यहां प्रथम आ शब्द अभिव्याप्ति (पर्यन्त)रूप अर्थका वोधक है । 'आकाशा०' इस पाठमेंभी आकाशके पूर्व 'आ' पद है परन्तु दीर्घरूप सन्धि हो गई है ।

विशेषव्याख्या—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य अरूपी हैं और निष्क्रिय भी है; अर्थात् इनमें कोई क्रिया नहीं है। और पुद्गल तथा जीव तो क्रियावान् पदार्थ (द्रव्य) है। यहां क्रियासे गतिकर्मका तात्पर्य है। अर्थात् गतिकर्मको क्रिया कहते[1] हैं।

अत्राह। उक्तं भवता प्रदेशावयवबहुत्वं कायसंज्ञमिति। तस्मात्क एषां धर्मादीनां प्रदेशावयवनियम इति। अत्रोच्यते। सर्वेषां प्रदेशाः सन्त्यन्यत्र परमाणोः। अवयवास्तु स्कन्धानामेव। वक्ष्यते "ह्यणवः स्कन्धाश्च" "संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते" इति॥

अब यहांपर कहते हैं कि आपने प्रथम यह कहा है कि प्रदेश तथा अवयवोंका बहुत्व जो है वही कायसंज्ञक है (अ. ५ सू. १)। अर्थात् जिसके अधिक प्रदेश तथा अवयव हों वह पदार्थ कायवान् वा अस्तिकाय शब्दसे कहा जाता है। जैसे—जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय इत्यादि। सो धर्म अधर्म आदिके प्रदेश तथा अवयवोंका क्या नियम है? अब इसका उत्तर कहते हैं। कि—प्रदेश तो परमाणुको छोड़के सब द्रव्योंके हैं. और अवयव तो केवल स्कन्धोंहीके है। ऐसा आगे कहैंगेभी। अणु और स्कन्ध "ए दो पुद्गलोंके भेद हैं" ये संघातसे, भेदसे तथा संघात-भेदसे उत्पन्न होते हैं॥ ६॥

तत्र—

तहां—

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः॥ ७॥

सूत्रार्थ—धर्म तथा अधर्मके असङ्ख्येय प्रदेश हैं।

भाष्यम्—प्रदेशो नामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाह इति॥

विशेषव्याख्या—प्रदेश पदार्थ सापेक्ष होता है; और परमाणुका अवगाह सर्व—सूक्ष्म है॥ ७॥

जीवस्य च॥ ८॥

भाष्यम्—एकजीवस्य चासङ्ख्येयाः प्रदेशा भवन्तीति॥

विशेषव्याख्या—जीवद्रव्यकेभी अर्थात् एक जीवकेभी असंख्येय प्रदेश होते हैं॥ ८॥

आकाशस्यानन्ताः॥ ९॥

भाष्यम्—लोकालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः। लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मैकजीवैस्तुल्याः॥

विशेषव्याख्या—लोकालोकाकाशके अनन्त प्रदेश है। और लोकाकाशके धर्म, अधर्म तथा एक जीवके तुल्य अर्थात् असंख्यात प्रदेश हैं॥ ९॥

---

१ इस सूत्रकी व्याख्यामें पाश्चात्य विद्वान् सिद्धान्तहृदय इस पदमें पुस्तकका नाम कहके भ्रममें पड़ गये हैं, किन्तु—"तथाचावधृतसिद्धान्तहृदयेन विशेषावश्यककारेण नमस्कारनिर्युक्तौ शब्दानित्यत्वप्रतिपादनेच्छाभावोऽपि" इस वाक्यमें "अवधृतसिद्धान्तहृदय" जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणका विशेषण है। अर्थात् वे सिद्धान्तवादी हैं। २ जो कि वस्तुके व्यतिरेक और भिन्नतासे कदाचित्भी उपलब्ध नहीं होते वे प्रदेश हैं। ३ जो कि विशकलित परिकलित अर्थात् स्पष्ट मूर्तिमान् हैं, बुद्धिपथमें जिनकी मूर्ति स्पष्ट है, वे अवयव हैं. और वे अवयव, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और अणु इनमें नहीं होते तथा येही प्रदेश और अवयवोंका भेद है।

सङ्ख्येयासंङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ताश्च पुद्गलानां प्रदेशा भवन्ति । अनन्ता इति वर्तते ॥

विशेषव्याख्या—और पुद्गलोंके प्रदेश संख्येय, असङ्ख्येय तथा अनन्तभी हैं। यहांपर अनन्तशब्दकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति आती है ॥ १० ॥

नाणोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—अणोः प्रदेशा न भवन्ति । अनादिरमध्योऽप्रदेशो हि परमाणुः ॥

विशेषव्याख्या—अणुके प्रदेश नहीं होते । क्योंकि परमाणु आदि, मध्य तथा प्रदेश इनकरके रहित हैं ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनामवगाहो लोकाकाशे भवति ॥

विशेषव्याख्या—जो अवगाही (रहनेवाले) है उनका अवगाह (स्थिति) लोकाकाशमें होती है ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहो भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—धर्म तथा अधर्मका संपूर्ण लोकाकाशमें अवगाह होता है ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—पुद्गलोंका आकाशके एक आदि प्रदेशोंमें अवगाह विकल्पनीय है ।

भाष्यम्—अप्रदेशसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशानां पुद्गलानामेकादिष्वाकाशप्रदेशेषु भाज्योऽवगाहः । भाज्यो विभाज्यो विकल्प इत्यनर्थान्तरम् । तद्यथा —परमाणोरेकस्मिन्नेव प्रदेशे। द्व्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोश्च । त्र्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोस्त्रिषु च । एवं चतुरणुकादीनां सङ्ख्येयासङ्ख्येयप्रदेशस्यैकादिषु सङ्ख्येयेष्वसङ्ख्येयेषु च । अनन्तप्रदेशस्य च ॥

विशेषव्याख्या—अप्रदेश, सङ्ख्येयप्रदेश, असङ्ख्येयप्रदेश, तथा अनन्तप्रदेशवाले जो पुद्गल है उनका आकाशके एक आदि प्रदेशोंमे अवगाह भाज्य अर्थात् विभाग करनेयोग्य है । भाज्य, विभाज्य, और विकल्प ये सब समानार्थक है । जैसे—परमाणुका एकही प्रदेशमें अवगाह है । और द्व्यणुकका एक तथा दो प्रदेशोंमे अवगाह है । त्र्यणुकका एक, दो तथा तीन प्रदेशोंमेंभी अवगाह है । इसी प्रकार चतुरणुक आदिके विषयमे जो एक प्रदेशी है उसका एक प्रदेशमें और जो सङ्ख्येयप्रदेशी है उसका एक प्रदेशको आदि लेकर सङ्ख्येयप्रदेशोंमें, असङ्ख्येय प्रदेशीका एकको आदि लेकर असङ्ख्येय प्रदेशोंमें, और अनन्तप्रदेशीका एकको आदि लेकर अनन्त प्रदेशोंमें अवगाह है ॥ १४ ॥

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—लोकाकाशप्रदेशानामसङ्ख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति । आ सर्वलोकादिति ॥

विशेषव्याख्या—लोकाकाशके असङ्ख्येय भाग आदिके विषे जीवोंका अवगाह होता है। यह जीवोंका अवगाह संपूर्ण लोकतक होता है ॥ १५ ॥

अत्राह। को हेतुरसङ्ख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवतीति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते हैं कि क्या कारण है कि लोकाकाशके असङ्ख्येय विभागादिमें जीवोंका अवगाह होता है? । अब इसपर कहते हैं—

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—दीपके प्रकाशके समान जीवोंके प्रदेश संकोचविस्ताररूप होनेसे लोकके असङ्ख्येय आदि भागोंमें जीवोंका अवगाह होता है।

भाष्यम्—जीवस्य हि प्रदेशानां संहारविसर्गाविष्टौ प्रदीपस्येव। तद्यथा—तैलवर्त्यग्न्युपादानप्रवृद्धः प्रदीपो महतीमपि कूटागारशालां प्रकाशयत्यण्वीमपि, माणिकावृतः माणिकां द्रोणावृतो द्रोणमाढकावृतश्चाढकं प्रस्थावृतः प्रस्थं पाण्यावृतो पाणिमिति। एवमेव प्रदेशानां संहारविसर्गाभ्यां जीवो महान्तमणुं वा पञ्चविधं शरीरस्कन्धं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं व्याप्नोतीत्यवगाहत इत्यर्थः। धर्माधर्माकाशजीवानां परस्परेण पुद्गलेषु च वृत्तिर्न विरुध्यतेऽमूर्तत्वात् ॥

विशेषव्याख्या—प्रदीपके समान जीवके प्रदेशोंके संहार तथा विसर्ग इष्ट हैं। तैल, वर्तिका (बत्ती) तथा अग्निरूप उपादानकारणसे वृद्धिको प्राप्त प्रदीप (दीपक) छोटी तथा बड़ी शाला (गृह)को प्रकाशित करता है। जैसे—दीपक यदि माणिका (पात्र)से आच्छादित हो तो माणिकाको प्रकाशित करता है, द्रोण (अन्न मापनेके पात्रविशेष)से आच्छादित हो तो द्रोणको प्रकाशित करता है, ऐसेही आढकसे आवृत (ढका हुआ) होनेसे आढक (पात्रविशेष)को, प्रस्थसे आवृत होनेसे प्रस्थ (मापनेके पात्र)को और पाणिसे आवृत होनेसे पाणिको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार यह जीवभी प्रदेशोंके संहार तथा विसर्ग अथात् संकोच और विस्तारसे महान् अथवा अणु पञ्चविध शरीरस्कन्ध धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा जीवके प्रदेशसमूहको अवगाहन करता अर्थात् व्याप्त होता है। और धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीवोंकी परस्परसे पुद्गलोंमें गगनागमनरूप वृत्तिका विरोध नहीं होता, क्योंकि धर्म आदि चारों अमूर्त हैं ॥ १६ ॥

अत्राह। सति प्रदेशसंहारविसर्गसंभवे कस्मादसङ्ख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिष्विति। अत्रोच्यते। संयोगत्वात्संसारिणां चरमशरीरत्रिभागहीनावगाहित्वाच्च सिद्धानामिति ॥

अब कहते हैं कि प्रदेशोंके संहार तथा प्रसर्पणके स्वभावका संभव होनेसे असङ्ख्येय भागादिकमें जीवोंका अवगाह क्यों होता है? और एक प्रदेशादिमे क्यों नहीं होता? इसपर कहते है कि, संसारी जीवोंको तो योग (शरीरवाङ्मनोयोग) सहित होनेसे; और

सिद्धोंको अन्तिम शरीरसे त्रिभागहीन होनेसे असङ्ख्य भाग आदिमें अवगाह (व्याप्ति) होती है ।

अत्राह । उक्तं भवता धर्मादीनस्तिकायान् परस्ताल्लक्षणतो वक्ष्याम इति तत्किमेषां लक्षणमिति । अत्रोच्यते—

अब कहते है कि आपने यह कहा है, कि धर्मास्तिकाय आदिको लक्षणपूर्वक हम आगे कहैंगे (अ. ५ सू. १)सो इनके क्या लक्षण हैं? । अब इसके उत्तरमें अग्रिम सूत्र कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—गत्युपग्रह और स्थित्युपग्रह यह धर्म तथा अधर्मका उपकार है ।

भाष्यम्—गतिमतां गतेः स्थितिमतां च स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथासङ्ख्यम् । उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणं हेतुरित्यनर्थान्तरम् । उपकारः प्रयोजनं गुणोऽर्थ इत्यनर्थान्तरम् ॥

विशेषव्याख्या—गतिमान् जो (जीव पुद्गल) पदार्थ है उनकी तो गतिके और जो स्थितिमान् (ठहरे हुए जीव पुद्गल) हैं, उनकी स्थितिके उपग्रह अर्थात् सहायरूप होना यह धर्म तथा अधर्मका जीव और पुद्गलोंके ऊपर उपकार है । यहांपर गति उपग्रह, और स्थिति उपग्रह इनका तथा धर्म और अधर्मका यथासङ्ख्य है । अर्थात् गतिकारणता धर्मका और स्थितिकारणता अधर्मका लक्षण है । उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण, और हेतु ये सब समानार्थक है । और ऐसेही उपकार, प्रयोजन, गुण तथा अर्थ ये सबभी एकार्थबोधक हैं ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह देना यह आकाशका उपकार है ।

भाष्यम्—अवगाहिनां धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः । धर्माधर्मयोरन्तःप्रवेशसंभवेन पुद्गलजीवानां संयोगविभागैश्चेति ॥

विशेषव्याख्या—अवगाही अर्थात् रहनेवाले पदार्थो अर्थात् धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव इन सबको अवगाह देना यह आकाशका धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीवोंके ऊपर उपकार है । इनमें धर्म और अधर्मका आभ्यन्तर प्रवेशके संभवसे उपकार करता है, और पुद्गल तथा जीवोंका संयोग तथा विभागोंसे उपकार करता है । तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीवोंको अवकाश वा अवगाहदानरूपसे तो उपकारक आकाशही है; किन्तु धर्म अधर्मको प्रत्येकमें अन्तःप्रवेशके संभवसे और पुद्गल तथा जीवोंका संयोग तथा विभागोंसेभी उपकार करता है ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—शरीर, वाक्, मन, तथा प्राण, अपान ये पुद्गलोंका जीवोंके ऊपर उपग्रह अर्थात् उपकार है।

भाष्यम्—पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ्मनः प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः। तत्र शरीराणि यथोक्तानि। प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ। द्वीन्द्रियाद्यो जिह्वेन्द्रिययोगाद्भाषात्वेन गृह्णन्ति नान्ये। संज्ञिनश्च मनस्त्वेन गृह्णन्ति नान्य इति। वक्ष्यते हि सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति।

विशेषव्याख्या—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, और कार्मण इन पञ्चविध शरीरोंके द्वारा वाक्से, मनसे और प्राण तथा अपानसे पुद्गलोंका जीवके ऊपर उपकार है। इनमेंसे शरीर तो पूर्वमें कहे हैं (अ. २ सू. ३७) और प्राण अपान नामकर्ममें व्याख्यात हैं (अ. ६ सू. ११)। और द्वीन्द्रिय आदि जिह्वा इन्द्रियके संयोगसे भाषारूपसे पुद्गलोंको ग्रहण करते हैं, न कि अन्य। संज्ञी मनरूपसेभी ग्रहण करते हैं अन्य नहीं। ऐसा आगे कहैंगेभी कि कषायसहित होनेसे जीव कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है (अ. ८ सू. २।१९) ॥ १९ ॥

किं चान्यत्—

तथा औरभी—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—सुखोपग्रह, दुःखोपग्रह, जीवितोपग्रह, मरणोपग्रह, इनसेभी पुद्गलोंका उपकार है।

भाष्यम्—सुखोपग्रहो दुःखोपग्रहो जीवितोपग्रहो मरणोपग्रहश्चेति पुद्गलानामुपकारः। तद्यथा—इष्टाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः सुखस्योपकारः। अनिष्टा दुःखस्य। स्नानाच्छादनानुलेपनभोजनादीनि विधिप्रयुक्तानि जीवितस्यानपवर्तनं चायुष्कस्य। विषशस्त्राग्न्यादीनि मरणस्यापवर्तनं चायुष्कस्य॥

विशेषव्याख्या—सुखके उपग्रह, दुःखके उपग्रह, जीवित (जीवन)के उपग्रह, तथा मरणके उपग्रहसे जीवोंके ऊपर पुद्गलोंका उपकार है। जैसे—अपनेको अभीष्ट स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द ये तो सुखके उपकार है, और अनिष्ट स्पर्श रसादि दुःखके। और विधिसे कृत स्नान, आच्छादन, अनुलेपन (तैल उबटन आदिके मर्दन) और भोजन ये जीवनके अर्थात् आयुके अपवर्तन न होनेके उपकार हैं। तथा विष, शस्त्र और अग्नि आदि मरणके अर्थात् आयुके अपवर्तन होनेके उपग्रह है।

अत्राह। उपपन्नं तावदेतत्सोपक्रमाणामपवर्तनीयायुषाम्। अथानपवर्त्यायुषां कथमिति। अत्रोच्यते—तेषामपि जीवितमरणोपग्रहः पुद्गलानामुपकारः। कथमिति चेत्तदुच्यते। कर्मणः स्थितिक्षयाभ्याम्। कर्म हि पौद्गलमिति। आहारश्च त्रिविधः सर्वेषामेवोपकुरुते। किं कारणम्। शरीरस्थित्युपचयबलवृद्धिप्रीत्यर्थं ह्याहार इति॥

अब यहांपर कहते हैं कि जो उपक्रम (आरंभ) सहित तथा अपवर्तनीय (विषादिद्वारा न्यून करने योग्य) आयुष्सहित हैं उनका तो जीवितोपग्रह और मरण उपग्रहरूप उपकार युक्त है। किन्तु जिनकी आयुष्का अपवर्तन नहीं होता। जैसे–देव तथा नरकके जीव उनका जीवित उपग्रह मरण उपग्रहद्वारा पुद्गल किस प्रकारसे उपकार कर सकते हैं? । अब इसका उत्तर कहते हैं । जिनकी आयुष्का अपवर्तन नहीं होता उनकाभी जीवित उपग्रह तथा मरण उपग्रहरूप पुद्गलोंका उपकार है । यदि कहो कि कैसे ? तो कहते हैं। कर्मोंकी स्थिति और क्षयसे । अर्थात् कर्मोंकी स्थिति जीवित उपग्रहरूप उपकार होता है । और कर्मोंके क्षयसे मरणोपग्रहरूप उपकार होता है। और कर्म जो है वह तो पौद्गलिक है, अर्थात् पुद्गलसेही कर्म उत्पन्न होते है । तीनं प्रकारका जो आहार है वह सबकाही उपकार करता है । इसका क्या कारण है ? । उत्तर–क्यों कि शरीरकी स्थिति, वृद्धि, तथा बल, तेज आदिकी बढ़ानेकी प्रीतिसेही आहारका सेवन होता है ॥ २० ॥

अत्राह। गृह्णीमस्तावद्धर्माधर्माकाशपुद्गला जीवद्रव्याणामुपकुर्वन्तीति। अथ जीवानां क उपकार इति। अत्रोच्यते—

अब कहते हैं कि इस बातको हम मानते हैं कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल द्रव्य, जीवद्रव्यका उपकार करते हैं। परन्तु जीवोंका द्रव्यके ऊपर क्या उपकार है ? । इसके उत्तरमें यह अग्रिम सूत्र है—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—जीवोंका परस्पर उपकार है।

भाष्यम्—परस्परस्य हिताहितोपदेशाभ्यामुपग्रहो जीवानामिति।

विशेषव्याख्या—जीव परस्पर आपसमें एक दूसरेका हित तथा अहितके उपदेशद्वारा उपकार करते हैं। अर्थात् गुरु कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश देकर शिष्योंका उपकार करता है और शिष्य गुरुकी सेवा शुश्रूषा आदिद्वारा उसका उपकार करता है। ऐसेही स्वामी आदि निज–आश्रितोंका पालन पोषण आदिसे उपकार करते है, और आश्रित आदि उनकी आज्ञा पालन आदिसे उनका उपकार करते हैं ॥ २१ ॥

अत्राह। अथ कालस्योपकारः क इति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते है कि कालका क्या उपकार है? । इसके उत्तरमें अग्रिम सूत्र कहते हैं—

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य[3] ॥ २२ ॥

---

१ ओजस् तेजः (पराक्रमादिकी वृद्धिका हेतु) तथा लोमप्रक्षेपादि और कवल यह तीनों प्रकारका आहार है। २ यहां 'सर्वेषाम्' इससे संसारी जीवोंका ग्रहण है, क्योंकि अधिक वेही हैं। ३ यहांपर वर्तना,

सूत्रार्थ—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं।

भाष्यम्—तद्यथा—सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः । वर्तना उत्पत्तिः स्थितिः प्रथमसमयाश्रया इत्यर्थः ॥ परिणामो द्विविधः । अनादिरादिमांश्च । तं परस्ताद्वक्ष्यामः । क्रिया गतिः । सा त्रिविधा। प्रयोगगतिर्विश्रसागतिर्मिश्रिकेति ॥ परत्वापरत्वे त्रिविधे प्रशंसाकृते, क्षेत्रकृते कालकृते इति । तत्र प्रशंसाकृते परो धर्मः परं ज्ञानं अपरो धर्म अपरमज्ञानमिति । क्षेत्रकृते एकदिक्कालावस्थितयोर्विप्रकृष्टः परो भवति सन्निकृष्टोऽपरः । कालकृते द्विरष्टवर्षाद्वर्षशतिकः परो भवति वर्षशतिकाद्विरष्टवर्षोऽपरो भवति ॥ तदेवं प्रशंसाक्षेत्रकृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकार इति ।

विशेषव्याख्या—वर्तना आदि कालके उपकार हैं। जैसे—सब पदार्थोंकी वर्तना जो है वह कालके आश्रित वृत्ति है। वर्तना अर्थात् संपूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति, तथा स्थिति अर्थात् प्रथम समयके आश्रयीभूत जो उत्पत्ति स्थिति है वह वर्तना है। परिणाम दो प्रकारका है, एक अनादि परिणाम और दूसरा आदिमान् परिणाम । उस द्विविध परिणामको हम आगे कहेंगे (अ. ५ सू. ४२)। क्रिया अर्थात् गतिरूप क्रिया यहभी कालकाही उपकार है। क्रिया तीन प्रकारकी है । प्रथम प्रयोगगति, द्वितीय विश्रसागति, और तृतीय मिश्रिका वा मिश्रका । (उनमें प्रयोगगति पुरुषप्रयत्नजन्य, विश्रसागति स्वयं परिपाकसे जन्य और मिश्रिका उभयजन्य है) । परत्व अपरत्वभी तीन प्रकारके हैं। जैसे—प्रशंसाकृत। क्षेत्र (देश)कृत और कालकृत। उनमें प्रशंसाकृत जैसे—धर्म पर है, ज्ञान पर है, तथा अधर्म अपर है, अज्ञान अपर है। क्षेत्रकृत जैसे—एक देश कालमें स्थित दो पदार्थोंके विषयमे जो दूर है वह तो पर है, और जो समीप है वह अपर है। कालकृत जैसे—शोलह वर्षवालेकी अपेक्षा शत (सौ) वर्षवाला पर है, और शतवर्षकी अपेक्षासे शोलह वर्षवाला अपर है । इस प्रकारसे प्रशंसा तथा क्षेत्रकृत परत्व अपरत्वको छोड़कर वर्तना आदि सब कालकृत है। अर्थात् वर्तना परिणाम, क्रिया और कालिक परत्वापरत्व कालके उपकार हैं ॥ २२ ॥

अत्राह। उक्तं भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति। पुद्गलानिति च तन्त्रान्तरीय जीवान्परिभाषन्ते। स्पर्शादिरहिताश्चान्ये। तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते । एतदादिविप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थं विशेषवचनविवक्षया चेदमुच्यते ॥

अब यहांपर कहते हैं कि आपने शरीर आदि पुद्गलोंके उपकार कहे। और पुद्गलोंको अन्य तन्त्रवाले (बौद्ध) जीव कहते हैं। और दूसरे कहते है कि पुद्गल स्पर्श रस आदिसे रहित हैं। सो यह कैसे हो सकता है? अर्थात् ये स्पर्श आदिरहित होनेसे जीव हैं।

परिणाम और क्रिया इन तीनों पदोंका विरोध न होनेसे समास करके पढ़ना चाहिये। कोई असमस्तही पढते हैं। सापेक्ष होनेसे परत्वापरत्वका तो समास हैही।

अथवा स्पर्शआदिसहित है? इत्यादि जो विप्रतिपत्ति (विवादविषय) है उसके निषेधके लिये तथा विशेष कथनकी विवक्षासे यह आगेका सूत्र कहते हैं ।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णलक्षणयुक्त पुद्गल होते हैं ।

भाष्यम्—स्पर्शः रसः गन्धः वर्ण इत्येवंलक्षणः पुद्गला भवन्ति । तत्र स्पर्शोऽष्टविधः कठिनो मृदुर्गुरुर्लघुः शीत उष्णः स्निग्धः रूक्ष इति । रसः पञ्चविधस्तिक्तः कटुः कषायोऽम्लो मधुर इति । गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च । वर्णः पञ्चविधः कृष्णो नीलो लोहितः पीतः शुक्ल इति ॥

विशेषव्याख्या—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवान् अर्थात् स्पर्श आदियुक्त पुद्गल होते है । उनमें स्पर्श आठ (८) प्रकारका होता है । जैसे—कठिन १ मृदु (कोमल) २ गुरु ३ लघु ४ शीत ५ उष्ण ६ स्निग्ध ७ और रूक्ष ८ । रस पांच प्रकारका होता है । कटु १, तिक्त २, कषाय (कशैला) ३, आमिल (खट्टा) ४ और मधुर ५ । गन्ध दो प्रकारका होता है एक सुरभि (सुगन्ध) और दूसरा असुरभि अर्थात् दुर्गन्ध । और वर्ण पांच प्रकारका होता है, जैसे—कृष्ण (काला) १, नील २, लोहित (लाल) ३, पीत और श्वेत ५ ।

किं चान्यत्—

और यह अन्य विशेषभी—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

सूत्रार्थः—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य (सूक्ष्मता तथा स्थूलता), संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप तथा उद्योत यह सब पुद्गलके पर्याय है । अर्थात् शब्द बन्ध आदि सब पुद्गलकेही विकार है ।

भाष्यम्—तत्र शब्दः षड्विधः । ततो विततो घनः शुषिरो घर्षो भाष इति ॥ बन्धस्त्रिविधः । प्रयोगबन्धो विश्रसाबन्धो मिश्र इति । स्निग्धरूक्षत्वाद्भवतीति वक्ष्यते ॥ सौक्ष्म्यं द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं च । अन्त्यं परमाणुष्वेव । आपेक्षिकं व्यणुकादिषु संघातपरिणामापेक्षं भवति । तद्यथा—आमलकाद्बदरमिति ॥ स्थौल्यमपि द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं च संघातपरिणामापेक्षमेव भवति । तत्रान्त्यं सर्वलोकव्यापिनि महास्कन्धे भवति । आपेक्षिकं बदरादिभ्य आमलकादिष्विति ॥ संस्थानमनेकविधम् । दीर्घह्रस्वाद्यनित्थत्वपर्यन्तम् । भेदः पञ्चविधः । औत्कारिकः चौर्णिकः खण्डः प्रतरः अनुतटइति ॥ तमश्छायातपोद्योताश्च परिणामजाः ॥ सर्व एवैते स्पर्शादयः पुद्गलेष्वेव भवन्तीति । अतः पुद्गलास्तद्वन्तः ॥

विशेषव्याख्या—उनमे शब्द षट् (छ) प्रकारका है । जैसे–तत (वीणादिसे उत्पन्न), वितत (मुरजमृदङ्गादिजन्य), घन (काँसा वा तालीसे उत्पन्न), शुषिर (वंशी आदिसे उत्पन्न), घर्ष (संघर्षण–रगड़से उत्पन्न) और भाषारूप । बन्ध तीन प्रकारका है । प्रयो-

गवन्ध (पुरुषप्रयत्नसे उत्पन्न), विश्रसा (अर्थात् स्वतःसिद्ध वा परिपाकजन्य) बन्ध और मिश्रबन्ध 'स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलोंके परस्पर स्पृष्ट होनेपर बन्ध होता है' ऐसा आगे इसी अध्यायके (३२)वें सूत्रमे कहैंगे। सौक्ष्म्य दो प्रकारका है एक अन्तिम परमाणु आदि निष्ठ और दूसरा सापेक्ष। अन्तिम सौक्ष्म्य तो परमाणुओंमें होता है और दूसरा द्व्यणुक आदिमें संघात परिणामकी अपेक्षासे होता है। जैसे—आमलेसे बदर (बेर)में सूक्ष्मता है। यह संघातपरिणामके सापेक्ष होती है। और स्थौल्यभी दो प्रकारका होता है। एक अन्तिम और दूसरा आपेक्षिक अर्थात् किसीकी अपेक्षासे। उनमें अन्तिम स्थौल्य (स्थूलत्व वा महत्व) सर्वलोकव्यापी महास्कन्धमें होता है और द्वितीय स्थौल्य, जैसे—बदर (बेर) आदिकी अपेक्षा आमले आदिमे। संस्थान (अवयवरचनाविशेष) अनेक प्रकारका होता है। जैसे—दीर्घ ह्रस्वसे अनित्थंत्व[1] (निरूपणके अयोग्य) पर्यन्त होता है। भेद पांच प्रकारका है। जैसे—औत्कारिक (काष्ठादिकको आरा आदिसे चीरना), चौर्णिक (चूर्णके द्वारा उत्पन्न. जैसे—दाल आटा), खण्ड (जैसे घटके कपालादिक), प्रसर (जैसे बादलके टुकड़े) तथा अनुतट[2] और तम (प्रकाशविरोधी), छाया (प्रकाशावरणनिमित्ता), आतप (सूर्य आदिसे होनेवाले उष्णरूप) तथा उद्योत (चन्द्र आदिका प्रकाश) ये सब पुद्गलके परिणामसे उत्पन्न होते है। ये सब स्पर्शसे लेकर उद्योतपर्यन्त पुद्गलोंहीमें होते हैं। इस कारण पुद्गल तद्वान् अर्थात् इनसे युक्त कहलाते है।

अत्राह। किमर्थं स्पर्शादीनां शब्दादीनां च पृथक् सूत्रकरणमिति। अत्रोच्यते। स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्तीति। शब्दादयस्तु स्कन्धेष्वेव भवन्त्यनेकनिमित्ताश्चेत्यतः पृथक्करणम्॥

अब यहांपर प्रश्न करते हैं कि यदि स्पर्श रसादि तथा शब्दबन्धादि पुद्गलोंहीमें होते हैं तो स्पर्शादिक तथा शब्दादिकके लिये पृथक् २ सूत्र क्यों किया?। अर्थात् स्पर्श रस गंध इत्यादि (२३) तथा शब्द—बन्ध इत्यादि (२४) दो सूत्र क्यों किये? एकही सूत्रसे कार्य चल जाता। अब इसका उत्तर कहते हैं कि स्पर्श रस आदि जो हैं वे परमाणुओंमें तथा स्कन्धोंमें स्वभावसेही होते हैं। और शब्द—बन्ध आदि तो स्कन्धोंहीमें होते है और अनेक निमित्तोंसे होते हैं, न कि केवल परिणामजन्य, इस लिये पृथक् २ सूत्र किये॥ २४॥

त एते पुद्गलाः समासतो द्विविधा भवन्ति। तद्यथा—

ये पुद्गल संक्षेपसे दो प्रकारके होते है। जैसेः—

---

१ जिसका निरूपण न होसके कि वह ऐसा वा इस प्रकारका है। २ अनुतट वह भेद है जो संतप्त लोहेको घनसे पीटनेसे स्फुलिंग निकलते हैं।

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

सूत्रार्थः—अणु तथा स्कन्ध ये दो भेद पुद्गलोंके हैं।

भाष्यम्—उक्तं च—

इस विषयमें अन्यत्र कारिकाओंके द्वारा कहाभी है।

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ इति।

वह परमाणु कारण और अन्तिम सूक्ष्मतासहित तथा नित्य है। तथा एक रस, एक गन्ध और एकवर्णयुक्त, दो स्पर्शसहित, और कार्यलिङ्ग है, अर्थात् कार्यसे जाना जाता है। इस प्रकारसे परमाणुके लक्षण कहे है।

तत्राणवोऽबद्धाः स्कन्धास्तु बद्धा एव ॥

अणु तथा स्कन्धोंमें परमाणु तो अबद्ध अर्थात् बन्धनरहित हैं, और स्कन्ध बद्ध है ॥ २५ ॥

अत्राह। कथं पुनरेतद्द्वैविध्यं भवतीति। अत्रोच्यते। स्कन्धास्तावत्—

अब यहांपर कहते हैं कि पुद्गलोंके ये दो भेद कैसे होते है?। इस लिये यह अग्रिम सूत्र कहते हैं। प्रथम स्कन्धोंके विषयमें कहते है—

संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

सूत्रार्थः—संघातसे, भेदसे तथा संघात-भेदसे स्कन्ध उत्पन्न होते है!

भाष्यम्—संघाताद्भेदात्संघातभेदादिति। एभ्यस्त्रिभ्यः कारणेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते द्विप्रदेशादयः। तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः संघाताद्द्विप्रदेशः। द्विप्रदेशस्याणोश्च संघातात्त्रिप्रदेशः। एवं सङ्ख्येयानामसङ्ख्येयानामनन्तानामनन्तानन्तानां च प्रदेशानां संघातात्तावत्प्रदेशाः ॥ एषामेव भेदाद्द्विप्रदेशपर्यन्ताः ॥ एत एव संघातभेदाभ्यामेकसामायिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अन्यस्य संघातेनान्यतो भेदेनेति ॥

विशेषव्याख्या—संघात आदि जो तीन कारण हैं उनसे द्विप्रदेश (दो प्रदेशोंवाले) आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। जैसे—दो परमाणुओंके संघातसे द्विप्रदेश उत्पन्न होता है, तथा द्विप्रदेश और अणुके संघातसे त्रिप्रदेश उत्पन्न होता है। इस प्रकार सङ्ख्येय, असङ्ख्येय, अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशोंके संघातसे उतनेही अर्थात् सङ्ख्येय, असङ्ख्येय, अनन्त तथा अनन्तानन्त प्रदेशवाले उत्पन्न होते है। और इन्ही संख्यात संख्यात अनन्त प्रदेशोंवाले स्कन्धोंके भेद करनेसे द्विप्रदेशपर्यन्त स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। और येही एक समयमें उत्पन्न संघात तथा भेदसे द्विप्रदेश आदि स्कन्ध उत्पन्न होते है। अन्यके संघात और अन्यके भेदसे ये स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ॥ २६ ॥

अत्राह। अथ परमाणुः कथमुत्पद्यत इति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते है कि परमाणु कैसे उत्पन्न होता है?। इस लिये यह सूत्र कहते है।

भेदादणुः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—भेदादेव परमाणुरुत्पद्यते न संघातादिति ॥

विशेषव्याख्या—अणु भेदसे (किसी वस्तुके खण्डसे) ही उत्पन्न होता है, संघातसे कभी नहीं होता ॥ २७ ॥

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः—चाक्षुष स्कन्ध भेद तथा संघात दोनोंसे उत्पन्न होते हैं ।

भाष्यम्—भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । अचाक्षुषास्तु यथोक्तात्संघाताद्भेदात्संघातभेदाच्चेति ॥

विशेषव्याख्या—चाक्षुष अर्थात् जो नेत्र इन्द्रियसे प्रत्यक्ष हो सकें वे स्कन्ध भेद और संघातसे उत्पन्न होते है । और अचाक्षुप तो पूर्वोक्त संघात, भेद, तथा संघात–भेदसे उत्पन्न होते हैं ।

अत्राह । धर्मादीनि सन्तीति कथं गृह्यत इति । अत्रोच्यते । लक्षणतः ॥

अव यहांपर प्रश्न करते है कि धर्म आदि द्रव्य (सन्ति) अर्थात् हैं यह कैसे ग्रहण किया (जाना) जाता है ? । अव इसका उत्तर देते है कि लक्षणसे । इसपर कहते हैं ॥ २८ ॥

किं च सतो लक्षणमिति । अत्रोच्यते—

पुनः इसपर प्रश्न करते है कि सत्का क्या लक्षण है कि जिससे ये जाने जाते हैं ।

इसपर कहते है—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥

सूत्रार्थः—उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (नाश) और ध्रौव्य (स्थिरता) युक्त होना यही सत्का लक्षण है ।

भाष्यम्—उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च युक्तं सतो लक्षणम् । यदुत्पद्यते यद्व्येति यच्च ध्रुवं तत्सत् । अतोऽन्यदसदिति ॥

विशेषव्याख्या—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होना सत्का लक्षण है । अर्थात् जो उत्पन्न हो और नाशको प्राप्त हो, तथा ध्रुव हो वह सत् है । और इससे जो भिन्न है वह असत् है ।

[उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च सतो लक्षणम् । यदिह मनुष्यत्वादिना पर्यायेण व्ययत आत्मनो देवत्वादिना पर्यायेणोत्पादः एकान्तध्रौव्ये आत्मनि तत्तथैकस्वभावतयावस्थाभेदानुपपत्तेः । एवं च संसारापवर्गभेदाभावः । कल्पितत्वेऽस्य निःस्वभावतयानुपलब्धिप्रसङ्गात् । सस्वभावत्वे त्वेकान्तध्रौव्याभावस्तस्यैव तथाभवनादिति । तत्तत्स्वभावतया विरोधाभावात्तथोपलब्धिसिद्धेः । तद्भ्रान्तत्वे प्रमाणाभावः । योगिज्ञानप्रमाणाभ्युपगमे त्वभ्रान्तसदवस्थाभेदः । इत्थं चैतत् अन्यथा न मनुष्यादेर्देवत्वादीति । एवं यमादिपालनानर्थक्यम् । एवं च सति "अहिंसासत्या-

१ कहीं २ ऐसा लिखा है कि "उत्पादव्ययाभ्यां ध्रौव्येण च युक्तं सतो लक्षणम्" उत्पादसे, व्ययसे, तथा ध्रौव्यसे युक्त होना यह सत्का लक्षण है ।

स्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" "शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इति आगमवचनं वचनमात्रम्। एवमेकान्तध्रौव्येऽपि सर्वथा तदभावापत्तेः तत्त्वतो हेतुकत्वमेवावस्थान्तरमिति सर्वदा तद्भावाभावप्रसङ्गः अहेतुकत्वाविशेषात्। न हेतुस्वभावतयोर्ध्वं तद्भावः तत्स्वभावतयैकान्तेन ध्रौव्यसिद्धेः। यदा हि हेतोरेवासौ स्वभावो यत्तदनन्तरं तद्भावस्तदा ध्रुवोऽन्वयस्तस्यैव तथा भवनात्। एवं च तुलोन्नामावनामवद्धेतुफलयोर्युगपद्व्ययोत्पादसिद्धिरन्यथा तत्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पाभ्यामयोगात्। तन्न। मनुष्यादेर्देवत्वमित्यायातं मार्गवैफल्यमागमस्येति। एवं सम्यग्दृष्टिः सम्यक्संकल्पः सम्यग्वाग् सम्यग्मार्गः सम्यगार्जवः सम्यग्व्यायामः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिरिति वाग्वैयर्थ्यम्। एवं घटव्ययवत्या मृदः कपालोत्पादभावात् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति। एकान्तध्रौव्ये तत्तथैकस्वभावतयावस्थाभेदानुपपत्तेः। समानं पूर्वेण। एवमेतद्व्यवहारतः तथा मनुष्यादिस्थितिद्रव्यमधिकृत्य दर्शितम्। निश्चयतस्तु प्रतिसमयमुत्पादादिमत्तथा भेदसिद्धेः। अन्यथा तदयोगात्। यथाह—

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्॥ १॥
नरकादिगतिविभेदो भेदः संसारमोक्षयोश्चैव।
हिंसादिस्तद्धेतुः सम्यक्त्वादिश्च मुख्य इति॥ २॥
उत्पादादियुते खलु वस्तुन्येतदुपपद्यते सर्वम्।
तद्रहिते तदभावात् सर्वमपि न युज्यते नीत्या॥ ३॥
निरुपादानो न भवत्युत्पादो नापि तादवस्थ्येऽस्य।
तद्विक्रिययापि तथा त्रितययुतेऽस्मिन् भवत्येषः॥ ४॥
सिद्धत्वेनोत्पादो व्ययोऽस्य संसारभावतो ज्ञेयः।
जीवत्वेन ध्रौव्यं त्रितययुतं सर्वमेवं तु॥ ५॥

(एतच्च भाष्यं हारिभद्रवृत्तौ व्याख्यातमस्ति न च सिद्धसेनीयायामिति) तदित्थं उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं चैतत्त्रितययुक्तं सतो लक्षणं। अथवा युक्तं समाहितं त्रिस्वभावं सत्। यदुत्पद्यते यद्व्येति यच्च ध्रुवं तत्सत् अतोऽन्यदसदिति॥

उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य यह सत्का लक्षण है। जिससे इस संसारमें जीवका मनुष्यत्व आदि पर्यायरूपसे व्यय होता है, और देवत्व आदि पर्यायरूपसे उत्पत्ति होती है और जीवरूपसे ध्रौव्य है। इस हेतुसे तीनों लक्षणयुक्त होनेसे सत् है। और (एकान्त) (सर्वथा) ध्रौव्य माननेसे और उसी ध्रौव्यरूप एक स्वभाव होनेसे आत्माकी अवस्थाओंका भेद अयुक्त है। और जब आत्माकी सदा एकही अवस्था है तब संसार तथा मोक्षके भेदकाभी अभाव हुआ, अर्थात् सदा आत्माके एकरूप होनेपर संसारसे मोक्षमे क्या विशेषता है? जिसके लिये अनेक प्रयत्न किये जाते है। और कदाचित् ससाराऽवस्था तथा मोक्षावस्थाके भेदको कल्पित मानो तो आत्माका संसारी स्वभाव न होनेसे उसकी उपलब्धि (प्राप्ति) के अभावका प्रसङ्ग हो जायगा। और जब आत्माका मनुष्यत्व देवत्व आदि संसारी पर्यायस्वभाव है तो एकान्तरूपसे ध्रौव्यका अभाव होगया, क्योंकि आत्माही

मनुष्य देव आदि पर्यायरूपसे होता है । और देवत्व मनुष्यत्वादि पर्यायकी उपलब्धि स्वभावरूप होनेसे विना किसी विरोधके सिद्धही है। कदाचित् कहो कि संसारी मनुष्य देव आदि पर्यायका भाव जो आत्माको होता है यह भ्रान्ति है तो उसके भ्रान्तत्व होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । और जब योगियोंके ज्ञानको प्रमाण मानो तब तो अवस्थाभेद प्रतीत हुआ। इस हेतुसे यह अवस्थाओंका भेद ऐसाही है । और यदि अन्यथा मानो तो मनुष्यके देवत्व आदि पर्याय होही नहीं सकते। फिर यमनियमादिका पालनभी निरर्थक है। और ऐसा होनेसे "अहिंसा. सत्य. अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पांच यम हैं" तथा "शौच, सन्तोष. तप, स्वाध्याय (पठन पाठन), तथा ईश्वरप्रणिधान, ये पांच नियम हैं" इत्यादि शास्त्र (योगदर्शनके) वचन केवल कथनमात्रके हैं, अर्थात् व्यर्थ हैं। इस लिये सर्वथा ध्रौव्य आत्मस्वरूप नहीं है किन्तु मनुष्य देव सिद्ध आदि पर्यायोंसे अवस्थाभेद है । और ऐसेही सर्वथा अध्रौव्यरूपभी आत्माके माननेसे हानि है। क्यों कि जब सर्वथा वह आत्मा न रहा तब यम नियम आदिके फलभोग किसको होंगे? इस हेतुसे यहभी निश्चित हुआ कि यथार्थमें हेतुपूर्वक आत्मस्वभावमें अवस्थान्तरकी प्राप्ति होती है । और अहेतुक मानो तो जो स्वभाववाली अवस्था है उसके भाव वा अभावका सर्वदा प्रसङ्ग होगा। क्यों कि अहेतुकता होनेमें कोई विशेषता नहीं है। और हेतुस्वभावतासे ऊर्ध्वतद्भाव (देवत्वादि भाव) नहीं होता। क्योंकि हेतुस्वभाव होनेसे एकान्तरूपसे उसको ध्रौव्य होजायगा। और जब हेतुसे देवत्व मनुष्यत्वादि स्वभाव होता है और जिस हेतुके अनन्तर वैसे स्वभाव (मनुष्यत्व वा देवत्वादि स्वभाव)की सत्ता होती है तब ध्रुव आत्मरूपका अवश्य अन्वय है अर्थात् सब दशामें संबन्ध है, क्योंकि उसी आत्माहीका वैसा स्वभाव वा पर्याय हो जाता है। ऐसा होनेसे किसीने जो यह कहा कि तुला (तराजू)की डांड़ी जैसे जिस समय एक ओर ऊंची होती है उसी समय दूसरी ओर नीची होती है ऐसेही हेतु और उस हेतुसे उत्पन्न होनेवाले फलके व्यय तथा उत्पादकी एक कालमेंही सिद्धि होती है और यदि ऐसा न हो तो उनसे भिन्न अन्य विकल्पोंसे सम्बन्ध न होगा । यह कथन संगत नहीं है। क्योंकि एकही कालमें हेतु और फलकी और व्यय तथा उत्पादकी सिद्धि 'माननेसे मनुष्य आदिसे देवत्वकी प्राप्ति होती है' इस आगममार्गकी विफलता प्राप्त हुई। क्योंकि जिस समय देवत्वप्राप्तिमें हेतुरूप मनुष्यजन्मके यम नियम आदि हैं उस समय फलकी प्राप्ति नहीं है। और इसी रीतिसे अब (हेतुविशेषसे) यह सम्यग्दृष्टि है. सम्यक् संकल्प है, सम्यग्वाग्, सम्यग्मार्ग, सम्यगार्जव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति, तथा सम्यक्समाधि, इत्यादि वचन व्यर्थ होंगे। इसी रीतिसे घटपर्यायके व्यय (नाश)-वाली मृत्तिकासे कपालरूप पर्यायके उत्पाद होनेसे उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्य—युक्त होनेसे

सत् है । क्योंकि घटपर्यायका व्यय, कपालपर्यायका उत्पाद और मृत्तिकारूपसे ध्रौव्य है । और एकान्तरूपसे ध्रौव्य माननेसे उस वस्तुका उसी प्रकार एक स्वभाव होनेसे अवस्थाओंका भेद अयुक्त होगा; और सब वार्ता पूर्वके समान यहांभी समझलेनी । इस प्रकार व्यवहारनयसे तथा मनुष्य आदि स्थिति द्रव्यको उद्देशकरके यहां सत्का लक्षण दर्शाया गया । और निश्चयनयसे तो प्रतिसमय पदार्थ उत्पत्ति आदिसहित होनेसे अवस्थाओंके भेदकी सिद्धि है । और यदि उत्पाद तथा व्यय आदि युक्त वस्तु न हों तो पूर्वपर अवस्थाओंका भेद न सिद्ध होगा और इस विषयमें ऐसाही अन्यत्र कहाभी है—

संपूर्ण पदार्थमात्रमें चिति तथा अपचिति अर्थात् वृद्धि तथा ह्रासके विद्यमान होनेसे और आकृति (व्यक्ति) तथा जातिके व्यवस्थापनसे क्षण २ मे भेद नियत है और द्रव्यरूपसे विशेषभी नहीं है ॥ १ ॥ नरक आदि गतियोंका विभेद तथा संसार और मोक्षका भेदभी वस्तुओंके अवस्थाओंके भेदसेही नियत है और इन गतियोंके तथा संसार और मोक्षके भेद होनेमें हिंसा आदि तथा सम्यग्दर्शन आदि हेतु मुख्य है ॥ २ ॥ और नरक आदि गतियोंके भेद तथा संसार और मोक्षके ये सब भेद आदि तभी उपपन्न अर्थात् युक्त होसकते है जब प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है । अर्थात् जब अनेकान्तवादसे यह निश्चित है कि वस्तुमे पूर्वपर्यायका व्यय (नाश) और उत्तरपर्यायका उत्पाद तथा मूल द्रव्यादिरूपसे ध्रौव्य है । जैसे मनुष्यगतिमें मनुष्यपर्यायका व्यय और देवगति प्राप्त होनमें देवपर्यायकी उत्पत्ति तथा जीवत्वरूपसे जब ध्रौव्य है तभी सब युक्त है; और उत्पाद आदिरहित वस्तुमे उत्पाद आदिके अभावसे नरक गति आदिके भेद तथा संसार और मोक्षके भेद ये सब नयसे नहीं युक्त होसकते ॥ ३ ॥ और उपादानकारण (हेतु) के विना ध्रौव्यरूप एक वस्तुमें उत्पाद नहीं हो सकता, और ऐसेही सदा विक्रिया (सदा अध्रौव्य) सेभी उत्पाद नही हो सकता; इसलिये उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त वस्तुमें ही यह उत्पाद आदि होता है ॥ ४ ॥ और सिद्ध पर्यायमेंभी सिद्धत्वरूपसे उत्पाद है, और इस जीवके ससारका अभाव होनेसे संसारपर्यायका व्यय जानना चाहिये । तथा जीवत्व अर्थात् शुद्ध जीवत्वरूपसे ध्रौव्यभी है ॥ २९ ॥ इसप्रकार सब कुछ उत्पाद आदि त्रितय (तीनों) से युक्तही है ॥ ५ ॥ (यह भाष्य

---

१ एक पुस्तकमें अग्रिम प्रान्त (फुटनोट)में ऐसी टिप्पणी है कि इस २९ वे सूत्रके भाष्यका पाठ दो प्रकारका है । एक तो **"उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं चैतत्त्रितययुक्तं"** इत्यादि रूपसे । यह सिद्धसेनजीकी वृत्तिमें है । और द्वितीय पाठ इस प्रकार है **"उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च सतो लक्षणम्"** यहा **"यदिह"** इत्यादि जो कोष्ठके भीतर है वह सब सिद्धसेनकी वृत्तिमें है । और किसी पुस्तकमें भाष्यका आरम्भ ऐसे है **"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"** अर्थात् उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य ये तीनों एकही पदमें पढे हैं । और कहीं **"उत्पादव्ययाभ्यां ध्रौव्येण च युक्तं सत्"** ऐसा पाठ है । सर्वथा सूत्रका यह अर्थ है कि उत्पाद–आदिमान् अर्थात् उत्पादादिसहित वस्तु सत् है ।

हरिभद्रकी वृत्तिमें व्याख्यात है, किन्तु **सिद्धसेन**की वृत्तिमें नहीं है.) वह भाष्य इस प्रकारसे है कि उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त सत्‌का लक्षण है। अथवा युक्तका अर्थ है समाहित (सहित) अर्थात् उत्पादादि त्रिस्वभाववस्तु सत् है। जो उत्पन्न हो, जो नष्ट हो, तथा जो ध्रुवभी हो वह सत् है, और इससे अन्य असत् है।

अत्राह। गृहीमस्तावदेवंलक्षणं सदिति। इदं तु वाच्यं तत्किं नित्यमाहोस्विदनित्यमिति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते है कि पूर्वोक्त सत्‌का लक्षण स्वीकार करते हैं। परन्तु वह सत् नित्य है वा अनित्य है? । इस लिये यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—यत्सतो भावान्न व्येति न व्येष्यति तन्नित्यमिति।

विशेषव्याख्याः—जो सत् स्वभावसे नाशको न प्राप्त होता हो वा न होगा वह नित्य है ॥ ३० ॥

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थः—पदार्थोंकी सिद्धि मुख्य और गौण रीतिसे होती है। अर्थात् जो एककी मुख्यता तो दूसरेकी गौणता होती है ॥

भाष्यम्—सच्च त्रिविधमपि नित्यं च। उभे अपि अर्पितानर्पितसिद्धेः। अर्पितं व्यावहारिकमनर्पितमव्यावहारिकं चेत्यर्थः। तच्च सच्चतुर्विधम्। तद्यथा—द्रव्यास्तिकं मातृकापदास्तिकमुत्पन्नास्तिकं पर्यायास्तिकमिति। एषामर्थपदानि द्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वा सत्। असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य ॥ मातृकापदास्तिकस्यापि। मातृकापदं वा मातृकापदे वा मातृकापदानि वा सत्। अमातृकापदं वा अमातृकापदे वा अमातृकापदानि वा असत् ॥ उत्पन्नास्तिकस्य। उत्पन्नं वोत्पन्ने वोत्पन्नानि वा सत्। अनुत्पन्नं वानुत्पन्ने वानुत्पन्नानि वा सत् ॥ अर्पितेऽनुपनीते न वाच्यं सदित्यसदिति वा। पर्यायास्तिकस्य सद्भावपर्याये वा सद्भावपर्याययोर्वा सद्भावपर्यायेषु वा आदिष्टं द्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वा सत्। असद्भावपर्याये वा असद्भावपर्याययोर्वा असद्भावपर्यायेषु वा आदिष्टं द्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वासत्। तदुभयपर्याये वा तदुभयपर्याययोर्वा तदुभयपर्यायेषु वा आदिष्टं द्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वा न वाच्यं सदित्यसदिति वा। देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति ॥

विशेषव्याख्या—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य एतत्रितयरूपभी सत् है और नित्यभी है। और उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्ययुक्त सत् और नित्य ये दोनों अर्पित तथा अनर्पित भेदसे सिद्ध हैं। अर्थात् जब द्रव्यरूपसे अनर्पित किया और पर्यायरूपसे अर्पित (योजित) किया तब उत्पादादियुक्त सत्त्व सिद्ध है। और जब द्रव्यरूपसे अर्पित किया और पर्यायरूपसे अनर्पित किया तब नित्यत्व सिद्ध है। अर्पित नाम व्यावहारिक जो व्यवहारमें आवे. और अनर्पित अर्थात् अव्यवहारिक जो व्यवहारमें न आवे। पुनः वह सत्

चार प्रकारका है । जैसे—द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक, और पर्यायास्तिक । अब इनके अर्थ पद इस रीतिसे है. जैसे—एक द्रव्य वा दो द्रव्य वा बहुत द्रव्य अर्थात् एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व संख्यासहित द्रव्य सत् है; यह द्रव्यास्तिकका अर्थ है । असत् अर्थात् नहीं है । द्रव्यास्तिकका तथा मातृकापदास्तिकका भी ऐसाही है । एक मातृकापद, दो मातृकापद तथा बहुत मातृकापद सत् है । इसी प्रकार एक अमातृकापद, दो अमातृकापद, वा बहुत अमातृकापद असत् है । ऐसेही उत्पन्नास्तिकके विषयमें एक उत्पन्न, दो उत्पन्न अथवा बहुत उत्पन्न सत् है । और ऐसेही एक अनुत्पन्न वा दो अनुत्पन्न अथवा बहुत अनुत्पन्न असत् है । अर्पित अनुपस्थित होनेसे सत् वा असत् कुछ नहीं कहसकते । तथा पर्यायास्तिकके सद्भाव एक पर्याय, दो वा अधिक पर्यायोंमे आदिष्ट (कहेहुए) एक द्रव्य वा दो, वा बहुत द्रव्य सत् है । और ऐसेही एक असद्भावपर्यायमें, वा दो अथवा बहुत असद्भावपर्यायोंमें आदिष्ट एक, दो वा अधिक द्रव्य असत् है । और ऐसेही सदसद् एतद्भाव एक दो वा अधिक पर्यायोंमे आदिष्ट एक दो वा बहुत द्रव्य सत् अथवा असद्रूपसे नहीं कहसकते । अर्थात् वह अवक्तव्य है । तात्पर्य यह है कि देश और आदेशसे वस्तुका विकल्प करना उचित है ।

अत्राह । उक्तं भवता संघातभेदेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्त इति । तत्किं संयोगमात्रादेव संघातो भवति । आहोस्विदस्ति कश्चिद्विशेष इति । अत्रोच्यते । सति संयोगे बद्धस्य संघातो भवतीति ॥

अब यहांपर कहते है कि आपने कहा है कि संघात तथा भेद वा संघात–भेदसे स्कन्ध उत्पन्न होते है, सो क्या संयोगमात्रसेही संघात होता है; अथवा कोई विशेषता है ? । अब इस विषयमें कहते है कि संयोग होनेपरही जो बद्ध है अर्थात् जिसका बन्ध है उसका संघात होता है ॥ ३१ ॥

अत्राह । अथ कथं बन्धो भवतीति । अत्रोच्यते—

अब कहते हैं कि बन्ध कैसे होता है ? । इसपर यह अग्रिम सूत्र कहते है—

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थः—स्निग्ध तथा रूक्षत्व हेतुसे बन्ध होता है ।

भाष्यम्—स्निग्धरूक्षयोः पुद्गलयोः स्पृष्टयोः स्पृष्टयोर्बन्धो भवतीति ।

विशेषव्याख्या—स्निग्ध पदार्थसे वा भीगे हुये तथा रूक्ष अर्थात् रूखे खरखरे पुद्गल जब आपसमें स्पृष्ट होते (एक दूसरेसे छूजाते) है तब बन्ध होता है ॥ ३२ ॥

अत्राह । किमेष एकान्त इति । अत्रोच्यते—

---

१ ऐसा भान होता है कि यह जो सद्रूपता सिद्ध करते है सो निज पर्याय आदिसे तो सत् है और अन्य रूपसे असत् है, तथा एकही कालमे सदसदुभयरूपसे अवक्तव्य है ।

अब कहते हैं क्या यह स्पृष्ट स्निग्ध रूक्ष पुद्गलोंका बन्ध एकान्ततः अर्थात् नियमसे सदा सब पुद्गलोंका होता है अथवा नहीं? । इसपर यह आगेका सूत्र कहते हैं—

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थः—जघन्यगुणयुक्त स्निग्ध तथा जघन्यगुणयुक्त रूक्ष पुद्गलोंका स्पर्श होनेपरभी वन्ध नहीं होता ॥

भाष्यम्—जघन्यगुणस्निग्धानां जघन्यगुणरूक्षाणां च परस्परेण वन्धो न भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—जघन्यगुणवाले स्निग्ध वा जघन्यगुणवाले रूक्ष पुद्गलोंका परस्पर वन्ध नहीं होता ॥ ३३ ॥

अत्राह । उक्तं भवता जघन्यगुणवर्जानां स्निग्धानां रूक्षेण रूक्षाणां च स्निग्धेन सह बन्धो भवतीति । अथ तुल्यगुणयोः किमत्यन्तप्रतिपेध इति । अत्रोच्यते । न जघन्यगुणानामित्यधिकृत्येदमुच्यते—

अब यहांपर कहते है कि जघन्यगुणसे वर्जित स्निग्ध पुद्गलोंका रूक्षके साथ, और ऐसेही जघन्यगुणोंसे रहित रूक्ष पुद्गलोंका स्निग्धके साथ बन्ध होता है ऐसा आपने अभी कहा है । सो क्या तुल्यगुण अर्थात् समान गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध सर्वथा नहीं होता? । इसपर कहते है कि "न जघन्यगुणानाम्" अर्थात् "जघन्य गुणवालोंका बन्ध नहीं होता" इसका अधिकार करके यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—गुणकी समता होनेपर सदृश पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता ।

भाष्यम्—गुणसाम्ये सति सदृशानां वन्धो न भवति । तद्यथा—तुल्यगुणस्निग्धस्य तुल्यगुणस्निग्धेन तुल्यगुणरूक्षस्य तुल्यगुणरूक्षेणेति ।

विशेषव्याख्या—जब स्निग्धोंका और रूक्षोंका गुण समान होता है तब स्निग्धोंका स्निग्धोंके साथ तथा रूक्षोंका रूक्षोंके साथ वन्ध नहीं होता । जैसे—समानगुणयुक्त स्निग्ध पदार्थका समान गुणवाले स्निग्ध पदार्थके साथ, तथा समान गुण रूक्ष पदार्थका समान गुण रूक्षके साथ वन्ध नहीं होता ।

अत्राह । सदृशग्रहणं किमपेक्षत इति । अत्रोच्यते । गुणवैषम्ये सदृशानां वन्धो भवतीति ॥

अब कहते है कि इस ३४ वें सूत्रमें सदृशग्रहण किसकी अपेक्षा करता है, अर्थात् गुण वा पदार्थकी? । इसपर कहते हैं कि गुणकी विषमतामें सदृश पदार्थोंकाभी वन्ध होता है । अर्थात् पहले स्निग्धका रूक्ष तथा रूक्षका स्निग्धके साथ बन्ध दिखलाया था. अब सदृशग्रहणसे यह तात्पर्य है कि गुणकी विपमतामें रूक्षोंका रूक्षके साथ तथा स्निग्धोंका स्निग्धके साथभी वन्ध होजाता है ॥ ३४ ॥

अत्राह । किमविशेषेण गुणवैषम्ये सदृशानां वन्धो भवतीति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर प्रश्न करते हैं कि क्या अविशेष रूपसे गुणोंके वैषम्यमें वन्ध होता है अथवा इसका कोई विशेष नियम है? । इसपर यह सूत्र कहते हैं—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ—द्विगुण आदिसे अधिक गुणवाले सदृश पदार्थोंकाभी बन्ध होता है।

भाष्यम्—द्व्यधिकादिगुणानां तु सदृशानां बन्धो भवति। तद्यथा—स्निग्धस्य द्विगुणाद्यधिकस्निग्धेन। द्विगुणाद्यधिकस्निग्धस्य स्निग्धेन। रूक्षस्यापि द्विगुणाद्यधिकरूक्षेण। द्विगुणाद्यधिकरूक्षस्य रूक्षेण। एकादिगुणाधिकयोस्तु सदृशयोर्बन्धो न भवति। अत्र तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषणार्थः प्रतिषेधं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति॥

विशेषव्याख्या—अब इस विषयको कहते हैं कि रूक्षका रूक्षके साथ, और स्निग्धका स्निग्धके साथभी बन्ध होता है किन्तु रूक्ष तथा स्निग्ध गुणोंकी इस प्रकारसे विषमता होनी चाहिये। जैसे—स्निग्धका अर्थात् सामान्य स्निग्धका द्विगुण आदि अधिक स्निग्धके साथ बन्ध होता है। तथा द्विगुण आदि अधिक स्निग्धका सामान्य स्निग्धके साथ बन्ध होता है; ऐसेही रूक्षका द्विगुण आदि अधिक रूक्षके साथ बन्ध होता है; तथा द्विगुण आदि अधिक रूक्षका सामान्य रूक्षके साथभी बन्ध होता है। तात्पर्य यह कि सामान्य स्निग्ध पदार्थका उससे द्विगुण स्निग्धके साथ बन्ध होजाता है। जैसे—जमे घृतका पिघले घृतके साथ तथा आटेका गुड वा चीनीके साथ। परन्तु यह वैषम्य द्विगुण आदिसे अधिक होना चाहिये। और एक द्विगुण अधिक सदृश पदार्थोंका बन्ध नहीं होता। इस सूत्रमें "द्व्यधिकादिगुणानान्तु" यहां जो 'तु' शब्द पठित है वह व्यावृत्ति तथा विशेषणके लिये है। अर्थात् "न जघन्यगुणानां" वा "गुणसाम्ये सदृशानां" इत्याकारक प्रतिषेधकी तो व्यावृत्ति करता है और बन्धको विशेषित करता है॥३५॥

अत्राह। परमाणुषु स्कन्धेषु च ये स्पर्शादयो गुणास्ते किं व्यवस्थितास्तेष्वाहोस्विदव्यवस्थिता इति। अत्रोच्यते। अव्यवस्थिताः। कुतः। परिणामात्॥

अब यहां कहते है कि परमाणुओंके तथा स्कन्धोंके जो स्पर्श रस आदि गुण प्रथम कहे है वे उनमें व्यवस्थित रूपसे रहते हैं अथवा अव्यवस्थित रूपसे हैं?। इसपर कहते हैं कि वे स्पर्शरसादि अव्यवस्थितही रहते है। क्योंकि वे परिणामसे होते हैं।

अत्राह। द्वयोरपि बध्यमानयोर्गुणवत्त्वे सति कथं परिणामो भवतीति उच्यते—

अब कहते हैं कि यदि बध्यमान (जिनका बन्ध हो रहा है वे) दोनों पदार्थ गुणवान् हैं तो कैसे परिणाम होता है? इसपर कहते है—

बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—बन्धे सति समगुणस्य समगुणः परिणामको भवति। अधिकगुणो हीनस्येति॥

विशेषव्याख्या—बन्ध होनेपर यदि सम गुण है तब तो समगुणका समगुणवालाही परिणाम होगा और हीन गुणका अधिक गुणवान् परिणाम होगा ॥ ३६ ॥

अत्राह। उक्तं भवता द्रव्याणि जीवाश्चेति। तत्किमुद्देशत एव द्रव्याणां प्रसिद्धिराहोस्विल्लक्षणतोऽपीति। अत्रोच्यते। लक्षणतोऽपि प्रसिद्धिः। तदुच्यते—

अब कहते हैं कि आपने पूर्वप्रकरणमें यह कहा है कि "धर्म आदि चार तथा जीव द्रव्य है" (अ. ५ सू. २) सो क्या केवल उद्देशमात्र (नामसंकीर्तन)सेही द्रव्यकी प्रसिद्धि (सिद्धि) है अथवा लक्षणसेभी? इस हेतुसे कहते हैं कि नहीं, लक्षणसेभी द्रव्य (पदार्थ)की प्रसिद्धि है, इस कारणसे लक्षणबोधक सूत्र आगे कहते हैं—

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—जिसमें गुण तथा पर्याय हों वह द्रव्य है।

भाष्यम्—गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः। भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः। तदुभयं यत्र विद्यते तद्द्रव्यम्। गुणपर्याया अस्य सन्त्यस्मिन्वा सन्तीति गुणपर्यायवत् ॥

विशेषव्याख्या—गुणपर्यायवत्त्व, अर्थात् **"गुणवत्त्वे सति पर्यायवत्त्वं द्रव्यत्वम्"** गुणवान् होके जिसमें कोई न कोई पर्याय हो वह द्रव्य है। गुणोंको लक्षणपूर्वक आगे कहैंगे। और भावान्तर तथा संज्ञान्तर होना यह पर्याय है। अर्थात् एक भावसे दूसरा भाव हो जाय तथा एक संज्ञासे दूसरी संज्ञा हो जाय यह पर्याय है। जैसे—मनुष्यसंज्ञासे देवसंज्ञा होजाना। ये दोनों अर्थात् गुण और पर्याय जिसके है वा जिसमे हैं वही द्रव्य है ॥ २७ ॥

कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—एके त्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—कोई एक आचार्य ऐसा कहते हैं कि कालभी द्रव्य है ॥ ३८ ॥

सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—स चैष कालोऽनन्तसमयः। तत्रैक एव वर्तमानसमयः। अतीतानागतयोस्त्वानन्त्यम् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—वह काल अनन्त समयरूप है। उसमें वर्तमानकाल तो एकही है। किन्तु अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) काल अनन्त है ॥ ३९ ॥

अत्राह। उक्तं भवता गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति। तत्र के गुणा इति। अत्रोच्यते—

अव कहते है कि आपने यह वर्णन किया है कि गुण तथा पर्याय जिसमे हों, वा गुणपर्याय जिसके हों वह द्रव्य है (अ. ५ सू. ३७). सो वे गुण कौन हैं?। इसके उत्तरमें यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—जो द्रव्यके आश्रयमे रहै, और स्वयं निर्गुण हों वे गुण हैं।

भाष्यम्—द्रव्यमेषामाश्रय इति द्रव्याश्रयाः। नैषां गुणाः सन्तीति निर्गुणाः।

विशेषव्याख्या—जिनका आश्रय अर्थात् रहनेका स्थान द्रव्य हो, और स्वयं निर्गुण हों, अर्थात् उनमे गुण न हों वे गुण हैं ॥ ४० ॥

अत्राह। उक्तं भवता बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ इति तत्र कः परिणाम इति। अत्रोच्यते—

अब यहां कहते हैं कि आपने प्रथम यह कहा है कि बन्ध होनेपर समान गुणवालेका समान गुण परिणाम होता है, और हीन गुणका अधिक गुण परिणाम होता है (अ. ५ सू. ३६)। सो परिणाम क्या वस्तु है?। इसके उत्तरमे अग्रिम सूत्र कहते हैं—

तद्भावः परिणामः॥ ४१॥

सूत्रार्थ—वस्तुका जो भाव अर्थात् स्वभाव वही परिणाम है।

भाष्यम्—धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः।

विशेषव्याख्या—पूर्व प्रसंगमें यथोक्त जो धर्म अधर्म आदि द्रव्य है उनका स्वभाव तथा गुणोंका स्वभाव अर्थात् निजतत्त्व वही परिणाम है॥ ४१॥

स द्विविधः।

वह परिणाम दो प्रकारका है। जैसे—

अनादिरादिमांश्च॥ ४२॥

भाष्यम्—तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—अनादि तथा आदिमान् दो प्रकारका परिणाम है। उनमे अनादि परिणाम तो अरूपी द्रव्य जो धर्म, अधर्म, अकाश तथा जीव हैं उनमेही होता है॥ ४२॥

रूपिष्वादिमान्॥ ४३॥

भाष्यम्—रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान्। परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिरिति॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्याः—रूपी जो द्रव्य है, अर्थात् श्वेत, कृष्ण और नील आदि रूपवाले जो द्रव्य है, उनमें आदिमान् (सादि) परिणाम होता है। और वह आदिमान् परिणाम अनेक प्रकारका होता है। जैसे—स्पर्श परिणाम, रस परिणाम और गंध परिणाम, इत्यादि॥ ४३॥

योगोपयोगौ जीवेषु॥ ४४॥

सूत्रार्थ—जीव यद्यपि अरूपी द्रव्य है, तथापि उनमें योग और उपयोग ये आदिमान् परिणाम होते है।

भाष्यम्—जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामावादिमन्तौ भवतः। तत्रोपयोगः पूर्वोक्तः। योगस्तु परस्ताद्वक्ष्यते—

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः॥ ५॥

विशेषव्याख्याः—अरूपी द्रव्योंमे अनादि परिणाम कहा है (अ. ५ सू. ४२)। उसका यह अपवाद वा विशेष वचन है कि जीवोंके अरूपी द्रव्य होनेपरभी उनमे आ-

दिमान् परिणाम योग तथा उपयोग होते हैं ॥ उनमें उपयोग तो प्रथम (अ. २ सू. १९ में) कह चुके हैं और योग आगे (अ. ६ सू. १. में) कहेंगे ॥ ४४ ॥

इत्याचार्योपाधिधारिद्विवेदोपनामकठाकुरप्रसादशर्मप्रणीत-भाषाटीकासमलङ्कृते तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अत्राह । उक्ता जीवाजीवाः । अथास्रवः क इत्यास्रवप्रसिद्ध्यर्थमिदं प्रक्रम्यते—

अब कहते हैं कि जीव तथा अजीव पदार्थका निरूपण कर चुके । अब उसके पश्चात् क्रमप्राप्त आस्रव पदार्थका निरूपण करना चाहिये, इस प्रयोजनकी प्रसिद्धिके लिये इस सूत्रका आरम्भ करते है—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—कायिक, वाचिक, तथा मानस जो कर्म है उसको योग कहते हैं ।

भाष्यम्—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति । स एकशो द्विविधः । शुभश्चाशुभश्च । तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः । सावद्यानृतपरुष-पिशुनादीनि वाचिकः । अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानसः ॥ अतो विपरीतः शुभ इति ॥

विशेषव्याख्या—कायिक कर्म, वाचिक कर्म, तथा मानस कर्म यह तीन प्रकारका योग होता है । वह प्रत्येक शुभ और अशुभ भेदसे दो प्रकारका होता है । उनमेंसे हिंसा चौर्य्य (चोरी) तथा अब्रह्मचर्य्य (मैथुनसेवन) इत्यादि कायिक अशुभ कर्म योग है । किसीकी निंदा, मिथ्याभाषण, कठोर वचन, चुगुली इत्यादि वाचिक अशुभ कर्म योग है । किसीके धन लेनेकी अभिलाषा, मारनेकी इच्छा, ईर्ष्या (जलन), असूया (गुणोंमेंभी दोषारोपण) तथा अनिष्टचिंतन आदि मानस अशुभ कर्म योग है । और इनसे विपरीत शुभ है । जैसे—अहिंसा अचौर्य्य आदि कायिक, प्रशंसा सत्यभाषणादि वाचिक शुभ कर्म योग है । तथा दूसरेकी शुभचिंतनतादि मानस शुभ कर्म है ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त योग आस्रव है ।

भाष्यम्—स एष त्रिविधोऽपि योग आस्रवसंज्ञो भवति । शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रवणा-दास्रवः । सरःसलिलावाहिनिर्वाहिस्रोतोवत् ॥

विशेषव्याख्या—कायिक, वाचिक, तथा मानस जो कर्म हैं, यही तीन प्रकारका जो योग वर्णन किया है वही आस्रव है । शुभ तथा अशुभ कर्मोंका आस्रव अर्थात् आगमन होनेसे यह आस्रव कहा जाता है । जैसे—तालाबके जलके ग्रहण तथा निष्का-मन करनेवाला प्रवाह है वैसेही वह आस्रव है, अर्थात् उसी मार्गसे कर्मोंका आगमन होता है ॥ २ ॥

शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥

भाष्यम्—शुभो योगः पुण्यस्यास्रवो भवति ॥

सूत्रार्थ—शुभ योग पुण्यके आस्रवका कारण होता है।

विशेषव्याख्या—शुभ योग पुण्यका आस्रव होता है, अर्थात् शुभ योगसे पुण्य आस्रवका आगमन होता है ॥ ३ ॥

अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—अशुभ योग पापास्रवका कारण होता है।

भाष्यम्—तत्र सद्वेद्यादि पुण्यं वक्ष्यते। शेषं पापमिति ॥

विशेषव्याख्या—जैसे शुभ योगसे पुण्य आस्रव होता है वैसेही अशुभ योगसे पापास्रव होता है। उनमें शुभ सद्वेद्य आदि पुण्य आगे (अ. ८ सू. २६ में) कहेंगे और सद्वेद्य आदिसे जो भिन्न है वह पाप है ॥ ४ ॥

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्य्यापथयोः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—यह त्रिविध योग सकषाय, तथा अकषायके साम्परायिक तथा ईर्य्यापथका आस्रव होता है।

भाष्यम्—स एष त्रिविधोऽपि योगः सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोरास्रवो भवति यथासङ्ख्यं यथासम्भवं च। सकषायस्य योगः साम्परायिकस्य अकषायस्येर्यापथस्यैवैकसमयस्थितेः ॥

विशेषव्याख्या—यह जो कायिक कर्म आदि तीन प्रकारके योग दर्शाये हैं वे सकषाय अर्थात् कषायोंकरके सहित और अकषाय (कषायोंसे रहित) जीवोंके होते है। और वे साम्परायिक तथा ईर्य्यापथके आस्रव होते है। यहांपर सकषाय तथा अकषाय इन दोनोंका साम्परायिक और ईर्य्यापथ दोनोंके साथ यथासंख्य संबंध है। अर्थात् सकषायका योग तो साम्परायिकका आस्रव होता है और अकषायका योग ईर्यापथका आस्रव होता है। क्योंकि अकषाय तथा ईर्य्यापथकी ही एक समयमें स्थिति होती है ॥ ५ ॥

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ६

सूत्रार्थ—भावार्थः—पांच, चार, पांच तथा पच्चीस संख्यायुक्त अव्रत, कषाय, इंद्रिय और क्रिया ये पूर्व आस्रवके भेद है।

भाष्यम्—पूर्वस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्साम्परायिकस्याह। साम्परायिकस्यास्रवभेदाः पञ्च चत्वारः पञ्च पञ्चविंशतिरिति भवन्ति। पञ्च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाः। 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्येवमादयो वक्ष्यन्ते। चत्वारः क्रोधमानमायालोभा अनन्तानुवन्ध्यादयो वक्ष्यन्ते। पञ्च प्रमत्तस्येन्द्रियाणि। पञ्चविंशतिः क्रियाः। तत्रेमे क्रियाप्रत्यया यथासङ्ख्यं प्रत्येतव्याः। तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः कायाधिकरणप्रदोषपरितापन-

प्राणातिपाताः दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

विशेषव्याख्या—पञ्चम सूत्रमे पठित पाठक्रमके प्रमाणसे यहांपर पूर्वसे साम्परायिक आस्रवका ग्रहण है। उस साम्परायिक आस्रवके पांच अव्रत, चार कषाय, पांच इंद्रिय तथा पञ्चविंशति (पच्चीस) क्रिया, सब मिलके उनचालीस (३९) भेद हैं। उनमे हिंसा, अनृत (मिथ्याभाषण), स्तेय अर्थात् चोरी, अब्रह्मचर्य्य (मैथुनप्रसंग) और परिग्रह ये पांच अव्रत हैं। प्रमत्तयोगसे प्राणोंको शरीरसे पृथक् करना यह हिंसा है (अ. १ सू. ८)। इसको आदि लेकर हिंसादिके लक्षण आगे कहेंगे। क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चार कषाय हैं। अनंताऽनुबन्धी आदि भेद आगे (अ. ८ सू. १० में) कहेंगे और स्पर्शन आदि प्रसक्तके पांच इंद्रिय हैं। और क्रियाके पच्चीस भेद हैं। उनमे ये वक्ष्यमाण क्रिया, प्रत्यय यथासंख्यरूपसे जानने चाहिये। जैसे—सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया, समादानक्रिया. ईर्य्यापथक्रिया, कायक्रिया, अधिकरणक्रिया, प्रदोषक्रिया, परितापनक्रिया, प्राणातिपातक्रिया, दर्शनक्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रत्ययक्रिया, समंतानुपातनक्रिया, अभोगक्रिया, स्वहस्तक्रिया, निसर्गक्रिया, विदारणक्रिया, अनयनक्रिया, अनवकाङ्क्षाक्रिया, आरम्भक्रिया, परिग्रहक्रिया, मायाक्रिया, मिथ्यादर्शनक्रिया, तथा अप्रत्याख्यानक्रिया, ये ३९ भेद साम्परायिक आस्रवके है ॥ ६ ॥

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्य्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—उन्चालीसभेदसहित इन साम्परायिक आस्रवोंकी तीव्र मन्दादिभावोंके विशेषसे विशेषता है।

भाष्यम्—सांपरायिकास्रवाणां एषामेकोनचत्वारिंशत्साम्परायिकाणां तीव्रभावात् मन्दभावाज्ज्ञातभावादज्ञातभावाद्वीर्यविशेषादधिकरणविशेषाच्च विशेषो भवति। लघुर्लघुतरो लघुतमस्तीव्रस्तीव्रतरस्तीव्रतम इति। तद्विशेषाच्च बन्धविशेषो भवति ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वोक्त पांच चार आदि भेद सहित जो उन्चालीस भेद साम्परायिक आस्रवोंके कहे हैं उनकाभी तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभावसे तथा वीर्य्यविशेष, और अधिकरणविशेषसे विशेष है। अर्थात् न्यूनाधिक तारतम्य है। जैसे कि लघु, लघुतर तथा लघुतम। एसे ही तीव्र, तीव्रतर तथा तीव्रतम हिंसादि। इनके विशेषसे बंधमें विशेषता होती है ॥ ७ ॥

अत्राह। तीव्रमन्दादयो भावा लोकप्रतीताः वीर्यं च जीवस्य क्षायोपशमिकः क्षायिको वा भाव इत्युक्तम्। अथाधिकरणं किमिति। अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि तीव्र मंद आदि भाव तो लोकमे प्रतीत (प्रसिद्ध) ही हैं। और वीर्यभी जीवका क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव है यह (अ. २ सू. ४।५ में) कह चुके हैं। अब अधिकरण क्या है? इस लिये यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—अधिकरण जीव तथा अजीव है।

भाष्यम्—अधिकरणं द्विविधम्। द्रव्याधिकरणं भावाधिकरणं च। तत्र द्रव्याधिकरणं छेदनभेदनादि शस्त्रं च दशविधम्। भावाधिकरणमष्टोत्तरशतविधम्। एतदुभयं जीवाधिकरणमजीवाधिकरणं च ॥ तत्र—

विशेषव्याख्या—अधिकरण दो प्रकारके होते है। एक द्रव्याधिकरण, दूसरा भावाधिकरण। इनमें द्रव्याधिकरण छेदनभेदनादि तथा शस्त्र जो कि दश प्रकारका है। और भावाधिकरण एकसौ आठ (१०८) है (अ. ६ सू. ९)। यह दोनों जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणभी है ॥ ८ ॥ उनमेंसेः—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—आद्य अर्थात् प्रथम जीवाधिकरण संरंभादिभेदसे संक्षेपसे तीन प्रकारका, पुनः वह एक २ तीन प्रकारका, पुनः वह एक २ तीन प्रकारका, और पुनः वह एक २ चार प्रकारका है।

भाष्यम्—आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्याज्जीवाधिकरणमाह। तत्समासतस्त्रिविधम्। संरम्भः समारम्भ आरम्भ इति। एतत्पुनरेकशः कायवाङ्मनोयोगविशेषात्त्रिविधं भवति। तद्यथा—कायसंरम्भः वाक्संरम्भः मनःसंरम्भः कायसमारम्भः वाक्समारम्भः मनःसमारम्भः कायारम्भः वागारम्भः मनआरम्भ इति ॥ एतदप्येकशः कृतकारितानुमतविशेषात्त्रिविधं भवति। तद्यथा—कृतकायसंरम्भः कारितकायसंरम्भः अनुमतकायसंरम्भः कृतवाक्संरम्भ कारितवाक्संरम्भः अनुमतवाक्संरम्भः कृतमनःसंरम्भः कारितमनःसंरम्भः अनुमतमनःसंरम्भः एवं समारम्भारम्भावपि ॥ तदपि पुनरेकशः कषायविशेषाच्चतुर्विधम्। तद्यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भः मानकृतकायसंरम्भः मायाकृतकायसंरम्भः लोभकृतकायसंरम्भः क्रोधकारितकायसंरम्भः मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः लोभकारितकायसंरम्भः क्रोधानुमतकायसंरम्भः मानानुमतकायसंरम्भः मायानुमतकायसंरम्भः लोभानुमतकायसंरम्भः। एवं वाङ्मनोयोगाभ्यामपि वक्तव्यम्। तथा समारम्भारम्भौ ॥ तदेवं जीवाधिकरणं समासेनैकशः षट्त्रिंशद्विकल्पं भवति। त्रिविधमप्यष्टोत्तरशतविकल्पं भवतीति ॥

संरम्भः सकषायः परितापनया भवेत्समारम्भः।
आरम्भः प्राणिवधः त्रिविधो योगस्ततो ज्ञेयः ॥

विशेषव्याख्या—पूर्वसूत्र (८) क्रमके प्रमाणसे आद्यशब्दसे जीवाधिकरणका ग्रहण है। वह प्रथम संक्षेपसे संरम्भ, समारम्भ, और आरम्भ इन भेदोंसे तीन प्रकारका है। और यह एक २ काय, वाक्, तथा मनोरूप योगविशेषसे तीन २ प्रकारका है। जैसे—कायसंरम्भ, वाक्संरम्भ और मनःसंरम्भ; पुनः कायसमारंभ, वाक्समारम्भ, तथा मनःसमारम्भ; और काय–आरम्भ, वाक्–आरम्भ, वा मन–आरम्भ; इस प्रकारसे प्रत्येकके तीन २ भेद

होगये । और इनमेंभी प्रत्येकके कृत, कारित, वा अनुमतके भेदसे पुनः तीन २ भेद हैं । जैसे–कृतकायसंरम्भ, कारित कायसंरम्भ, तथा अनुमत कायसंरम्भ, ऐसेही कृत वाक्–संरम्भ, कारित वाक्संरम्भ तथा अनुमत वाक्संरम्भ, तथा कृतमनःसंरम्भ, कारितमनःसंरम्भ, और अनुमतमनःसंरम्भ। इसीप्रकार समारम्भ और आरम्भके साथभी काय आदिके योजनपूर्वक कृत, कारित तथा अनुमतके योजनसे प्रत्येकके तीन २ भेद होते हैं । और यह भी पुनः प्रत्येक कषायके विशेषसे चार २ प्रकारके होते हैं । जैसे–क्रोधकृत कायसंरंभ, मानकृत कायसंरंभ, मायाकृत कायसंरंभ, लोभकृत कायसंरंभ; क्रोधकारित कायसंरंभ, मानकारित कायसंरम्भ, मायाकारित कायसंरम्भ, लोभकारित कायसंरंभ; क्रोधानुमत कायसंरंभ, मानानुमत कायसंरम्भ, मायानुमत कायसंरंभ, लोभानुमत कायसंरंभ ॥ इसीप्रकार वाग् तथा मनके साथभी योजित करके कहना चाहिये । जैसे—क्रोधकृत वाक्संरम्भ, मानकृत वाक्संरम्भ, मायाकृत वाक्संरम्भ, तथा लोभकृत वाक्संरम्भ. इसी रीतिसे कारित आदिको लगाके समझलेना । और ऐसेही समारंभ तथा आरंभके भी भेद होगे । इसप्रकार संक्षेपसे जीवाधिकरणके प्रत्येक (संरम्भादि) ३६ छत्तीस २ भेद होते है । और तीनोंके अर्थात् संरंभ आदिके मिलके एकसौ आठ (१०८) हुए । क्योंकि छत्तीसको त्रिगुण करनेसे (१०८) होते है ।

कपायसहित होनेसे संरम्भ होता है, परितापनासे अर्थात् दुःख आदि संप्रदानसे समारम्भ होता है, और प्राणियोंका वध करना आरम्भ होता है. इसप्रकार त्रिविध हेतुसे त्रिविध योग समझना चाहिये ॥ ९ ॥

अत्राह । अथाजीवाधिकरणं किमिति । अत्रोच्यते—

अत्र यहांपर कहते हैं कि अजीव अधिकरण क्या है ? । इसके उत्तरमें यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—पर अर्थात् अजीव अधिकरणके निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग तथा निसर्ग ये चार भेद संक्षेपसे हैं । और निर्वर्तना आदिके क्रमसे दो, चार, दो, तथा तीन भेद है ।

भाष्यम्—परमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादजीवाधिकरणमाह । तत्समासतश्चतुर्विधम् । तद्यथा–निर्वर्तना निक्षेपः संयोगो निसर्ग इति ॥ तत्र निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधम् । मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाः पञ्च, शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्टपुस्तचित्रकर्मादीनि ॥ निक्षेपाधिकरणं चतुर्विधम् । तद्यथा–अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुःप्रमार्जितनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणमिति ॥ संयोगाधिकरणं द्विविधम् । भक्तपानसंयोजनाधिकरणमुपकरणसंयोजनाधिकरणं च ॥ निसर्गाधिकरणं त्रिविधम् । कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणमिति ।

विशेषव्याख्या—"अधिकरणं जीवाजीवाः" (अ० ६ सू० ८) इस सूत्रके क्रमसे यहां 'पर' शब्दसे अजीव अधिकरणका ग्रहण है, और वह निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग, तथा निसर्ग, इन चार भेदोंमें संक्षेपसे विभक्त है। उनमें निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद हैं। जैसे-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण तथा उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण। उनमें भी मूलगुणनिर्वर्तना पञ्चविध है, जैसे-शरीर (औदारिक आदि), वाक्, मन, तथा प्राण व अपान। और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण काष्ठ, पुस्त, चित्रकर्मादिक। निक्षेपाधिकरण चार प्रकारका है। जैसे-अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण अर्थात् विना अन्वेषण किये किसी वस्तुको कहीं स्थापित करना। द्वितीय दुःप्रमार्जित निक्षेपाधिकरण अर्थात् उत्तमतासे मार्जन (सफाई) किये विना कहीं कुछ रख देना। तृतीय सहसानिक्षेपाधिकरण अर्थात् अकस्मात् (एकदम) कुछ रख देना। चौथा अनाभोगनिक्षेपाधिकरण अर्थात् विना शुद्ध किये तथा विना देखे स्थानमें शरीर आदिका रख देना। संयोगाधिकरण दो प्रकारका है। जैसे-भक्तपान (अन्नपान) संयोजनाधिकरण, तथा उपकरण (भोजनसे भिन्न अन्य सामग्री वस्त्राभूषण आदि) संयोजनाधिकरण। और चतुर्थ निसर्गाधिकरण, तीन प्रकारका है। जैसे कामनिसर्गाधिकरण, वाग्निसर्गाधिकरण, तथा मनोनिसर्गाधिकरण।

अत्राह। उक्तं भवता सकषायाकषाययोर्योगः साम्परायिकेर्यापथयोरास्रव इति। साम्परायिकं चाष्टविधं वक्ष्यते। तत् किं सर्वस्याविशिष्ट आस्रव आहोस्वित्प्रतिविशेषोऽस्तीति। अत्रोच्यते। सत्यपि योगत्वाविशेषे प्रकृतिं कृतिं प्राप्यास्रवविशेषो भवति। तद्यथा—

अब कहते हैं कि आपने सकषाय तथा अकषायका योग साम्परायिक तथा ईर्यापथका आस्रवरूप (अ० ६ सू० ५ में) कहा है 'सो साम्परायिक आठ प्रकारका है' यह आगे (अ० ६, सू० २६ मे) कहेंगे। सो यहांपर प्रश्न यह है कि सब योगोंका आस्रव अविशिष्ट (विना किसी विशेषके) है अथवा कुछ विशेष है?। इस-पर कहते हैं कि यद्यपि योगस्वरूपमें विशेषता न रहनेपर भी प्रकृतिकी कृतिको प्राप्त होकर आस्रवमें विशेषता होती है। जैसे—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः॥११॥

सूत्रार्थ—ए तत्प्रदोषादिक ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणके आस्रवके कारण हैं।

भाष्यम्—आस्रवो ज्ञानस्य ज्ञानवतां ज्ञानसाधनानां च प्रदोषो निह्नवो मात्सर्यमन्तराय आसादन उपघात इति ज्ञानावरणास्रवा भवन्ति। एतैर्हि ज्ञानावरणं कर्म बध्यते॥ एवमेव दर्शनावरणस्येति॥

विशेषव्याख्या—ज्ञान अथवा ज्ञानके साधनों, वा ज्ञानियोंके प्रदोष, निह्नव (ज्ञानादिका छिपाना, जैसे-जानते हुए भी कहना कि यह मैं नहीं जानता) मात्सर्य (डाह, देनेयोग्य ज्ञानको नहीं देना), अन्तराय (ज्ञानका व्यवच्छेद करना) आसादन (ज्ञान प्रकाश करते

परिग्रह नरककी, माया तिर्यग्योनिकी और अल्पारंभ परिग्रह तथा स्वभावमृदुता आदि मनुष्यकी आयुके आस्रवके हेतु है (अ० ६ सू० १६–१७–१८–) ॥ १९ ॥

अथ दैवस्यायुषः क आस्रव इति । अत्रोच्यते—

अब कहते हैं कि दैव आयुषके आस्रवका हेतु क्या है ? । इसपर कहते हैं

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, तथा बालतप ए सब दैव आयुषके आस्रव होते हैं।

भाष्यम्—संयमो विरतिर्व्रतमित्यनर्थान्तरम् । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति वक्ष्यते ॥ संयमासंयमो देशविरतिरणुव्रतमित्यनर्थान्तरम् । देशसर्वतोऽणुमहती इत्यपि वक्ष्यते ॥ अकामनिर्जरा पराधीनतयानुरोधाच्चाकुशलनिवृत्तिराहारादिनिरोधश्च ॥ बालतपः । बालो मूढ इत्यनर्थान्तरम् । तस्य तपो बालतपः । तच्चाग्निप्रवेशमरुत्प्रपातजलप्रवेशादि ॥ तदेवं सरागसंयम' संयमासंयमादीनि च दैवस्यायुष आस्रवा भवन्तीति ॥

विशेषव्याख्या—संयम अर्थात् विरति, क्योंकि संयम, विरति, व्रत ए सब एकार्थवाचक है ॥ हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म (ब्रह्मचर्यका न होना) तथा परिग्रह इनसे जो विरति (विरक्तता वा निवृत्ति) सो व्रत है ऐसा आगे (अ० ७ सू० १ मे.) कहेंगे, तथा संयमासंयम, देशमे विरति, अणुव्रत ए सब एकार्थवाचक है अतएव देश तथा 'सर्वदेशमेसे हिंसादिविरति अणुव्रत तथा महाव्रत होता है' यहभी (अ० ७ सू० २ में) आगे कहेंगे. और 'पराधीनतासे अकुशल (दुष्ट कुकर्मादि) कर्मोंसे निवृत्ति तथा आहारका निरोध अर्थात् अपनी इच्छा न रहते भी पराधीनताके कारणसे अकुशल कार्य्योंसे निवृत्त रहना, तथा भोजन विषयादि सेवन न कर सकना' यह अकामनिर्जरा है । तथा बाल और मूढ एभी समानार्थक हैं । उस मूढका जो तप है उसको बालतप कहते हैं । वह बालतप अग्निमे प्रवेश, महावायुका पान वा पर्वतपरसे गिरना अथवा जलमें प्रवेश करना आदि हैं । इस रीतिसे सरागसंयम, तथा संयमासंयमादि दैव आयुषके आस्रवके हेतु होते है ॥ २० ॥

अथ नाम्नः क आस्रव इति । अत्रोच्यते—

अब इसके पश्चात् नामकर्मका क्या आस्रव है ? । यह कहते हैं—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—कायवाङ्मनोयोगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न आस्रवो भवतीति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—काय, वाग् तथा मनोरूप जो योग है उसकी वक्रता

अर्थात् कुटिलता और विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन कराना ए अशुभ नामके आस्रवके हेतु होते है ॥ २१ ॥

विपरीतं शुभस्य ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—पूर्वकथितसे विपरीत शुभनामका आस्रव है।

भाष्यम्—एतदुभयं विपरीतं शुभस्य नाम्न आस्रवो भवतीति ॥ किं चान्यत्—

विशेषव्याख्या—पूर्वकथनसे विपरीत अर्थात् काय, वाग् तथा मनोरूप योगकी सरलता, और अविसंवादन (यथार्थप्रवर्तन) ए सब शुभ नामके आस्रवके हेतु है ॥ २२ ॥

तथा—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—दर्शनविशुद्धि व विनय सम्पन्नताआदि तीर्थकरनामके आस्रव होते है, अतिप्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्तम दर्शनविशुद्धि (शुद्धता), विनयसम्पन्नता (चार प्रकारके विनयका साहित्य), शीलव्रतोंमें सर्वथा अनतिचार अर्थात् प्रमादका अभाव, निरंतर ज्ञानोपयोग, तथा संवेग (संसारसे वैराग्य और धर्मसे अनुराग), शक्तिके अनुसार त्याग (दानादि) तथा तप, सङ्घ (चातुर्वर्ण्यसमूह) तथा साधुओंकी समाधि और वैयावृत्य (अनेक प्रकारकी सेवा शुश्रूषादि करना) अर्हत्, आचार्य्य, बहुश्रुत, तथा शास्त्रकी परमभावोंकी विशुद्धिसे भक्ति, सामायिकादिक आवश्यककी अपरिहारणि (अत्याग), मार्गप्रभावना (जैनधर्मके महत्वका प्रख्यापन) और प्रवचनवत्सलता ये सब गुण तीर्थकर नाम कर्मके आस्रव है ॥

भाष्यम्—परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धिः। विनयसंपन्नता च। शीलव्रतेष्वात्यन्तिको भृशमप्रमादोऽनतिचारः। अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगः संवेगश्च। यथाशक्तितस्त्यागस्तपश्च। सङ्घस्य साधूनां च समाधिवैयावृत्यकरणम्। अर्हत्स्वाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च परमभावविशुद्धियुक्ता भक्तिः। सामायिकादीनामावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः। सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गस्य निहत्य मानं करणोपदेशाभ्यां प्रभावना। अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बालवृद्धतपस्विशैक्षग्लानादीनां च सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति। एते गुणाः समस्ता व्यस्ता वा तीर्थकरनाम्न आस्रवा भवन्तीति ॥

विशेषव्याख्या—दर्शन (सम्यक्दर्शन) की परमोत्कृष्ट विशुद्धि, विनययुक्तता, शीलव्रतोंमें अनतिचार अर्थात् शीलव्रतोंका अतिचार (दोष)रहित पालन करना, अभीक्ष्णं अर्थात् सदा ज्ञानोपयोग तथा संवेग, तथा यथाशक्ति दान (सुपात्रोंको दान) तथा तप, सङ्घ

१ जो स्वधर्मी हो वह चातुर्वर्ण्यसमुदाय संघशब्दसे विवक्षित भान होता है।

तथा साधुओंकी समाधि और वैयावृत्यकरण अर्थात् संघकी समाधि (समाधान) और साधुओंका वैयावृत्यकरण अर्थात् शरीर, वाक् तथा मनोयोगसे सेवा टहल करनी। तथा अर्हत्परमर्षियोंमें, आचार्योंमें, बहुश्रुतों अर्थात् सर्वशास्त्रज्ञानसम्पन्नोंमें, और शास्त्रोंमें परमभावविशुद्धियुक्त भक्ति। और आवश्यक अर्थात् सामायिक आदिकी परमशुद्धभावसे अनुष्ठानद्वारा अपरिहाणि अर्थात् त्यागका अभाव। और सम्यग् दर्शन आदि जो मोक्षमार्ग हैं उनके अनुष्ठान तथा उपदेश आदिसे उनकी प्रभावना, अर्थात् उनकी महिमाको सबपर प्रगट करना। और अर्हत्शासनके अनुष्ठान करनेवाले श्रुतधरोंके ऊपर तथा बाल वृद्ध तपस्वी और शैक्षग्लान आदिके ऊपर संग्रह (मेल) उपग्रह (उपकार) तथा अनुग्रह आदिका जो करना है वह प्रवचनवत्सलता है। ये पूर्वोक्त सब गुण मिलित तथा पृथक् २ अर्थात् ये दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि सब गुण मिलते हों वा इनमेंसे यथासंभव एक दो चार हों तो तीर्थकर नामकर्मका आस्रव होते है। अर्थात् इन गुणोंसे तीर्थंकर कर्मका बंध होता है ॥ २३ ॥

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—दूसरोंकी निंदा व अपनी प्रशंसा, सद्गुणोंका आच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन अर्थात् प्रकट करना ये सब नीचैर्गोत्र (नीचकुल) के आस्रव होते है।

भाष्यम्—परनिन्दात्मप्रशंसा सद्गुणाच्छादनमसद्गुणोद्भावनं चात्मपरोभयस्थं नीचैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—सर्वत्र आत्म-(अपनी) प्रशंसा वा अन्य पुरुषोंकी निंदा, तथा अन्यप्राणियोंमें जो उत्तम गुण विद्यमान है उनका तो आच्छादन करना अर्थात् छिपाना और अपने जो उत्तम गुण नहीं है उनको उत्तम गुण करके लोकमें प्रगट करना तथा अपने असद् अर्थात् निंद्यगुणोंको गुप्त रखना, ये नीचैर्गोत्र (नीचकुल) में उत्पत्तिके आस्रवके हेतु हैं ॥ २४ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

भाष्यम्—उत्तरस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यादुच्चैर्गोत्रस्याह। नीचैर्गोत्रास्रवविपर्ययो नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकश्चोच्चैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—नीचैर्गोत्रके जो आस्रव कहे है, उसके विपर्य्यय अर्थात् अपनी निंदा और दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंके असद्गुणोंका गोपन और सत् (उत्तम) गुणोंका प्रकट करना, सबसे [1]नीचैर्वृत्ति अर्थात् नम्रताका वर्ताव रखना, तथा अनुत्सेक अर्थात् निरभिमान गर्व न करना, ये सब गुण उच्चैर्गोत्र (उच्चकुल) में उत्पत्तिके आस्रव होते है ॥२५॥

[1] नीचैर्वृत्ति इसको कहते है कि-विनयप्रवण (विनयकी ओर झुकीहुई) वाक्कायचित्तता अर्थात् मन, वचन और शरीरसे नम्र वर्ताव करना.

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—विघ्न करना अंतराय (कर्म)के आस्रवका हेतु होता है।

भाष्यम्—दानादीनां विघ्नकरणमन्तरायस्यास्रवो भवतीति। एते साम्परायिकस्याष्टविधस्य पृथक्क् पृथगास्रवविशेषा भवन्तीति॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे भाष्यतः षष्ठोऽध्यायः समाप्तः॥

विशेषव्याख्याः—दानादिकके विषयमे जो विघ्न आदिका करना है वह अंतराय कर्मका आस्रव होता है। यह दर्शनावरण आदि अष्ट (आठ) प्रकारके साम्परायिकके पृथक् २ आस्रव दर्शाये गये॥ २६॥

इत्याचार्योपाधिधारिठाकुरप्रसादशर्मप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृतेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे भाष्यतः षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः।

अत्राह। उक्तं भवता सद्वेद्यस्यास्रवेषु भूतव्रत्यनुकम्पेति, तत्र किं व्रतं को वा व्रतीति। अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं 'आपने प्रथम यह कहा कि सब प्राणियोंपर तथा व्रतियोंमें विशेप अनुकम्पा, तथा दानादि सद्वेद्य कर्मका आस्रव होता है (अ. ६ सू. १२), सो व्रत क्या है?। और व्रतको धारण करनेवाले व्रती कौन है?। इसके उत्तरमें यह अग्रिम सूत्र कहते हैः—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—हिंसा और असत्य भाषण आदिसे निवृत्त होनेको व्रत कहते है।

भाष्यम्—हिंसाया अनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहाच्च कायवाङ्मनोभिर्विरतिर्व्रतम्। विरतिर्नाम ज्ञात्वाभ्युपेत्याकरणम्। अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्॥

विशेषव्याख्या—हिंसासे, अनृत (मिथ्या भाषणादि)से, स्तेय अर्थात् चोरीसे, अब्रह्म अर्थात् मैथुनप्रसंगसे और परिग्रह अर्थात् पदार्थसंचयसे शरीर, वाणी और मनके द्वारा जो विरति अर्थात् उपरम है उसको व्रत कहते है। विरति शब्दका अर्थ है कि किसी पदार्थको जानकर उसे तदनुसार स्वीकार करके त्यागना। और अकरण (न करना), उपरम तथा निवृत्ति, विरति ये सब समानार्थवाची शब्द हैं।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

भाष्यम्—एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्याः—इन हिंसा आदि पांच पापोंसे एकदेशविरति तो अणुव्रत होता है और सर्वथा हिंसादिसे निवृत्ति होजानेसे महाव्रत होता है॥ २॥

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—उन व्रतोंकी स्थिरताके निमित्त प्रत्येककी पांच २ भावना करनी चाहिये।

भाष्यम्—तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थमेकैकस्य पञ्च पञ्च भावना भवन्ति। तद्यथा— अहिंसायास्तावदीर्यासमितिर्मनोगुप्तिरेषणासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनमिति ॥ सत्यवचनस्यानुवीचिभाषणं क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानमभीरुत्वं हास्यप्रत्याख्यानमिति ॥ अस्तेयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनमनुज्ञापितपानभोजनमिति ॥ ब्रह्मचर्यस्य स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तशयनासनवर्जनं रागसंयुक्तस्त्रीकथावर्जनं स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियालोकनवर्जनं पूर्वरतानुस्मरणवर्जनं प्रणीतरसभोजनवर्जनमिति ॥ आकिञ्चन्यस्य पञ्चानामिन्द्रियार्थानां स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दानां मनोज्ञानां प्राप्तौ गार्ध्यवर्जनममनोज्ञानां प्राप्तौ द्वेषवर्जनमिति ॥ किं चान्यदिति।

विशेषव्याख्या—वह जो अहिंसा आदि पांच प्रकारके व्रत कहे हैं, उनकी स्थिरता अर्थात् दृढताके अर्थ प्रत्येक व्रतकी पांच २ प्रकारकी भावना करनी चाहिये। जैसे—प्रथम अहिंसा व्रतकी स्थिरताके अर्थ ईर्य्यासमिति १ मनोगुप्ति २ एषणासमिति ३ आदान—निक्षेपणसमिति, ४ और आलोकितपानभोजन ५, तथा सत्य व्रतकी स्थिरताके लिये अनुवीचिभाषण (अनिंद्यभाषण) १ क्रोधप्रत्याख्यान (क्रोधका त्याग) २ लोभप्रत्याख्यान (लोभका त्याग, ३ अभीरुत्व अर्थात् भयका अभाव ४ और हास्यका प्रत्याख्यान (अभाव) ५। अचौर्य्य व्रतके स्थैर्यके लिये भी अनुवीचि—अवग्रह—याचन (अनिंद्य पदार्थका ग्रहण तथा याचन) १ निरंतर अनिंद्य याचन २ इतना ही हमारे लिये पर्याप्त होगा इस प्रकारके विचारपूर्वक पदार्थोंका ग्रहण ३ समानधर्मियोंसे ही अवग्रहयाचन ४, और अनुज्ञापित (आज्ञा दिए हुए पदार्थोंका) पान तथा भोजन ५, तथा ब्रह्मचर्य व्रतकी स्थिरताके लिये स्त्री, पशु और नपुंसकके संबंध वा संपर्कवाले शयन, शय्या आदि और आसनका वर्जन १ रागयुक्त स्त्रियोंकी कथाका वर्जन (निषेध) २ स्त्रियोंके मनोहर अङ्गोंके दर्शनका निषेध ३ पूर्वकालमें किये हुए स्त्रीप्रसंग आदिके स्मरणका निषेध ४ तथा अतिपुष्टिकारक वा कामोत्पादक भोजनका निषेध (अभाव) ५ तथा अकिंचन अर्थात् अपरिग्रहव्रतकी स्थिरताके अर्थ पाँचो इंद्रियोंके जो अर्थ (विषय) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द हैं: वे यदि मनोज्ञ (अपनेको इष्ट वा अभिलषित) प्राप्त हों तब तो गार्ध्य अर्थात् लोलुपता वा लुब्धताका वर्जन और यदि अमनोज्ञ (अनिष्ट) प्राप्त हों तब द्वेषका वर्जन अर्थात् निषेधरूपसे भावना न करनी। इस रीति पांचो व्रतोंकी दृढताके लिये प्रत्येकके अर्थ पांच २ भावना दर्शाई गई ॥ ३ ॥ और भी—

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—हिंसादिक जो पांचो है उनमें इस लोक तथा परलोकमे भी अपाय (श्रेयस्कर कार्योंके नाश)का प्रयोग तथा अवद्य (निंदा) दर्शनकी भावना करै ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हिंसादिषु पञ्चस्वास्रवेष्विहामुत्र चापायदर्शनमवद्यदर्शनं च भावयेत । तद्यथा । हिंसायास्तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयो नित्यानुबद्धवैरश्च । इहैव वधबन्धपरिक्लेशादीन्प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान ॥ तथानृतवाद्यश्रद्धेयो भवति । इहैव जिह्वाछेदादीन्प्रतिलभते मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यस्तदधिकान्दुःखहेतून्प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यनृतवचनाद्व्युपरमः श्रेयान् ॥ तथा स्तेनः परद्रव्यहरणप्रसक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवतीति । इहैव चाभिघातवधबन्धनहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणवध्ययातनमारणादीन्प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयाद्व्युपरमः श्रेयान ॥ तथाऽब्रह्मचारी विभ्रमोद्भ्रान्तचित्तः विप्रकीर्णेन्द्रियो महान्धो गज इव निरङ्कुशः शर्म नो लभते । मोहाभिभूतश्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचिदकुशलं नारभते । परदाराभिगमनकृतांश्च इहैव वैरानुबन्धलिङ्गच्छेदनवधबन्धनद्रव्यापहारादीन्प्रतिलभतेऽपायान्प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यब्रह्मणो व्युपरमः श्रेयानिति ॥ तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव मांसपेशीहस्तोऽन्येषां क्रव्यादशकुनानामिहैव तस्करादीनां गम्यो भवति ॥ अर्जनरक्षणक्षयकृतांश्च दोषान्प्राप्नोति । न चास्य तृप्तिर्भवतीन्धनैरिवाग्नेर्लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति । प्रेत्य चाशुभां गतिं प्राप्नोति लुब्धोऽयमिति च गर्हितो भवतीति परिग्रहाद्व्युपरमः श्रेयान् ॥ किं चान्यत—

विशेषव्याख्या—हिंसा तथा मिथ्याभाषणादि पांचोंके आस्रवोंमें इस लोकमें तथा मृत्युके पश्चात् परलोकमें अपायदर्शन तथा अवद्यदर्शनकी भावना करै । अर्थात् हिंसादिके विषे इस लोकमें तथा परलोकमें भी श्रेयःप्रणाश तथा निंदायुक्तकी दृष्टि रक्खे, कि—ये जीवके श्रेष्ठ कार्योंके नाशक तथा निंद्यके जनक हैं । जैसे—हिंसाकारी जीव नित्यही भय उद्वेगादिसे नित्य प्राणियोंमें बद्धवैर होता है । अत एव हिंसाशील जीव इसी लोकमें वध तथा तथा बंधन आदि क्लेशोंको प्राप्त होता है, और मृत्युके अनंतर परलोकमें अशुभगतिको प्राप्त होता है और उभय लोकमे निन्दित भी होता है, इत्यादि कारणोंसे हिंसासे निवृत्ति होना ही कल्याणकारक है । इसी प्रकार असत्यवादी भी इस लोकमें विश्वासके अयोग्य होता है । और यहांही पर राजा आदिके द्वारा जिह्वा आदिके छेदन तथा कारागृह क्लेशोंको प्राप्त होता है और मिथ्याकथनसे दुःखित लोगोंसे सदा बद्धवैर होनेसे उनके द्वारा उनसेभी अधिक दुःख हेतुओंको प्राप्त होता है. मरणके अनंतर अशुभ गतिको प्राप्त होता है और उभय लोकमे निन्दितभी होता है. इत्यादि हेतुओंसे मिथ्याभाषणसे उपरम होनाही कल्याणकारक है, इसी प्रकार चोरी करनेवाला प्राणीभी दूसरोंके द्रव्यके अपहरण करनेमें आसक्तबुद्धि होनेसे सबसे उद्वेजनीय अर्थात् त्रास भय-आदिके पात्र होता है और इसी लोकमें राजा तथा चोरीसे दुःखित जनोंसे ताडित [illegible]

वंधन, हस्त, पाद, कर्ण, तथा नासिका और ओष्ठके छेदन-भेदन, सर्वस्वहरण, तथा वध मारणआदि पीडाओंको प्राप्त होता है और मृत्युके अनंतर अशुभ गतिको प्राप्त होता है तथा उभय लोकमें निन्दितभी होता है। इत्यादि कारणोंसे चौर्यकर्मसे निवृत्त होनाही कल्याणकारक होता, है इसी प्रकार अब्रह्मचारी अर्थात् व्यभिचारी (परस्त्रीगामी) जन विभ्रमसे सदा उद्भ्रान्तचित्त अर्थात् विभ्रमसे पूर्ण, इंद्रियोंकी लोलुपतासे पूर्ण अत एव मदांध हाथीके समान निरङ्कुश (स्वेच्छाचारी) होनेसे शांतिको कदापि नहीं प्राप्त होता है और मोहग्रस्त अज्ञान वा अविवेकसे पूर्ण अकर्तव्य तथा कर्तव्यसे अनभिज्ञ, अर्थात् क्या हमारा कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इस प्रकारके विवेकसे शून्य होनेसे कौनसे अकुशल (दुष्ट) कर्मका आरम्भ नही करता? अर्थात् सभी दुष्कर्मोंका आरंभ करता है और इसी लोकमें परस्त्रीगमनआदिसे उत्पन्न वैरानुबंधसे लिङ्गच्छेदन, वध, बंधन, तथा द्रव्यादिके अपहरणआदि अनेक क्लेशोंको प्राप्त होता है, इस प्रकारके अनेकविध पूर्ण क्लेशोंको भोगकर मरणके पश्चात् परलोकमे अशुभ गतिको प्राप्त होता है और उभय लोकमे निन्दित होता है, इत्यादि हेतुओंसे परस्त्रीआदिगमनसे निवृत्त होनाही कल्याणकारक है। और ऐसेही परिग्रहवान् प्राणीभी तस्करों (चोरों)से अभिगमनीय (प्रापणीय वा लूटनेके योग्य) होता है, जैसे मांस लिये हुए साधारण पक्षी अन्य मांसाहारी जीवोंसे तथा धनके उपार्जन, रक्षण वा नाशसे उत्पन्न अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है और कितना ही धनका संग्रह करे परन्तु धनोंसे इसकी तृप्ति ऐसे नहीं होती जैसे इंधनोंसे अग्निकी, तथा अतिपरिग्रहके लोभसे ग्रस्त होनेके काण कर्तव्य अकर्तव्यके विवेकसेभी शून्य हो जाता है और मृत्युके अनंतर अशुभ गतिको प्राप्त होता है और यह प्राणी अतिलोभी है इस प्रकार निन्दितभी होता है, इत्यादि हेतुओंसे परिग्रहसे उपरत (अलग) होना ही कल्याणदायक है। इत्यादि भावना करनेसे अहिंसादि बहुत दृढ होते हैं ॥ ४ ॥ और भी—

दुःखमेव वा ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—अथवा 'हिंसाआदि पांच पापोंमे दुःखही दुःख है' ऐसी भावना करनी चाहिये।

भाष्यम्—दुःखमेव वा हिंसादिषु भावयेत् ॥ यथा ममाप्रियं दुःखमेवं सर्वसत्त्वानामिति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान ॥ यथा मम मिथ्याभ्याख्यानेनाभ्याख्यातस्य तीव्रं दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति अनृतवचनाद्व्युपरमः श्रेयान् ॥ यथा ममेष्टद्रव्यवियोगे दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति स्तेयाद्व्युपरमः श्रेयान् ॥ तथा रागद्वेषात्मकत्वान्मैथुनं दुःखमेव। स्यादेतत्स्पर्शनसुखमिति तच्च न। कुतः। व्याधिप्रतीकारत्वात्कण्डूपरिगतवच्चाब्रह्म व्याधिप्रतीकारत्वादसुखे ह्यस्मिन्सुखाभिमानो मूढस्य। तद्यथा—

तीव्रया त्वक्छोणितमांसानुगतया कण्ड्वा परिगतात्मा काष्ठशकललोष्टशर्करानखशुक्तिभिर्विच्छिन्नगात्रो रुधिरार्द्रः कण्डूयमानो दुःखमेव सुखमिति मन्यते । तद्वन्मैथुनोपसेवीति मैथुनाद्व्युपरमः श्रेयान् ॥ तथा परिग्रहवानप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षारक्षणशोकोद्भवं दुःखमेव प्राप्नोतीति परिग्रहाद्व्युपरमः श्रेयान् । इत्येवं भावयतो व्रतिनो व्रते स्थैर्यं भवति ॥ किं चान्यत् ।

विशेषव्याख्या—जैसे दुःख मुझे अप्रिय है और प्राणोंको शरीरसे पृथक् करना मुझे इष्ट नहीं है, ऐसेही संपूर्ण जीवोंको दुःख अप्रिय है इस हेतुसे हिंसासे उपरमही कल्याणकारी है । जैसे मिथ्याभाषणसे मुझे दुःख होता है अर्थात् मेरे विषयमें यदि कोई मिथ्याभाषण करे तो मुझे अतिदुःख होता है और प्रथमभी इससे दुःख हुआ है, ऐसेही अन्य प्राणीके विषयमें मिथ्याभाषणसे उस अन्य प्राणीकोभी दुःख होगा इस हेतुसे मिथ्याभाषणसे विरत होनाही उत्तम है । तथा जैसे मुझे इष्ट पदार्थोंके वियोगसे दुःख होता है और पूर्व हुआ भी ऐसेही यदि चोरी करके उनका इष्ट पदार्थसे वियोग कर देवेंगे तौ सब प्राणीमात्रको दुःख होगा, इत्यादि हेतुओंसे चोरीसे पृथक् होनाही कल्याणदायक है । ऐसेही रागद्वेषसे पूर्ण होनेसे मैथुनप्रसंगभी दुःखही है । कदाचित् यह कहो कि–मैथुनमें जो स्पर्शन इंद्रियसे सुख होता है वह दुःख नहीं है, सो यह कथन भी असंगत है । क्योंकि यह व्याधिका प्रतीकार अर्थात् रोगका प्रतीकार होनेसे कण्डू (खुजली)से व्याप्त मनुष्यको संघर्षण (खुजलाहट) आदिद्वारा उसको प्रतीकार (उपाय)के समान मैथुनेच्छारूप व्याधि (रोग)के प्रतीकारके होनेसे सुखसे रहित इस मैथुनमे स्पर्शजन्य सुखमे मूढ़ पुरुषको सुखका अभिमान है, यथार्थमें सुख नहीं होता। जैसे–अतितीव्र त्वचा रुधिर तथा मांसमें व्याप्त कण्डू (दाह आदि खुजलाहट)से व्याप्त प्राणी काष्ठके खण्डसे, लोहके खण्डसे, कंकणसे, तथा नख, शुक्ति (सीप) आदिके संघर्षणसे अर्थात् इन पदार्थोंसे खुजलानेसे छिन्न शरीर और रुधिरसे व्याप्त होनेपरभी खुजलाता हुआ दुःखकोही सुख मानता है, ऐसेही मैथुनका सेवी भी दुःखको ही सुख मान बैठता है, इस हेतुसे मैथुनसे उपराम होनाही कल्याणकारी है । ऐसे ही परिग्रहवान् प्राणी भी अप्राप्त पदार्थके प्राप्त होनेकी आकाङ्क्षा तथा अर्जनादिसे प्राप्तके रक्षणसे और प्राप्त होकर नष्ट होनेके शोकसे उत्पन्न दुःखकोही पाता है, इन कारणोंसे परिग्रहसे उपराम होनाही कल्याणदायक है । ईस प्रकार हिंसाआदि पंच पापोंमे दुःखकीही भावना करनेसे व्रतीकी व्रतमें स्थिरता होती है । और भी—

१ शका होसकती है कि–मैथुन तो स्पर्शद्वारा सुखकाही जनक है, उसमे स्त्रीपुरुषोंमें किसीकोभी दुःख नहीं होता, किंतु दोनोंको सुखही होता है? इसका उत्तर "स्यात्" इत्यादिसे देते हैं । २ यहा पर "तत्" (सो) इस पदसे स्पर्शजन्य सुखसे तात्पर्य्य है ॥ ३ "**इत्येवं भावयतो०**" 'इस रीतिसे भावना करनेवाले' इत्यादि वाक्यमें जो (इत्येवं) यह पद दिया है इससे सूत्रकी समाप्ति दर्शाई है. इससे जो कोई भाष्यकोही 'व्याधिप्रतीकारत्वात्कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्मेति, तथाप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ६

सूत्रार्थ—सब जीवोंमें मैत्री, गुणाधिकमें प्रमोद, क्लेशयुक्तमें करुणा, तथा अशिक्षित दुष्ट जीवोंमें औदासीन्यकी भावना करनी चाहिये ।

भाष्यम्—भावयेद्यथासङ्ख्यम् । मैत्रीं सर्वसत्त्वेषु । क्षमेऽहं सर्वसत्त्वानाम् । क्षमयेऽहं सर्वसत्त्वान् । मैत्री मे सर्वसत्त्वेषु । वैरं मम न केनचिदिति ॥ प्रमोदं गुणाधिकेषु । प्रमोदो नाम विनयप्रयोगो वन्दनस्तुतिवर्णवादवैयावृत्त्यकरणादिभिः सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोधिकेषु साधुषु परात्मोभयकृतपूजाजनितः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्तो मनःप्रहर्ष इति ॥ कारुण्यं क्लिश्यमानेषु । कारुण्यमनुकम्पा दीनानुग्रह इत्यर्थः । तन्महामोहाभिभूतेषु मतिश्रुतविभङ्गाज्ञानपरिगतेषु विषयतर्षाग्निना दन्दह्यमानमानसेषु हिताहितप्राप्तिपरिहारविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदुःखार्दितेषु दीनकृपणानाथबालमोमुहवृद्धेषु सत्त्वेषु भावयेत् । तथा हि भावयन् हितोपदेशादिभिस्ताननुगृह्णातीति ॥ माध्यस्थ्यमविनेयेषु । माध्यस्थ्यमौदासीन्यमुपेक्षेत्यनर्थान्तरम् । अविनेया नाम मृत्पिण्डकाष्ठकुड्यभूता ग्रहणधारणविज्ञानोहापोहवियुक्ता महामोहाभिभूता दुष्टावग्राहिताश्च । तेषु माध्यस्थ्यं भावयेत् । न हि तत्र वक्तुर्हितोपदेशसाफल्यं भवति ॥

विशेषव्याख्या—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, तथा माध्यस्थ, इन चारोंका सत्वमात्र, गुणाधिक, क्लिश्यमान, और अविनेय इन चारोंके साथ यथासंख्य है । अर्थात् सत्व आदिमें मैत्री आदिकी भावना चाहिये । जैसे–संपूर्ण जीवोंमें मैत्री (मित्रता)की भावना करे । जैसे–सब जीवोंके अपराध आदि मैं क्षमा करता हूं और संपूर्ण जीवोंसे अपना अपराध क्षमा करता हूं । तात्पर्य यह कि–सब जीवोंपर मैं मित्रताकी दृष्टि रक्खूं और सब जीव मेरे ऊपर । मेरी मित्रता संपूर्ण जीवोंमें हो और मेरा वैर (विरोध) किसी प्राणीसे नहीं हैं ऐसी भावना करे । तथा जो अपनेसे अधिक विद्या आदि गुणसम्पन्न हैं उनमें प्रमोदकी भावना करनी चाहिये । प्रमोद कहते है विनयका प्रयोग अर्थात् स्तुति, वन्दना, वर्णवाद (प्रशंसा) तथा वैयावृत्यकरण अर्थात् सेवा शुश्रूषा आदि करना: सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, और तप आदिमें अधिक जो साधु है उनमें अन्य पुरुष तथा अपनेसे कृत जो पूजाआदि सत्कार है उस पूजाआदिसे उत्पन्न संपूर्ण इन्द्रियोंमें प्रकट मनका प्रहर्ष (अधिक आनन्द) होना यही गुणाधिकोंमें प्रमोद है, सो इस प्रमोदकी भावना गुणाधिकोंमें करनी चाहिये । तथा जो क्लिश्यमान है अर्थात् दुःखयुक्त हैं उनमें करुणाकी भावना करनी चाहिये । कारुण्य अर्थात् अनुकम्पा दया, दीनोंके ऊपर अनुग्रह करना है । वह कारुण्य महामोहग्रस्त, मति श्रुत विभङ्ग ज्ञानरूप अज्ञानमें पूर्ण, विषयरूप तृष्णाकी अग्निसे रात्रि दिन दन्दह्यमान (अत्यन्त जलते हुए) चित्तवालोंमें कि–जिनकी प्रवृत्ति हिताहितकी प्राप्ति तथा परिहार (त्याग)

---

*आत्मपरोभयकृतमिति इस भाष्यको जो सूत्र मानकर पढ़ते हैं वेह अनार्ष है । यदि ये दोनों सूत्र होते तो इनकी व्याख्या होती, वह नहीं है इसलिये इनको सूत्र मानना यह अनार्ष है ॥

अर्थात् हितकी प्राप्ति, अहितका परिहार इनमें विपरीत है, तथा जो नानाप्रकारके दुःखोंसे दुःखी है उनपर तथा दीन, कृपण, अनाथ, बाल तथा अत्यन्त मोही वृद्ध जीवोंपर करनी चाहिये तथा ऐसी भावनाका चिन्तवन करता हुआ उनको हितोपदेशादिकके द्वारा अनुग्रहीतभी करे। और अविनेयोंमे माध्यस्थ्य अर्थात् उदासीनता रखनी चाहिये। माध्यस्थ्य उदासीनता तथा उपेक्षा, ये सब एकार्थवाचक शब्द है। जो मृत्तिकाके पिण्डके समान वा काष्ठ, भित्ति वा पाषाणके समान उपदेशादिके ग्रहण धारणमे असमर्थ, विज्ञान तथा ऊहापोह (प्रतिभा वा कल्पनाशक्ति)से रहित है, और महामोहसे ग्रस्त अथवा किसी पदार्थको दुष्टता वा विपरीतरूपसे ग्रहण किये हैं वा किसीसे विपरीत ग्रहण कराये गए है, वे अविनेय हैं। ऐसे जीवोंके विषयमें उदासीनताकी भावना करे। क्योंकि ऐसे जीवोंको उपदेश देनेसे वक्ताके हितोपदेशकी सफलता नहीं होती॥ ६॥

कि चान्यत्।

और यह भी है।

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम्॥ ७॥

सूत्रार्थ—संवेग तथा वैराग्यकी प्राप्तिके लिये जगत् तथा काय (शरीर)के स्वभावोंकी भावना करनी चाहिये॥ ७॥

भाष्यम्—जगत्कायस्वभावौ च भावयेत् संवेगवैराग्यार्थम्। तत्र जगत्स्वभावो द्रव्याणामनाद्यादिमत्परिणामयुक्ताः प्रादुर्भावतिरोभावस्थित्यन्यतानुग्रहविनाशाः। कायस्वभावोऽनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारताऽशुचित्वमिति॥ एवं ह्यस्य भावयतः संवेगो वैराग्यं च भवति। तत्र संवेगो नाम संसारभीरुत्वमारम्भपरिग्रहेषु दोषदर्शनादरतिर्धर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनःप्रसाद उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च श्रद्धेति॥ वैराग्यं नाम शरीरभोगसंसारनिर्वेदोपशान्तस्य बाह्याभ्यन्तरेषूपाधिष्वनभिष्वङ्ग इति॥

विशेषव्याख्या—संवेग और वैराग्यके अर्थ जगत् व कायके स्वभावोंकी भावना करै। उनमे प्रथम जगत्के स्वभावके विषयमें कहते है, जगत्के स्वभाव यह है कि—सम्पूर्ण द्रव्योंके अनादि तथा आदिमान् परिणामोंसे युक्त प्रादुर्भाव (प्रकट होना), तिरोभाव (लुप्त होना), अवस्थिति (पदार्थोंकी कुछ कालस्थिति), परस्पर उपकार तथा विनाश, ऐसी भावमा करे। और कायस्वभाव क्या है कि—शरीरकी अनित्यता, दुःखोंकी हेतुता, निःसारता, तथा मलादिसे युक्त होनेके कारण अपवित्रतादि। इस रीतिसे भावना करनेवाले जीवके संवेग तथा वैराग्य होते है। उनमेंसे संवेग नाम संसारसे भीरुता (भय वा डर), आरम्भ परिग्रहादि दोषोंके देखनेसे अरुचि, धर्ममें बहुमान, तथा धार्मिक प्राणियोंमें धर्मके श्रवणमें तथा धार्मिक पुरुषोंके दर्शनमे मनकी प्रसन्नता, और उत्तरोत्तर

उनके गुणोंका ज्ञान होनेपर उनमें अधिक श्रद्धा; इत्यादि संवेग है। तथा शरीरमें, भोगोंसे. संसारसे ग्लानि होनेपर शान्त पुरुषकी वाह्य तथा आभ्यन्तरकी जो उपाधियां हैं उनमें अनासक्ति, अर्थात् संसारसे शरीरसे भोगादिसे सर्वथा शान्त होकर आभ्यन्तर क्रोधादिक तथा विषयोंमें जो अप्रीति है वही वैराग्य है ॥ ७ ॥

अत्राह। उक्तं भवता हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतमिति तत्र का हिंसा नामेति। अत्रोच्यते।

अब यहांपर कहते हैं—कि आपने (श्रीआचार्यने) यह कहा है कि हिंसा आदि पांच महापापोंसे जो निवृत्ति है वही व्रत है (अ. ७ सू. १); सो उन पांच पापोंमेंसे हिंसा क्या वस्तु है? इसके उत्तरमें यह अग्रिम सूत्र कहते हैं:—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—प्रमत्तयोगसे जो प्राणोंका शरीरसे पृथक्करण है उसको हिंसा कहते हैं॥८॥

भाष्यम्—प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा। हिंसा मारणं प्राणातिपातः प्राणवधः देहान्तरसंक्रामणं प्राणव्यपरोपणमित्यनर्थान्तरम् ॥

विशेषव्याख्या—प्रमत्त (कषायसहित) होकर काय, वाक् तथा मनोयोगोंसे जो प्राणोंका व्यपरोपण अर्थात् प्राणोंका वध करना है; वही हिंसा है। हिंसा, मारण, प्राणवध, प्राणातिपात, एक देहसे दूसरे देहमें जीवका संक्रामण और प्राणोंका व्यपरोपण, ये सब समानार्थक शब्द हैं ॥ ८ ॥

अत्राह। अथानृतं किमिति। अत्रोच्यते—

अब कहते हैं कि अनृत क्या है? इसका उत्तर कहते हैं—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—असत् अर्थात् मिथ्या जो कथन है उसको अनृत कहते है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च ॥ तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्भूतनिह्नवोऽभूतोद्भावनं च। तद्यथा—नास्त्यात्मा नास्ति परलोक इत्यादि भूतनिह्नवः। श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अङ्गुष्टपर्वमात्रोऽयमात्मा आदित्यवर्णो निःक्रिय इत्येवमाद्यमभूतोद्भावनम् ॥ अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यश्वमश्वं च गौरिति ॥ गर्हेति हिंसापारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेव भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—असत् पदसे यहांपर सद्भावका निषेध, अर्थान्तर, (जैसा यथार्थमें है उससे अन्य अर्थ) तथा गर्हा निन्दाका ग्रहण है, उनमें सद्भावका निषेध नाम सद्भूत अर्थका अपह्नव (छिपाना) और असत्का उद्भावन (प्रकटीकरण)। जैसे—'आत्मा नहीं है. परलोक नहीं है, इत्यादि सद्भूत पदार्थका अपह्नव अर्थात् निषेध है। और श्यामा (समा वा स्वई वा अतिसूक्ष्म चावलविशेष) तण्डुलमात्र यह जीवात्मा है, वा अङ्गुष्ठके पर्वमात्र यह आत्मा है, आदित्यवर्ण है, निष्क्रिय है इत्यादि असद्भूत वस्तुका

प्रकटीकरण है । अर्थान्तर वह है–जैसे गौको अश्व कहे और अश्वको गौ । गर्हा; हिंसा, पारुष्यवचन (कठोर मर्मवेधी वचन) तथा पैशुन्य (चुगुली) आदि युक्तवचन, यह यद्यपि सत्य हो तथापि गर्हित (निन्दित)होनेसे असत्यही है । अर्थात् गर्हित सत्यभी असत्यवत् है ॥ ९ ॥

अत्राह । अथ स्तेयं किमिति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते है कि स्तेय क्या है? इसके उत्तरमें यह सूत्र कहते हैं ।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—न दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना स्तेय है ॥ १० ॥

भाष्यम्—स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिगृहीतस्य तृणादेर्द्रव्यजातस्यादानं स्तेयम् ॥

विशेषव्याख्या—स्तेय(चौर्य) बुद्धिसे अदत्त अर्थात् जिनसे वह पदार्थ सम्बध रखता है उन पुरुषोंके बिना दियेहुए परिगृहीत जो तृणसे आदि लेके यावत् द्रव्य है उनका ग्रहण करना अर्थात् लेलेना, इसीको स्तेय चोरी कहते है ॥ १० ॥

अत्राह । अथाब्रह्म किमिति । अत्रोच्यते—

अब इसके पश्चात् कहते हैं कि 'अब्रह्म' क्या है? इसपर यह कहते है—

मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

भाष्यम्—स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म ।

सूत्रार्थ—स्त्रीपुरुषका जो मिथुनभाव वा मैथुनकर्म अथवा मैथुन (स्त्रीप्रसङ्ग) उसको अब्रह्म अर्थात् मैथुनसेवन कहते है ॥ ११ ॥

अत्राह । अथ परिग्रहः क इति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि इसके पश्चात् परिग्रह क्या है? इसपर कहते हैं ।

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—मूर्च्छाको परिग्रह कहते हैं ॥ १२ ॥

भाष्यम्—चेतनावत्स्वचेतनेषु च बाह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्छा परिग्रहः । इच्छा प्रार्थना कामोऽभिलाषः कांक्षा गार्द्ध्यं मूर्छेत्यनर्थान्तरम् ॥

विशेषव्याख्या—चेतनावान् हों वा अचेतन हों, ऐसे चेतनाचेतन बाह्य तथा आभ्यन्तर द्रव्योंमे जो मूर्छा (तदर्जन रक्षणआदिकी अभिलाषा) है उसको परिग्रह कहते है । इच्छा, प्रार्थना, काम, अभिलाष, कांक्षा, गार्ध्य, परिग्रह, तथा मूर्छा ये सब समानार्थक शब्द हैं ॥ १२ ॥

अत्राह । गृह्णीमस्तावद्व्रतानि । अथ व्रती क इति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते है कि–व्रतोंको जैसा आपने कहा वैसा हम ग्रहण करते है, परंतु व्रती कौन है? इसके उत्तरके लिये यह सूत्र है—

निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—शल्योंसे जो रहित है, वही व्रती है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यैस्त्रिभिर्वियुक्तो निःशल्यो व्रती भवति । व्रतान्यस्य सन्तीति व्रती । तदेवं निःशल्यो व्रतवान् व्रती भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यादर्शनशल्य इन तीन प्रकारके शल्योंसे जो रहित है तथा निःशल्य अर्थात् जिसके शल्य निकलगये हैं वही व्रती है। तथा पूर्वोक्त अहिंसा आदि व्रत जिसमें हैं वह व्रती है। इस प्रकार जो निःशल्य तथा व्रतवान् (व्रतयुक्त) हो सो व्रती होता है ॥ १३ ॥

अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

भाष्यम्—स एष व्रती द्विविधो भवति । अगारी अनगारश्च । श्रावकः श्रमणश्चेत्यर्थः ॥

सूत्रार्थ—व्रतीके दो भेद होते है। एक अगारी (गृही) अर्थात् श्रावक और दूसरा अनगारी अर्थात् श्रमण ॥ १४ ॥

अत्राह । कोऽनयोः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—

अत्र यहां कहते हैं कि इन दोनों अर्थात् अगारी तथा अनगारी इनमें क्या भेद है? इसपर यह सूत्र कहते हैं—

अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—अणुव्रतवाला अगारी है ॥ १५ ॥

भाष्यम्—अणून्यस्य व्रतानीत्यणुव्रतः । तदेवमणुव्रतधरः श्रावकोऽगारी व्रती भवति ॥

विशेषव्याख्या—जिसके व्रत अणु अर्थात् लघु वा छोटे हैं वह श्रावक अगारी व्रती होता है ॥ १५ ॥

किं चान्यत्—

और अगारी व्रतीके विषयमें यह वक्ष्यमाण विशेष भी है—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—तथा दिग्व्रत, देशव्रत आदि जो व्रत हैं उन व्रतोंसे जो संपन्न अर्थात् युक्त हो वह अगारी व्रती होता है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः संपन्नोऽगारी व्रती भवति । तत्र दिग्व्रतं नाम तिर्यगूर्ध्वमधो वा दशानां दिशां यथाशक्ति गमनपरिमाणाभिग्रहः । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ देशव्रतं नामापवरकगृहग्रामसीमादिषु यथाशक्ति प्रविचाराय परिमाणाभिग्रहः । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ अनर्थदण्डो नामोपभोगपरिभोगावस्यागारिणो व्रतिनोऽर्थः । तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः । तदर्थो दण्डोऽनर्थदण्डः । तद्विरतिर्व्रतम् ॥ सामायिकं नामाभिगृह्य कालं सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ पौष-

धोपवासो नाम पौषधे उपवासः पौषधोपवासः। पौषधः पर्वेत्यनर्थान्तरम्। सोऽष्टमीं चतुर्दशीं पञ्चदशीमन्यतमां वा तिथिमभिगृह्य चतुर्थाद्युपवासिना व्यपगतस्नानानुलेपनगन्धमाल्यालंकारेण न्यस्तसर्वसावद्ययोगेन कुशसंस्तारफलकादीनामन्यतमं संस्तारमास्तीर्य स्थानं वीरासननिषद्यानां वान्यतममास्थाय धर्मजागरिकापरेणानुष्ठेयो भवति ॥ उपभोगपरिभोगव्रतं नामाशनपानखाद्यस्वाद्यगन्धमाल्यादीनामाच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादीनां च बहुसावद्यानां वर्जनम्। अल्पसावद्यानामपि परिमाणकरणमिति ॥ अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमोपेतं परयात्मानुग्रहबुद्ध्या संयतेभ्यो दानमिति ॥

विशेषव्याख्या—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिकव्रत, पौषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगव्रत, तथा अतिथिसंविभागव्रत, ये जो उत्तरव्रत है इनसे सम्पन्न (युक्त) अर्थात् इन व्रतोंके करनेवाला भी अगारी व्रती है। इनमेसे **दिग्व्रत**का लक्षण यह है कि—तिर्यग् (इधर उधर) आठों दिशाओंमें ऊपर (पर्वतादिके) और अधोभागमे गमनके परिमाणका नियम करना और उससे परे सब जीवोंके विषयमे सार्थक वा निरर्थक संपूर्ण सावद्य (निन्दित) योगोंका त्याग करना, यही दिग्व्रत है। **देशव्रत** वह है कि—अपनेके अपवरक (सब ओरसे आवृत करनेवाले, घेरनेवाले) जो गृह, ग्राम तथा सीमा आदि है उनमें यथाशक्ति प्रविचार (गमनागमन) के लिये परिमाणका अभिग्रह अर्थात् नियम करना। और उस सीमासे परे संपूर्ण प्राणियोंके विषे अर्थसे वा अनर्थसे संपूर्ण सावद्य (निन्दा वा दोपसहित) काय, वाक् तथा मनोमय योगोंका त्याग करना। **अनर्थदण्ड**—नाम उपभोग, तथा परिभोग इस अगारी व्रतीके अर्थ है और उससे भिन्न अनर्थ है, उस अनर्थके लिये जो दण्ड है उसको अनर्थदण्ड कहते है। इस हेतुसे उस अनर्थदण्डसे जो विरति अर्थात् उपराम वा निवृत्ति है उसको **अनर्थदण्डव्रत** कहते हैं। **सामायिक** वह है कि—किसी नियत कालके लिये सम्पूर्ण सावद्य अर्थात् गर्ह्य वा निन्दनीय योगोंका त्याग। **पौषधोपवास**, इसका अर्थ यह है कि—पौषध अर्थात् पर्वमे जो उपवास (भोजनादिका त्याग) वह पौषधोपवास है। पौषध तथा पर्व ये दोनों समानार्थवाचक शब्द है। यह पौषधोपवास अष्टमी, चतुर्दशी, अथवा पूर्णिमा अमावास्या इनमेंसे किसी एक तिथिको वा सबको नियम करके चतुर्थकाल आदि उपवास करनेवाले प्राणीको स्नान अनुलेपन (उबटनाआदि सुगन्धित द्रव्य जो शरीरमे लगाये जाते है) गन्ध, अतर, तैल आदि, **माल्य** अर्थात् पुष्पमाला आदि तथा आभूपणोंके त्यागसहित और संपूर्ण सावद्य योगोंसे भी रहित होकर, कुश, चटाई वा पाटा इनमेंसे किसी एक आसनके ऊपर वीर, पद्म, अथवा स्वस्तिक आदिमेसे किसी एक आसनसे वैठकर धर्म—जागरिकामें तत्पर होके अर्थात् धर्मार्थ जागरणमे परायण होके अनुष्ठान करनेयोग्य है। तात्पर्य यह कि—इस पूर्वोक्त नियमसे पौषधोपवासका अनुष्ठान करना चाहिये।

उपभोगपरिभोगव्रत वह है कि—जिसमें भोजन, पानआदि खाद्य पदार्थोंका, स्वाद्य अर्थात् प्रिय आनन्ददायक गन्धमाल्य आदि पदार्थोंका, आच्छादन (वस्त्रादि) अलङ्कार, शय्या, आसन, गृह, यान (सवारी घोड़े हाथी बग्गीआदि), वाहन बैलआदि पदार्थोंका जो कि—बहुत सावद्य है अर्थात् निन्दादोषादिसहित है उन सबका त्याग करना। और इन भोजन, पान, गन्धमाल्य, वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, गृह यानादिमेंसे जो अल्पदोषादियुक्त है उनका भी परिमाण करना कि—इतनेसे अधिक नहीं रक्खेंगे, अर्थात् अल्प दोषवालोंमें भी आवश्यक पदार्थोंकी गणना करके वर्तावमें लाना, यह **उपभोगपरिभोगव्रत** है। **अथितिसंविभागव्रत** वह है कि—न्यायसे प्राप्त अर्थात् धर्मसे उपार्जित कल्पनीय (सम्पादन) करनेके योग्य जो द्रव्य हैं उनका देश, काल, श्रद्धा तथा सत्कारके क्रमसे युक्त होकर अतिअनुग्रहबुद्धिसे संयत अर्थात् संयमी पुरुषोंको देना, ये सात व्रतभी अगारी व्रतीके होते हैं ॥ १६ ॥

कि चान्यदिति।

और यहभी है:—

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—व्रती (अगारी व्रती) मारणान्तिकी अर्थात् मरणसमयकी संलेखनाका जोषिता अर्थात् सेवी होना चाहिये ॥ १७ ॥

भाष्यम्—कालसंहननदौर्बल्योपसर्गदोषाद्धर्मावश्यकपरिहाणिं वाभितो ज्ञात्वावमौदर्यचतुर्थषष्ठाष्टमभक्तादिभिरात्मानं संलिख्य संयमं प्रतिपद्योत्तमव्रतसंपन्नश्चतुर्विधाहारं प्रत्याख्याय यावज्जीवं भावनानुप्रेक्षापरः स्मृतिसमाधिबहुलो मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवतीति ॥

विशेषव्याख्या—काल, संहनन (शरीरकी स्थितिविशेष), दुर्बलता तथा उपसर्ग (पीडाआदि उपद्रवों)के दोषसे आवश्यक कार्यकी परिहाणिको सब ओरसे जानकर अवमौदर्य, (अल्प अशन), चतुर्थ, षष्ठ, तथा अष्टम कालमे भक्त (भात)आदिके द्वारा आत्माको नियममे लाके संयममे प्राप्त होके उत्तम व्रतसम्पन्न हो, चारों प्रकारके आहारोंको त्यागकर, जीवनपर्यन्त भावना तथा अनुपेक्षामे तत्पर स्मरण तथा समाधिमे बहुधा परायण होके, मरण समयकी संलेखनाका सेवी उत्तम अर्थका आराधक होता है।

एतानि दिग्व्रतादीनि शीलानि भवन्ति। निःशल्यो व्रतीति वचनादुक्तं भवति व्रती नियतं सम्यग्दृष्टिरिति ॥

ये जो दिग्व्रतादि कहे हैं वे सब शीलसंज्ञक है। निःशल्य व्रती होता है इस वचनसे यह सिद्ध है कि—व्रती नियमसे सम्यग्दृष्टिवाला होता है।

तत्र—

तहां—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—शंकाआदि पांच सम्यग्दृष्टि पुरुषके अतिचार है ॥ १ ॥

भाष्यम्—शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा संस्तवः इत्येते पञ्च सम्यग्दृष्टेरतीचारा भवन्ति । अतिचारो व्यतिक्रमः स्खलनमित्यनर्थान्तरम् ॥ अधिगतजीवाजीवादितत्त्वस्यापि भगवतः शासनं भावतोऽभिप्रपन्नस्यासंहार्यमतेः सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रोक्तेषु अत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थेषु यः संदेहो भवति एवं स्यादेवं न स्यादिति सा शङ्का ॥ ऐहलौकिकपारलौकिकेषु विषयेष्वाशंसा काङ्क्षा । सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः । कुतः । काङ्क्षिता ह्यविचारितगुणदोषः समयमतिक्रामति ॥ विचिकित्सा नाम इदमप्यस्तीदमपीति मतिविप्लुतिः ॥ अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह । सा द्विविधा । अभिगृहीता अनभिगृहीता च । तद्युक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैनयिकानां च प्रशंसासंस्तवौ सम्यग्दृष्टेरतिचार इति । अत्राह । प्रशंसासंस्तवयोः कः प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते । ज्ञानदर्शनगुणप्रकर्षोद्भावनं भावतः प्रशंसा । संस्तवस्तु सोपधं निरुपधं भूताभूतगुणवचनमिति ॥

विशेषव्याख्या—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा तथा संस्तव, ये पांच सम्यग्दृष्टि पुरुषके अतिचार (दोष) है । अतिचार, व्यतिक्रम तथा स्खलन, ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं । जीव अजीवआदि तत्त्वोंके ज्ञाता भगवान्के शासनको भावसे अभिप्राप्त और असंहार्यमति (असंहृतबुद्धि) अर्थात् जिसकी बुद्धि सब स्थानोंसे हटके जिनप्रोक्त पदार्थोंमें दृढतासे निःसन्देहपूर्वक स्थिर नहीं हुई है ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुषको अर्हत् भगवान्से कथित अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय तथा केवल आगमप्रमाणसे ग्राह्य (जाननेयोग्य) पदार्थोंमें जो सन्देह है कि—ऐसा भगवान्ने कहा है वैसा हो सकता है, वा नहीं, ऐसा जो विचार है उसको **शंका** कहते है । तथा इस लोकके और परलोकके विषयोंमें जो प्राप्त होनेकी अभिलाषा है वह **कांक्षा** है । वह शंका तथा कांक्षा करनेवाला दोनो सम्यग्दृष्टिके अतिचार है । क्योंकि—जिसने गुणदोषको नहीं विचारा है ऐसा पुरुष समयका उल्लंघन करता है । और विचिकित्सा वह कि—ऐसा भी है और ऐसाभी है, अर्थात् अर्हद् भगवान्ने जो कहा है यह भी यथार्थ है और अन्यदृष्टि अर्थात् कपिल आदिका जो कथन है यह भी यथार्थ है, इस प्रकारकी मति (भ्रांति) होना । तथा अन्य दृष्टिसे यहां अर्हत्शासनसे भिन्नदृष्टिसे तात्पर्य है । वह अन्यदृष्टि दो प्रकारकी होती है, एक तो अभिगृहीत (स्वीकृत) और द्वितीय (दूसरी) अनभिगृहीत (अस्वीकृत)। उस अन्यदृष्टिसे युक्त क्रियावादी हों अथवा अक्रियावादी हों, तथा अज्ञानी (जिनके

हिताहितकी परीक्षा नहीं है ऐसे) हों अथवा वैनयिक अर्थात् सम्पूर्ण देव तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंको समान माननेवाले हों, उनकी प्रशंसा तथा संस्तव करना । ये प्रशंसा तथा संस्तव दोनो सम्यग्दृष्टिके अतीचार है। अब यहां प्रश्न करते हैं कि–प्रशंसा तथा संस्तव (स्तुति) इन दोनोंमें क्या भेद है? इस शंकाका उत्तर कहते है कि–भावसे ज्ञानदर्शन गुणकी प्रकर्षता (उच्चता वा अधिकता)का जो उद्भावन अर्थात् सबपर प्रकट करना है, यह तो प्रशंसा है। और सोपध वा निरुपध वा भूत और अभूत अर्थात् यथार्थ वा अयथार्थ गुणोंका जो संकीर्तन है वह संस्तव अर्थात् संस्तुति है। ये शंकाआदि पांचों सम्यग्दृष्टि जनके अतीचार अर्थात् व्यतिक्रम हैं ॥ १८ ॥

इस अग्रिम सूत्रसे व्रत तथा शीलोंके अतीचारोंकी संख्या (गिनती) कहते है—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—अहिंसाआदि पांच (५) व्रतोंमे और दिग्व्रतआदि सात (७) शीलोंमे भी पांच (५) २ अतिचार होते है ॥ १९ ॥

भाष्यम्—व्रतेषु पञ्चसु शीलेषु च सप्तसु पञ्च पञ्चातीचारा भवन्ति यथाक्रममिति ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामः । तद्यथा—

विशेषव्याख्या—अहिंसाआदि व्रतोंके तथा दिग्व्रतआदि शीलोंके पांच २ अतीचारोंको अर्थात् प्रथम अहिंसाआदि व्रतोंके और पीछे दिग्व्रतआदि शीलोंके पांच २ अतीचारोंको हम आगे कहेंगे ॥ जैसे—

बन्धवधविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण, अन्नपाननिरोध ये पांच अहिंसाव्रतके अतिचार है ॥ २० ॥

भाष्यम्—त्रसस्थावराणां जीवानां बन्धवधौ त्वक्छेदः काष्ठादीनां पुरुषहस्त्यश्वगोमहिषादीनां चातिभारारोपणं तेषामेव चान्नपाननिरोधः अहिंसाव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—त्रस तथा स्थावर जो जीव है उनका वध १ तथा बन्धन २, तथा काष्ठआदिकी त्वक् (छाल आदि)का छेदन ३, पुरुष, हस्ती (हाथी), अश्व, गौ तथा महिष (भैंस)आदिके ऊपर अतिभार अर्थात् उचितसे अधिक भारका आरोपण (लादना) ४ और उन्हींके अर्थात् पुरुष, हस्ती, अश्व आदिके अन्नपानआदि आहारका निरोध करना (रोकना) ५, ये पांचो अहिंसाव्रतके अतिचार है ॥ २० ॥

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—मिथ्या उपदेश, रहस्याभ्याख्यान (गोप्य वार्ताओंका प्रकट करना), कूटलेखक्रिया, न्यासापहार तथा साकारमंत्रभेद, ये पांचों सत्य व्रतके अतीचार है ॥२१॥

भाष्यम्—एते पञ्च मिथ्योपदेशादयः सत्यवचनस्यातिचारा भवन्ति । तत्र मिथ्योपदेशो नाम प्रमत्तवचनमयथार्थवचनोपदेशो विवादेष्वतिसंधानोपदेश इत्येवमादिः ॥ रहस्याभ्याख्यानं नाम स्त्रीपुंसयोः परस्परेणान्यस्य वा रागसंयुक्तं हास्यक्रीडासङ्गादिभी रहस्येनाभिशंसनम् ॥ कूटलेखक्रिया लोकप्रतीता ॥ न्यासापहारो विस्मरणकृतपरनिक्षेपग्रहणम् ॥ साकारमन्त्रभेदः पैशुन्यं गुह्यमन्त्रभेदश्च ॥

विशेषव्याख्या—मिथ्या उपदेश, आदि **सत्यभाषणव्रतके** पांच अतीचार अर्थात् व्यतिक्रम वा स्खलन हैं । जैसे–प्रमत्तवचन, अयथार्थवचनका उपदेश, तथा विवादोंमें अतिसन्धान अर्थात् सन्धान (सम्बन्ध)को उल्लंघनकरके अर्थात् असम्बद्ध वा प्रकरणविरुद्ध जो उपदेश है इत्यादि सब मिथ्या उपदेश है । **रहस्याभ्याख्यान**–अर्थात् स्त्री पुरुषका परस्परके द्वारा अथवा अन्य किसीके रागसंयुक्त विषयको हास्य क्रीडाआदिसे रहस्यरूपसे जो कथन है वह रहस्याभ्याख्यान है । **कूटलेखक्रिया**–संसारमें प्रसिद्ध ही है । अर्थात् मिथ्या लेख वा जाली तमस्सुकआदि बनाना, यह सब कूटलेखक्रिया है । **न्यासापहार**–विसरण आदिके द्वारा धरोहररूपसे स्थापित पदार्थको हरलेना, यह **न्यासापहार** है । **साकारमन्त्रभेद**–पैशुन्य (चुगली करना) और गुह्यमन्त्र (सलाह) का भेद करना (भंडाफोड़ करना) है । ये सब सत्यभाषणव्रतके व्यतिक्रम हैं ॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मानादि, तथा प्रतिरूपकव्यवहार, ये पांचो अस्तेय (अचौर्य)व्रतके अतीचार है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति । तत्र स्तेनेषु हिरण्यादिप्रयोगः ॥ स्तेनैराहृतस्य द्रव्यस्य मुधा क्रयेण वा ग्रहणं तदाहृतादानम् ॥ विरुद्धराज्यातिक्रमश्चास्तेयव्रतस्यातिचारः । विरुद्धे हि राज्ये सर्वमेव स्तेययुक्तमादानं भवति ॥ हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारः कूटतुलाकूटमानवञ्चनादियुक्तः क्रयो विक्रयो वृद्धिप्रयोगश्च । प्रतिरूपकव्यवहारो नाम सुवर्णरूप्यादीनां द्रव्याणां प्रतिरूपकक्रिया व्याजीकरणानि चेत्येते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—स्तेनप्रयोगआदि अस्तेय व्रतके अतीचार हैं । उनमें चोरोंमें सुवर्णआदिका लेन देन करना, यह **स्तेनप्रयोग** है । तथा चोरोंसे लाया हुआ जो द्रव्य है उसको यों ही वा अल्प मूल्यसे लेलेना, यह **तदाहृतादान** है । तथा विरुद्ध राज्यमें अतिक्रम करना, अर्थात् विरुद्ध राज्यमें क्रमका उल्लंघन करना । क्योंकि;–विरुद्ध राज्यमें सब स्तेययुक्त ही ग्रहणआदि होता है । तथा **हीनाधिकमानोन्मानादि** यह हैं कि कूटतुला अर्थात् मिथ्या (झूंठी) तराजूसे कपटपूर्वक माप, वञ्चना (धोखा) आदिसे युक्त, क्रय विक्रय व्यवहार, अर्थात् झूंठी तराजूसे, झूंठे मापसे, तोलसे, दूसरोंको धोखा

देकर न्यून (कम) देना और अधिक लेना। तथा हीनाधिक परिमाणसे वृद्धि करना। और **प्रतिरूपकव्यवहार** यह है कि–सुवर्ण तथा रूप्य (रूपा–चांदी) आदि द्रव्योंकी प्रतिरूपकक्रिया, अर्थात् सोने चांदीके समान (मुलम्मेआदि अन्य)द्रव्योंको वनालेना तथा अन्य प्रकारके कपट व्यवहार करनेको भी प्रतिरूपक क्रिया कहते हैं। ये **स्तेन-प्रयोगआदि** पांच अस्तेय व्रतके अतीचार हैं॥ २२॥

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः॥ २३॥

सूत्रार्थ—परविवाहकरणादि ब्रह्मचर्य व्रतके अतीचार हैं। अर्थात् परविवाहकरण १ व्यभिचारिणी वा दूसरेकी विवाहितासे संग करना २ जिसका विवाह नहीं हुआ हो ऐसी कन्याआदिसे गमन करना ३ अयोग्य अङ्गसे क्रीडा करना ४ कामके वेगका तीव्र होना यह पांच (५) ब्रह्मचर्य व्रतके अतीचार है॥ २३॥

भाष्यम्—परविवाहकरणमित्वरपरिगृहीतागमनमपरिगृहीतागमनमनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेश इत्येते पञ्च ब्रह्मचर्यव्रतस्यातिचारा भवन्ति॥

विशेषव्याख्या—परविवाहकरण, अन्यकी विवाहिता कुलटा स्त्रीसे गमन करना, अपरिगृहीता (अविवाहिता कुमारी या वेश्याआदि) स्त्रियोंके साथ गमन करना, अनङ्ग-क्रीडा अर्थात् अङ्गोंसे भिन्न अङ्गोंमे क्रीडा करना, अतितीव्र कामनाका अभिनिवेश (वेग) अर्थात् अत्यन्त कामी होना; ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतके अतीचार हैं॥ २३॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः॥२४

सूत्रार्थ—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्यआदि वस्तुओंके प्रमाणका अतिक्रम करना, इत्यादि पांच इच्छापरिमाण वा अपरिग्रह व्रतके अतिचार है॥ २४॥

भाष्यम्—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमः धनधान्यप्रमाणातिक्रमः दासीदासप्रमाणातिक्रमः कुप्यप्रमाणातिक्रम इत्येते पञ्चेच्छापरिमाणव्रतस्यातिचारा भवन्ति॥

विशेषव्याख्या—क्षेत्र, वास्तु, खेत तथा गृहको प्रमाणसे अधिक संग्रह करना १ हिरण्य सुवर्णआदि वस्तुओंको प्रमाणसे अधिक संग्रह करना २ धन, धान्य व अन्य प्रकारके धन तथा अन्न वृक्षादिका प्रमाणसे अधिक संग्रह करना, ३ दासी दासआदिको प्रमाणसे अधिक नियत करना ४ और कुप्य अर्थात् भाण्ड वर्तनादि पदार्थोको प्रमाणसे अधिक संग्रह करना ५ ये पांचो इच्छापरिमाण वा अपरिग्रह व्रतके अतिचार है॥ २४॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि॥ २५॥

सूत्रार्थ—ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि तथा स्मृतिका अन्तर्धान. ये पांचों दिग्व्रतादि (शील)के अतिचार है॥ २५॥

भाष्यम्—ऊर्ध्वव्यतिक्रमः अधोव्यतिक्रमः तिर्यग्व्यतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तर्धानमित्येते पञ्च दिग्व्रतस्यातिचारा भवन्ति। स्मृत्यन्तर्धानं नाम स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानमिति ॥

विशेषव्याख्या—अहिंसाआदि पांच व्रतोंके अतीचारोंका व्याख्यान होगया, अब दिग्व्रतादि सत्वशीलोंके पांच २ अतीचार क्रमसे कहते हैं। उनमें प्रथम दिग्व्रतके जो नियम बांधे है, सो ऊर्ध्वभागका व्यतिक्रम अर्थात् नियत किये हुए स्थानसे अधिक गमनादि; ऐसे ही अधोभागमें (नीचेकी ओर) परिमाणसे अधिक गमनादि अधोव्यतिक्रम है २ आठों दिशाओंमें परिमाणसे अधिक देशमें गमनादि तिर्यग्व्यतिक्रम है ३ नियत परिमाणसे अधिक क्षेत्र (देश)की सीमाको बढ़ालेना यह क्षेत्रवृद्धिनामा अतिचार है ४ तथा स्मृतिका अन्तर्धान अर्थात् कहांतक सीमा की थी उसकी स्मृति न रहना, विस्मृत होके अधिक देशमें गमनागमनादि व्यवहार करना ५ यह स्मृत्यन्तर्धाननामा पञ्चम दिग्व्रतका अतीचार है ॥ २५ ॥

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—आनयन १ प्रेष्यप्रयोग २ शब्दानुपात ३ रूपानुपात ४ तथा पुद्गलक्षेप; ५ ये पांच देशव्रतके अतीचार है २६ ॥

भाष्यम्—द्रव्यस्यानयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इत्येते पञ्च देशव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—किसी आते जाते हुए मनुष्यके द्वारा अभिलषित द्रव्य नियत देशकी सीमासे बाहरके देशसे मँगवा लेना यह आनयनातिचार है। १ भृत्य (नौकर) आदिके द्वारा सीमासे बाहर अपने न जानेके देशसे कार्य निकाल लेना, यह प्रेष्यप्रयोग है २ तथा नियत देशसे बाहर स्वयं न जाकर शब्दके द्वारा कार्य निकाल लेना, यह शब्दानुपात अतिचार है ३ तथा ऐसे ही परिमाणसे बाह्य देशमें अपना रूप (फोटो—तसबीरआदि) दिखाके कार्य चला लेना, यह रूपानुपात है ४ और इसी प्रकार परिमाणसे बाह्य देशमे पुद्गल अर्थात् ढेला पाषाणआदि फेंककर कार्यका निर्वाह करलेना, यह **पुद्गलक्षेपनामा** पञ्चम देशव्रतका अतीचार है ॥ २६ ॥

कन्दर्पकौकुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ॥ २७॥

सूत्रार्थ—कन्दर्प १ कौकुच्य २ मौखर्य ३ असमीक्ष्याधिकरण ४ और उपभोगाधिकत्व ५ ये पांच **अनर्थदण्डविरतिव्रतके** अतीचार है ॥ २७ ॥

भाष्यम्—कन्दर्पः कौकुच्यं मौखर्यमसमीक्ष्याधिकरणमुपभोगाधिकत्वमित्येते पञ्चानर्थदण्डविरतिव्रतस्यातिचारा भवन्ति। तत्र कन्दर्पो नाम रागसंयुक्तोऽसभ्यो वाक्प्रयोगो हास्यं च ॥ कौकुच्यं नाम एतदेवोभयं दुष्टकायप्रचारसंयुक्तम् ॥ मौखर्यमसंवद्धवहुप्रलापित्वम् ॥ असमीक्ष्याधिकरणं लोकप्रतीतम् ॥ उपभोगाधिकत्वं चेति ॥

विशेषव्याख्या—कन्दर्पादि पांच अनर्थदण्डविरतिव्रतके अतिचार हैं। उनमें रागसंयुक्त तथा असभ्य वाणीका प्रयोग करना अर्थात् रागपूर्ण तथा सभ्यताविरुद्ध भाषण, और हास्य करना, यह **कन्दर्पनामा** अतिचार है १। और ये ही दोनों, अर्थात् रागसंयुक्त असभ्य भाषण और हास्य यदि दुष्ट कायके (शरीरके) संचारसहित हों तो वह **कौकुच्य** अतिचार है २। असम्बद्ध (परस्परविरुद्ध तथा निरर्थक) अधिक प्रलाप करना, यह **मौखर्यनामा** अतिचार है ३। और **असमीक्ष्याधिकरण** तो लोकमें प्रसिद्ध ही है; अर्थात् विना विचारे आवश्यकसे अधिक सामग्री एकत्रित करलेना, यह असमीक्ष्याधिकरण है ४। और उपभोगसे अधिक वस्तुका रखना, यह **उपभोगाधिकत्वनामक** पञ्चम अतिचार है ५॥ २७॥

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि॥ २८॥

सूत्रार्थ—कायदुष्प्रणिधान, १ वाग्दुष्प्रणिधान, २ तथा मनोदुष्प्रणिधान, ३ अनादर ४ और स्मृत्यनुपस्थान ५ ये पांच **सामायिक व्रतके** अतिचार हैं॥ २८॥

भाष्यम्—कायदुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमनादरः स्मृत्यनुपस्थापनमित्येते पञ्च सामायिकव्रतस्यातिचारा भवन्ति॥

विशेषव्याख्या—कायआदि तीनों योगोंका दुष्प्रणिधान अर्थात् जिस प्रकार सावधानीसे विधिपूर्वक कायआदि योगोंको सामायिकके समयमें लगाना चाहिये उस प्रकार न लगाना यही काय, वाग् तथा मनोरूप योगोंके **दुष्प्रणिधान** हैं अर्थात् काययोग दुष्प्रणिधान १ वाग्योग दुष्प्रणिधान २ मनोयोग दुष्प्रणिधान ३ हैं तथा अनादर, सामायिकको आदरसे न करना, किन्तु वेगारसी टाल देना यही **अनादर** अतिचार है। ४। और पूर्णरूपसे सामायिककी विधि कैसे करनी चाहिये तथा किसका ध्यान, किस आसन वा किस विधिसे इत्यादि विषयोंकी स्मृति (स्मरण) न रहना अथवा सामायिक करना ही भूलजाना यह **स्मृत्यनुपस्थाननामा** पञ्चम अतिचार है। ५। तीन योगोंका दुष्प्रणिधान- चतुर्थ (चौथा) अनादर, और पञ्चम स्मृत्यनुपस्थान ये पांचो सामायिक व्रतके अतीचार अर्थात् व्यतिक्रम जानने चाहिये॥ २८॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि॥ २९॥

सूत्रार्थ—अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित स्थलमें उत्सर्ग १ अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित पदार्थका आदान तथा निक्षेप, २ अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तारोपक्रम ३ अनादर ४ तथा स्मृत्यनुपस्थान, ५ ये पांच **पौषधोपवासव्रतके** अतिचार हैं॥ २९॥

भाष्यम्—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते उत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यादाननिक्षेपौ अप्र-

त्यवेक्षिताप्रमार्जितः संस्तारोपक्रमः अनादरः स्मृत्यनुपस्थानमित्येते पञ्च पौषधोपवासस्यातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित, अर्थात् विना पूर्णरूपसे देखे और विना स्वच्छ (साफ)किए हुए स्थानमें मलमूत्रादिका करना १ यह अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित स्थलमे **उत्सर्गनामा** अतिचार है, ऐसे ही अप्रत्यवेक्षित अर्थात् विना अच्छी रीतिसे देखे, और अप्रमार्जित अर्थात् विना शुद्ध किये हुए किसी पदार्थको ग्रहण करना अथवा कहीं स्थापित करना वा फेंक देना; यह **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपनामा** द्वितीय अतिचार है २ तथा विना देखे और विना शुद्ध किये विस्तरआदिपर गमन शयन, आसनादिक करना यह तृतीय **अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित–संस्तारोपक्रमनामा** अतिचार है ३ **अनादर** पौषधोपवासमें कर्तव्य अनुष्ठानमें आदरका अभाव यह चतुर्थ अतिचार है । ४ । और पौषधोपवासमें कर्तव्य विधिकी विस्मृति होना, अथवा पौषधमे उपवास ही भूलजाना यह पौषधोपवासका पञ्चम अतिचार है । ५ । इस प्रकार पौषधोपवासके पांच अतिचार हैं ॥ २९ ॥

सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पकाहाराः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—सचित्ताहार १ सचित्तसंबद्धाहार २ सचित्तसंमिश्राहार ३ अभिषवाहार, ४ और दुष्पकाहार, ५ ये पांचों प्रकारके आहार उपभोगव्रतके अतिचार है ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सचित्ताहारः सचित्तसंबद्धाहारः सचित्तसंमिश्राहारः अभिषवाहारः दुष्पकाहार इत्येते पञ्चोपभोगव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—सचित्त अर्थात् चित्तसहित वस्तुका भोजन करना यह **सचित्ताहार** है । १ । तथा चित्तसे संबद्ध (संबन्ध रखनेवाली)वस्तुका आहार **सचित्तसंबद्धाहार** है । २ । चित्तसहित जो पदार्थ है, उससे मिलित पदार्थोंका आहार **सचित्तसंमिश्राहार** है । ३ । अभिषव अर्थात् पुष्ट अथवा रससंयुक्त आहार यह **अभिषवाहार** है । ४ । और (अच्छी तरह न पकाये हुए)पदार्थका जो आहार है वह **दुष्पकाहार** उपभोगव्रतका अतीचार है । ५ । ऐसे पांच अतीचार है ॥ ३० ॥

सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थः—सचित्तनिक्षेप १ सचित्तपिधान २ परव्यपदेश ३ मात्सर्य ४ तथा कालातिक्रम ५ ये पांच **अतिथिसंविभागव्रतके** अतिचार हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अन्नादेर्द्रव्यजातस्य सचित्ते निक्षेपः सचित्तपिधानं परस्येदमिति परव्यपदेशमात्सर्य कालातिक्रम इत्येते पञ्चातिथिसंविभागस्यातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—अन्नआदि जो द्रव्यसमूह है उसको किसी सचित्त वस्तुपर रखदेना यह **सचित्तनिक्षेप** है । १ । अन्नआदि पदार्थको सचित्त वस्तुसे ढकदेना, यह **सचित्तपि-**

धान है । २ । यह पदार्थ पराया अर्थात् अन्य मनुष्यका है, यह **परव्यपदेश** है । ३ । मात्सर्य अर्थात् अन्य देहीके गुण आदिसे ईर्ष्या करना यह **मात्सर्यनामा** चौथा अतीचार है । ४ । तथा दानआदिके समयका उल्लघंन करना यह **कालातिक्रमनामा** अतिथिसंविभागव्रतका पञ्चम अतिचार है । ५ ॥ ३१ ॥

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—जीवितानुशंसा १ मरणानुशंसा २ मित्रानुराग ३ सुखानुबन्ध ४ तथा निदानकरण ५ ये पांच **मारणान्तिकी संलेखनाके** अतिचार हैं ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—जीविताशंसा मरणाशंसा मित्रानुरागः सुखानुबन्धो निदानकरणमित्येते मारणान्तिकसंलेखनायाः पञ्चातिचारा भवन्ति ॥

विशेषव्याख्या—जीवनकी आशंसा (अभिलाषा) यह जीवितानुशंसा १ तथा मृत्युकी आशंसा यह मरणानुशंसा २ मित्रोंमे प्रीति यह मित्रानुराग ३ है । सुखका सम्बन्ध रखना अथवा सुखका स्मरण करना यह सुखाऽनुबन्ध ४ है । आगामी विषयभोगोंकी आकांक्षा करना निदानकरण ५ पञ्चम अतिचार है ॥

तदेतेषु सम्यक्त्वव्रतशीलव्यतिक्रमस्थानेषु पञ्चषष्टिष्वतिचारस्थानेषु अप्रमादो न्याय इति।

इन अतिचारोंसे व्रत तथा शीलोंकी पूर्णता नहीं होती, इस हेतुसे सम्यक्त्व व्रत तथा शीलके व्यतिक्रम स्थान जो पूर्वकथित पैंसठ (६५) अतिचार स्थान हैं उनमे अप्रमाद करना चाहिये । अर्थात् प्रमादसे ये अतिचार न होने देने चाहिये ॥ ३२ ॥

अत्राह । उक्तानि व्रतानि व्रतिनश्च । अथ दानं किमिति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि व्रत तथा व्रतियोंका निरूपण किया । अब दान क्या है? इसके लिये यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—अनुग्रहार्थ अपनी वस्तुका त्याग करना दान कहलाता है ।

आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानवस्त्रादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम् ।

विशेषव्याख्या—अपने तथा अन्यके ऊपर अनुग्रह (अनुकम्पा)के अर्थ जो निजद्रव्यसमूह, अन्नपान, तथा वस्त्रआदि पदार्थोंका पात्रोंमें त्याग है उसको दान कहते हैं ३३

किं च—

और इसके विषयमें यह विशेषता भी कही है—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—विधि, द्रव्य, दाता, तथा पात्र, इनके विशेषसे दोनोंकी विशेषता होती है ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृविशेषात्पात्रविशेषाच्च तस्य दानधर्मस्य वि-

शेषो भवति। तद्विशेषाच्च फलविशेषः॥ तत्र विधिविशेषो नाम देशकालसंपच्छ्रद्धासत्कारक्रमाः कल्पनीयत्वमित्येवमादिः॥ द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कर्षयोगः॥ दातृविशेषः प्रतिग्रहीतर्यनसूया, त्यागेऽविषादः अपरिभाविता, दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसंधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपधत्वमनिदानत्वमिति॥ पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंपन्नता इति॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः॥

विशेषव्याख्या—विधिके विशेषसे, द्रव्य अर्थात् दातव्य पदार्थके विशेषसें, दाता (देनेवाले)के विशेषसे, और पात्र अर्थात् जिसको दान दिया जाता है उसके विशेष (वैलक्षण्य)होनेसे दान धर्ममें भी विशेष (वैलक्षण्य व भेद) होता है। उन विशेषोंमेंसे देश, काल, संपत् अर्थात् उत्तम देश, काल, सम्पत्ति, श्रद्धा, तथा सत्कारके क्रम इन सब विशेष रूपोंसे कल्पना करना यह **विधिविशेष** है। और **द्रव्यविशेष** क्या है कि अन्न आदि जो देय पदार्थ है उनमे सारजातीय (उत्तमजातीय)गुणके उत्कर्षका सम्बन्ध करना। अर्थात् उत्तम जाति तथा उत्तम गुणसंयुक्त वस्तु देना; यह **द्रव्यविशेष** है। दाताकी विशेपता यह है कि दाताकी ग्रहणकर्ता पुरुषमें असूया (गुणोंमें दोषदृष्टि वा स्पर्धा) न हो। तथा त्याग (दान देने)में विषाद (शोक)न हो अनादर न हो, अर्थात् आदरपूर्वक दान दे देनेकी इच्छा करते हुए, तथा दे चुकनेपर भी प्रीतियोग हो; दान देनेमें कुशल (कल्याणमय)अभिप्राय हो; किसी दृष्ट फलकी आकांक्षा न हो, उपधा (उपाधि)विशेषसे वर्जित हो; तथा निदानरहित हो, यह सब दातृ (दाता)के विशेष है। और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तपसे सम्पन्न होना; यह पात्र (दानके योग्य पुरुष)की विशेषता है। इस प्रकार विधि आदिकी विशेषतासे दानमें विशेपता होती है॥ ३४॥

इत्याचार्योपाधिधारि-ठाकुरप्रसादद्विवेदिप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृते
तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः।

उक्त आस्रवः बन्धं वक्ष्यामः। तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते।

आस्रवका निरूपण कर चुके। अब इसके अनन्तर बन्धका व्याख्यान करेंगे। उस बन्धकी सिद्धिके अर्थ यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः॥ १॥

सूत्रार्थ—मिथ्यादर्शन १ अविरति २ प्रमाद ३ कषाय ४ और योग ५ ये पांचों बन्धके हेतु हैं॥ १॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शनं अविरतिः प्रमादः कषाया योगा इत्येते पञ्च बन्धहेतवो भवन्ति। तत्र सम्यग्दर्शनाद्विपरीतं मिथ्यादर्शनम्। तद् द्विविधमभिगृहीतमनभिगृहीतं च। तत्राभ्युपेत्यासम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीनां त्रयाणां त्रिषष्ठानां कुवादिशतानाम्। शेषमनभिगृहीतम्॥ यथोक्ताया विरतेर्विपरीताविरतिः॥ प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधानं चैष प्रमादः॥ कषाया मोहनीये वक्ष्यन्ते योगस्त्रिविधः पूर्वोक्तः॥ एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषां भावः। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियम इति॥

विशेषव्याख्या—मिथ्यादर्शन आदि बन्धके हेतु हैं, उनमें सम्यग्दर्शनसे जो विपरीत अर्थात् विरुद्ध है वह मिथ्यादर्शन है। वह मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—एक अभिगृहीत और दूसरा अनभिगृहीत। उनमें अज्ञानिकादि तीन तथा तीनसौ साठ असम्यग्दर्शनपूर्वक स्वीकार (जो दूसरेके उपदेश आदिसे स्वीकृत) होते हैं वह अभिगृहीत और शेष (अनादिकालका) अनभिगृहीत है। हिंसादिसे जो पूर्वविरति कही है उससे विपरीत अविरति है। तथा स्मृति (स्मरण)की अनवस्थिति, अर्थात् स्मृतिका नाश वा अभाव, कुशल कृत्योंमें अनादर तथा योगोंका दुष्प्रणिधान, ये सब प्रमाद हैं। कषाय मोहनीय कर्मोंमें कहेंगे (अ. ८ सू. १०), और योग, काय-वाग् तथा मनोरूप तीन प्रकारका पूर्वप्रकरणमें कह चुके हैं। ये जो मिथ्यादर्शन आदि पांच प्रकारके बन्धके हेतु कहे हैं इनमें पूर्व २के होनेपर परकी स्थिति अवश्य होती है, जैसे—मिथ्यादर्शनके होनेपर अविरतिकी सत्ता अवश्य होती है, अविरतिके होनेपर प्रमादकी सत्ता अवश्य होती है; ऐसा ही आगे भी जानो। उत्तर उत्तर (आगेर)के होनेपर पूर्व२के बन्धके हेतुओंकी स्थितिका नियम नहीं है कि—अवश्य हो। जैसे अविरतिकी सत्तामें यह नियम नहीं है कि—मिथ्यादर्शन अवश्य हो, अर्थात् अविरतिकी सत्तामें मिथ्यादर्शन हो भी सकता है और नहीं भी॥ १॥

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—कषायसहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते। कर्मयोग्यानिति अष्टविधे पुद्गलग्रहणकर्मशरीरग्रहणयोग्यानित्यर्थः। नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषादिति वक्ष्यते॥

विशेषव्याख्या—कषायसहित होनेके कारण जीव कर्मयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। इसका यह अभिप्राय है कि—अष्टविध पुद्गलग्रहणकर्म शरीर है उसके ग्रहणयोग्य अर्थात् जिसमें अष्टविध कर्मोंके शरीरका ग्रहण है उस कर्मशरीर निर्माणयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। क्यों कि नामप्रत्यय कहिये कारण जिसको सबमें योगविशेषसे सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाहमें स्थित सब आत्माके प्रदेशोंमें अनन्तानन्त प्रदेश हैं; ऐसा कहेंगे। (अ. ८ सू. २५) ॥२॥

स बन्धः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स एष कर्मशरीरपुद्गलग्रहणकृतो बन्धो भवति।

सूत्रार्थ—वि०व्याख्या—वही यह कर्म शरीरार्थ जो पुद्गलका ग्रहण तत्कृत बन्ध होता है । तात्पर्य यह कि–कर्मोके शरीरार्थ जो जीव पुद्गलोंको ग्रहण करता है वही बन्ध है ॥ ३ ॥

स पुनश्चतुर्विधः ।

वह बन्ध वक्ष्यमाण भेदोंसे चार प्रकारका है जैसे—

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश यह चार उस बन्धके प्रकार हैं ।

भाष्यम्—प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः अनुभावबन्धः प्रदेशबन्धः इति । तत्र—

विशेषव्याख्या—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभावबन्ध तथा प्रदेशबन्ध, ये चार बन्ध है । जैसे—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ॥५

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्प्रकृतिबन्धमाह । सोऽष्टविधः । तद्यथा । ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयं आयुष्कं नाम गोत्रं अन्तरायमिति । किं चान्यत्—

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—इस पूर्वोक्त चतुर्थ सूत्रके क्रमके प्रमाणसे आद्य अर्थात् प्रथम जो प्रकृति–बन्ध है उसको कहते है । उसके आठ भेद है । जैसे—ज्ञानावरण १, दर्शनावरण २, वेदनीय ३, मोहनीय ४, आयुष्क ५, नाम ६, गोत्र ७, और अन्तराय ८, ये आठ प्रकृतिबन्ध हैं । और यह भी विशेष है ॥ ५ ॥

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—स एष प्रकृतिबन्धोऽष्टविधोऽपि पुनरेकशः पञ्चभेदः नवभेदः द्विभेदः अष्टाविंशतिभेदः चतुर्भेदः द्विचत्वारिंशद्भेदः द्विभेदः पञ्चभेद इति यथाक्रमं प्रत्येतव्यम् । त उत्तरं यद्वक्ष्यामः । तद्यथा—

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—जो यह प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका वर्णन किया गया है उन आठों भेदोंमें भी प्रत्येकके ये भेद है । जैसे—ज्ञानावरणके पांच (५) भेद, दर्शनावरणके नौ (९) भेद, वेदनीयके दो (२)भेद, मोहनीयके अष्टाविंशति अर्थात् अट्ठाईस (२८)भेद, आयुष्कके चार (४)भेद, नामके बयालीस (४२)भेद, गोत्रके दो (२)भेद, और अन्तरायके पांच (५)भेद है, इस प्रकार यथाक्रमसे जानना चाहिये ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् जिन प्रकृतिभेदोंको आगे कहेंगे उनको ऐसे जानना. जैसे—

मत्यादीनाम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणं पञ्चविधं भवति । मत्यादीनां ज्ञानानामावरणानि पञ्च विकल्पांश्चैकश इति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—ज्ञानावरण जो प्रकृतिबन्धका प्रथम भेद है वह पांच

प्रकारका होता है। मतिश्रुतादि जो ज्ञान हैं उनके भेदसे पांच प्रकारका ज्ञानावरण होता है। जैसे—मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २ अवधिज्ञानावरण ३ मनःपर्यायज्ञानावरण ४ तथा केवलज्ञानावरण ५ इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानके साथ आवरणके विकल्प (भेद)समझने चाहिये ॥ ७ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—चक्षुरादि नवभेद दर्शनावरणके हैं।

भाष्यम्—चक्षुर्दर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं निद्रावेदनीयं निद्रानिद्रावेदनीयं प्रचलावेदनीयं प्रचलाप्रचलावेदनीयं स्त्यानगृद्धिवेदनीयमिति दर्शनावरणं नवभेदं भवति।

विशेषव्याख्या—चक्षुर्दर्शनावरण १, अचक्षुर्दर्शनावरण २, अवधिदर्शनावरण ३, केवलदर्शनावरण ४, निद्रावेदनीय ५, निद्रानिद्रावेदनीय ६, प्रचलावेदनीय ७, प्रचलाप्रचलावेदनीय ८, स्त्यानगृद्धिवेदनीय ९, ये नौ (९) भेद दर्शनावरणके हैं ॥ ८ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—वेदनीय आवरणके सत् असत् दो भेद हैं।

सद्वेद्यं असद्वेद्यं च वेदनीयं द्विभेदं भवति।

सूत्रार्थ—सद्वेद्य १ तथा असद्वेद्य २ इन भेदोंसे वेदनीय दो भेदसहित है ॥ ९ ॥

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥ १० ॥

भाष्यम्—त्रिद्विषोडशनवभेदा यथाक्रमम्। मोहनीयवन्धो द्विविधो दर्शनमोहनीयाख्यश्चारित्रमोहनीयाख्यश्च। तत्र दर्शनमोहनीयाख्यस्त्रिभेदः। तद्यथा। मिथ्यात्ववेदनीयं सम्यक्त्ववेदनीयं सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयमिति। चारित्रमोहनीयाख्यो द्विभेदः कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीयं चेति। तत्र कषायवेदनीयाख्यः षोडशभेदः। तद्यथा। अनन्तानुवन्धी क्रोधो मानो माया लोभ एवमप्रत्याख्यानकषायः प्रत्याख्यानावरणकषायः संज्वलनकषाय इत्येकशः क्रोधमानमायालोभाः षोडश भेदाः॥ नोकषायवेदनीयं नवभेदम्। तद्यथा। हास्यं रतिः अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा पुरुषवेदः स्त्रीवेदः नपुंसकवेद इति नोकषायवेदनीयं नवप्रकारम्। तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्टकरीषाग्नयो निदर्शनानि भवन्ति। इत्येवं मोहनीयमष्टाविंशतिभेदं भवति॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—तीन, दो, षोडश (सोलह) तथा नव भेद यथाक्रमसे

दर्शनमोहनीय आदिके हैं। प्रथम मोहनीयबन्ध दो प्रकारका है; एक (१)दर्शनमोहनीय और दूसरा (२) चारित्रमोहनीय। अब उनमें प्रथम दर्शनमोहनीय नामक जो बन्ध है उसके तीन (३) भेद है। जैसे—मिथ्यात्ववेदनीय १, सम्यक्त्ववेदनीय २, तथा सम्यग्मिथ्यात्व–एतदुभयवेदनीय ३ और चारित्रमोहनीयके दो (२)भेद है, एक (१)कषायवेदनीय १ और दूसरा नोकषायवेदनीय २। उनमे भी कषायवेदनीयके षोडश अर्थात् सोलह (१६)भेद है। जैसे—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, तथा लोभ, अर्थात् अनन्तानुबन्धीक्रोधकषाय, अनन्तानुबन्धीमानकषाय, अनन्तानुबन्धी मायाकषाय, तथा अनन्तानुबन्धी लोभकषाय। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानकपाय, प्रत्याख्यानावरणकषाय, तथा संज्वलनकषाय है। तात्पर्य यह कि–जैसे—अनन्तानुबन्धीकी क्रोधआदि प्रत्येकके साथ योजना हुई है ऐसे ही अप्रत्याख्यान आदिकी भी होती है। जैसे–अप्रत्याख्यानक्रोधकषाय, अप्रत्याख्यानमानकषाय, अप्रत्याख्यानमायाकषाय, तथा अप्रत्याख्यानलोभकषाय। इसी रीतिसे प्रत्याख्यानावरण, तथा संज्वलनकी प्रत्येकके साथ योजना करनेसे क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये सोलह प्रकारके होजाते हैं। नोकषायवेदनीयके नौ (९)भेद हैं। जैसे—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, और नपुंसकवेद। उनमें पुरुषवेदादिके तृण, काष्ठ, तथा करीषकी अग्निके निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त क्रमसे होसकते है। इस प्रकार मोहनीयप्रकृतिके अठ्ठाईस (२८) भेद हुए; अर्थात् तीन ३ दर्शनमोहनीयके, चारित्रमोहनीयमेंके कषायके १६, नोकपायके ९. इनमेंसे तीन वेदके निकालनेसे अठ्ठाइस होते है।

अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति। प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति। संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति॥

अब इनमें अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनका उपघाती होता है। उस अनन्तानुबन्धी कषायके उत्पन्न होनेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न ही नही होता, और यदि अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके पूर्व सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगया हो तो उसके उदयके पश्चात् वह सम्यग्दर्शन विनष्ट होजाता है। अर्थात् पूर्वकालमें उत्पन्न भी सम्यग्दर्शनका इस कषायके उदय होनेसे प्रतिपात (नाश)हो जाता है। अप्रत्याख्यानकषायके उदयसे विरति (हिंसादिसे विरति) नही होती। और प्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे विरताविरति तो होती है परंतु उत्तम चारित्रका लाभ नहीं होता।

क्रोधः कोपो रोषो द्वेषो भण्डनं भाम इत्यनर्थान्तरम्। तस्यास्य क्रोधस्य तीव्रमध्यविमध्यमन्दभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा। पर्वतराजिसदृशः भूमिराजिसदृशः वालुकाराजिसदृशः उदकराजिसदृश इति। तत्र पर्वतराजिसदृशो नाम। यथा प्रयोगविस्रसामिश्रकाणामन्यतमेन हेतुना पर्वतराजिरुत्पन्ना नैव कदाचिदपि संरोहति एवमिष्टवियोजना-

निष्टयोजनाभिलषितालाभादीनामन्यतमेन हेतुना यस्योत्पन्नः क्रोध आमरणान्न व्ययं गच्छति जात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयस्तीव्रानुशयोऽप्रत्यवमर्शश्च भवति स पर्वतराजिसदृशः। तादृशं क्रोधमनुमृता नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति ॥ भूमिराजिसदृशो नाम । यथा भूमेर्भास्कररश्मिजालात्तस्नेहाया वाय्वभिहताया राजिरुत्पन्ना वर्षापेक्षसंरोहा परमप्रकृष्टाष्टमासस्थितिर्भवति एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽनेकविधस्थानीयो दुरनुनयो भवति स भूमिराजिसदृशः। तादृशं क्रोधमनुमृतास्तिर्यग्योनावुपपत्तिं प्राप्नुवन्ति ॥ वालुकाराजिसदृशो नाम। यथा वालुकायां काष्ठशलाकाशर्करादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरुत्पन्ना वाय्वीरणाद्यपेक्षसंरोहार्वाग्मासस्य रोहति एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य क्रोधोऽहोरात्रं पक्षं मासं चातुर्मास्यं संवत्सरं वावतिष्ठते स वालुकाराजिसदृशो नाम क्रोधः। तादृशं क्रोधमनुमृता मनुष्येषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति ॥ उदकराजिसदृशो नाम । यथोदके दण्डशलाकाङ्गुल्यादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरुत्पन्ना द्रवत्वादपामुत्पत्त्यनन्तरमेव संरोहति एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधो विदुषोऽप्रमत्तस्य प्रत्यवमर्शेनोत्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगच्छति स उदकराजिसदृशः। तादृशं क्रोधमनुमृता देवेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति। येषां त्वेष चतुर्विधोऽपि न भवति ते निर्वाणं प्राप्नुवन्ति।

क्रोध, कोप, रोष, द्वेष, भण्डन तथा भाम ये सब एकार्थवाचक शब्द है। इन अनेक पर्यायोंसे वाच्य कषायसंज्ञक क्रोधके तीव्र, मध्यम, विमध्यम, तथा मन्दभावके आश्रित ये दृष्टान्त होते है। जैसे—पर्वतराजिसदृश अर्थात् पर्वतके ऊपर रेखाके समान, भूमिराजि (भूमिके ऊपर रेखा)के समान, वालुकाराजिसमान, तथा जलराजिसमान। ये चार (४) दृष्टान्त है। इनमेंसे 'पर्वतराजि'का यह तात्पर्य है कि—जैसे पुरुषके प्रयोगसे अर्थात् लोहेकी टांकी आदिके द्वारा, वा स्वयं किसी प्रकारसे, अथवा पुरुषके यत्न इन तीन हेतुओंमेंसे किसी एक हेतुसे यदि पर्वतकी शिलापर रेखा उत्पन्न होगई हो तो वह कदापि नहीं नष्ट होती। ऐसे ही इष्टके वियोग, अनिष्टके संयोग, तथा अभिलषित पदार्थके लाभ न होनेसे, इन तीन हेतुओंमेसे किसी एक हेतुसे जिस पुरुषके क्रोध उत्पन्न हुआ वह यदि मरणपर्यन्त नष्ट न हो, किन्तु जन्मान्तरमे भी वह उस प्राणीके साथ ही जाय, किसी प्रकारसे शान्त न हो, न दूर कियाजाय, तीव्र आशय संयुक्त, और क्षमाके अयोग्य हो वह क्रोध पर्वतराजि (रेखा)के सदृश है। इस क्रोधके पश्चात् जो जीव मृत्युको प्राप्त होते है वे नरकोंमे जन्म पाते है। तथा भूमिराजिसदृश, सूर्यके किरणोंसे आर्द्रता (गीलापन)सहित, तथा वायुसे ताडित होनेसे भूमिपर यदि रेखा उत्पन्न होगई तो वह रेखा प्रायः वर्षा कालतक रहेगी। इस हेतुसे अधिकसे भी अधिक आठ मास पर्यन्त उसकी स्थिति रहेगी। ऐसे ही जिसका क्रोध पूर्वोक्त किसी हेतुसे उत्पन्न हुआ और वह अनेक प्रकारसे स्थित होने योग्य है, अर्थात् कई वर्ष रहे, अथवा दो चार वर्ष रहे, वा एक ही वर्ष रहे, और दुःखसे दूर करने योग्य हो, वह क्रोध भूमिरेखाके समान है। और इस प्रकारके क्रोधके अनन्तर मृत्युको प्राप्त जो जीव है वे तिर्यग्योनियोंमे

उत्पन्न होते हैं। वालुकाराजिसदृश, जैसे बालूमे काष्ठ, लोहादिकी शलाका वा कंकरआदि हेतुओंमेंसे किसी भी कारणसे राजि (रेखा) उत्पन्न होगई हो तो वह पवन आदिके झकोरोंसे वा अन्य हेतुओंसे एक मासके पूर्व ही नष्ट होजाती है। ऐसे ही पूर्वकथित इष्ट-वियोग आदि किसी हेतुसे यदि किसीके क्रोध उत्पन्न होगया तो वह क्रोध रात्रि, दिन पक्ष, मास, चतुर्मास वा अधिकसे अधिक एक वर्ष स्थित रहे तो वह क्रोध वालुका-रेखाके समान है। इस प्रकारके क्रोधके उत्पन्न होनेके अनन्तर मरणको प्राप्त प्राणी मनुष्योंमें उत्पन्न होते है। उदकराजिके सदृश, जैसे जलमें दण्ड, शलाका तथा अङ्गुली आदि हेतुओंमेंसे किसी एक हेतुके द्वारा यदि रेखा उत्पन्न हो तो वह उस (जल)के द्रवीभूत होनेसे उत्पत्तिके अनन्तर ही मिट जाती है। इसी रीतिसे पूर्वनिमित्तोंसे जिस अप्रमत्त विद्वान्‌को क्रोध उत्पन्न हुआ और वह विचार तथा क्षमा करनेसे उत्पत्तिके अनन्तर ही नाशको भी प्राप्त होजाता है तो वह क्रोध उदकराजि (जलरेखा) के समान है। इस प्रकारके क्रोध होनेके अनन्तर जो मृत्युको प्राप्त हुए वे देवताओंमें उत्पन्न होते है। और जिनको इन पूर्वकथित चारों प्रकारके क्रोधोंमे कोई भी क्रोध नहीं उत्पन्न होता वे तो निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होते है।

मानः स्तम्भो गर्व उत्सेकोऽहंकारो दर्पो मदः स्मय इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य मानस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा। शैलस्तम्भसदृश अस्थिस्तम्भसदृशः दारुस्तम्भसदृशः लतास्तम्भसदृश इति। एषामुपसंहारो निगमनं च क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्यातम् ॥

मान, स्तम्भ, गर्व, उत्सेक, अहङ्कार, दर्प, मद, तथा स्मय; ये सब शब्द भी एकार्थवाचक हैं। इन अनेक पर्यायोंसे वाच्य मानके भी तीव्र, मध्यम, तथा मन्दभावोंके आश्रित चार दृष्टान्त होते है। जैसे—**शैलस्तम्भसदृश** (पाषाण वा पर्वतोंके खम्भेके समान) **अस्थिस्तम्भसदृश** (हाड़के खम्भेके तुल्य) **दारुस्तम्भसदृश** (काष्ठके खम्भेके तुल्य) और **लतास्तम्भसदृश** (बेलोंके खंभेके तुल्य) इन चार प्रकारके मानोंके उपसंहार (संग्रह तथा समाप्ति) और निगमन (दृष्टान्तद्वारा उनकी सिद्धी) क्रोधोंके ही दृष्टान्तोंसे व्याख्यात समझलेनी उचित है।

माया प्रणिधिरुपधिर्निकृतिरावरणं वञ्चना दम्भः कूटमतिसन्धानमनार्जवमित्यनर्थान्तरम् । तस्या मायायास्तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा । वंशकुणसदृशी मेषविषाणसदृशी गोमूत्रिकासदृशी निर्लेखनसदृशीति । अत्राप्युपसंहारनिगमने क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्याते ॥

ऐसे ही माया, प्रणिधि, उपधि, निकृति, आवरण, वञ्चना, दम्भ, कूट, अतिसन्धान, तथा अनार्जव; ये सब शब्द भी एक ही अर्थके बोधक हैं। इस प्रकार अनेक पर्यायोंसे वाच्य इस मायाके भी तीव्र आदि भावोंके आश्रित दृष्टान्त होते है। जैसे—वंशकुण-

सदृशी माया, मेषविषाण (भेड़के सींग) सदृशी, तथा निर्लेखनसदृशी । इसके भी उपसंहार तथा दृष्टान्त क्रोधके दृष्टान्तोंसे व्याख्यात (वर्णित) समझलेने चाहिये ।

लोभो रागो गार्ध्यमिच्छा मूर्छा स्नेहः कांक्षाभिष्वङ्ग इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य लोभस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा लाक्षारागसदृशः कर्दमरागसदृशः कुसुम्भरागसदृशो हरिद्रारागसदृश इति । अत्राप्युपसंहारनिगमने क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्याते ॥

लोभ, गार्ध्य, इच्छा, मूर्छा, स्नेह, कांक्षा तथा अभिषङ्ग इत्यादि सब एकार्थवाचक शब्द हैं । इस प्रकार राग आदि पर्यायोंसे वाच्य इस लोभके भी तीव्र मध्यम आदि भावोंके आश्रित दृष्टान्त हैं । जैसे—**लाक्षारागसदृश** (लाख वा लाहके रंगके समान)—**कर्दम,** (कीचड़) **रागसदृश, कुसुम्भरागसदृश,** तथा **हरिद्रा** (हल्दी) **रागसदृश;** ये चार प्रकारके रंग लोभके दृष्टान्त हैं । इनके भी संग्रह नाशादिकी रीति क्रोधके दृष्टान्तोंसे व्याख्यात समझलेनी चाहिये ।

एषां क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां प्रत्यनीकभूताः प्रतिघातहेतवो भवन्ति । तद्यथा । क्षमा क्रोधस्य मार्दवं मानस्यार्जवं मायायाः संतोषो लोभस्येति ।

इन क्रोध आदि चार प्रकारके कषायोंके प्रतिपक्षभूत इनके नाशक हेतु ये होते हैं । जैसे—क्षमा क्रोध कषायके नाशमें हेतु है, मार्दव (मृदुता वा नम्रता) मानकषायके नाशमें हेतु है, आर्जव (सरलस्वभाव वा कपटराहित्य व्यवहार) मायाका प्रतिपक्ष तथा उसके नाशमें हेतु है । और सन्तोष (यथाप्राप्त वस्तुमें तृप्ति) लोभका प्रतिपक्ष और उसके नाशमें कारण है । इस कारण क्रोधादि कषायोंके नाशार्थ क्षमा आदिका धारण अवश्य कर्तव्य है ॥ १० ॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—नारक, तैर्यग्योन, मानुष और दैव यह चार आयुषके भेद हैं ।

भाष्यम्—आयुष्कं चतुर्भेदं नारकं तैर्यग्योनं मानुषं दैवमिति ।

विशेषव्याख्या—अब पञ्चम उत्तरप्रकृति जो आयुष्क (आयुष्) है उसके नारक, तैर्यग्योन, मानुष और दैव इन भेदोंसे चार भेद हैं ॥ ११ ॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥ १२ ॥

भाष्यम्—गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम निर्माणनाम बन्धननाम संघातनाम संस्थाननाम संहनननाम स्पर्शनाम रसनाम गन्धनाम वर्णनाम आनुपूर्वीनाम अगुरुलघुनाम उपघातनाम पराघातनाम आतपनाम उद्योतनाम उच्छ्वासनाम विहा-

योगतिनाम । प्रत्येकशरीरादीनां सेतराणां नामानि । तद्यथा । प्रत्येकशरीरनाम साधारणशरीरनाम त्रसनाम स्थावरनाम सुभगनाम दुर्भगनाम सुस्वरनाम दुःस्वरनाम शुभनाम अशुभनाम सूक्ष्मनाम बादरनाम पर्याप्तनाम अपर्याप्तनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम आदेयनाम अनादेयनाम यशोनाम अयशोनाम तीर्थनाम तीर्थकरनाम इत्येतद्विचत्वारिंशद्विधं मूलभेदतो नामकर्म भवति । उत्तरनामानेकविधम् । तद्यथा । गतिनाम चतुर्विधं नरकगतिनाम तिर्यग्योनिगतिनाम मनुष्यगतिनाम ॥ जातिनाम्नो मूलभेदाः पञ्च । तद्यथा । एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनामेति ॥ एकेन्द्रियजातिनामानेकविधम् । तद्यथा । पृथिवीकायिकजातिनाम अप्कायिकजातिनाम तेजःकायिकजातिनाम वायुकायिकजातिनाम वनस्पतिकायिकजातिनामेति ॥ तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा । शुद्धपृथिवी–शर्करावालुकोपल–शिला–लवणायस्त्रपु–ताम्र-सीसक–रूप्य–सुवर्ण–वज्र–हरिताल–हिङ्गुलक–मनःशिला–सस्यकाञ्चन-प्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिका जातिनामादि गोमेदक-रुचकाङ्क-स्फटिकलोहिताक्ष—जलावभास–वैडूर्य–चन्द्रप्रभ–चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त-जलकान्त-मसारगल्लाश्मगर्भ-सौगन्धिक-पुलकारिष्ट-काञ्चनमणिजातिनामादि च ॥ अप्कायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा । उपक्लेदावश्याय-नीहार-हिम-घनोदक-शुद्धोदकजातिनामादि ॥ तेजःकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा । अङ्गार-ज्वाला–लातार्चिर्मुर्मुर–शुद्धाग्निजाटिनामादि ॥ वायुकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा । उत्कलिका–मण्डलिका—झञ्झकायन–संवर्तकजातिनामादि ॥ वनस्पतिकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा । कन्द–मूल–स्कन्ध–त्वक्–काष्ठपत्र–प्रवाल–पुष्प–फल–गुल्म–गुच्छ–लता–वल्ली–तृण–पर्वकायशेवाल–पनक–वलक–कुहन जातिनामादि ॥ एवं द्वीन्द्रियजातिनामानेकविधम् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामादीन्यपि ॥

सूत्रार्थ—अब इसके आगे नाम प्रकरणके ४२ भेदोंका वर्णन करते हैं। जैसे—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, बन्धननाम, संघातनाम, संस्थाननाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गन्धनाम, वर्णनाम, आनुपूर्वीनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगतिनाम (आकाशगतिनाम) और प्रत्येक शरीरादिके तथा उनके प्रतिपक्षोंके नाम; जैसे—प्रत्येक शरीरनाम, साधारणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम; दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, और अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, तथा तीर्थंकरनाम, इस प्रकार मूलभेदसे बयालीस (४२) भेद नाम कर्मके है। और उत्तरनाम तो अनेक प्रकारके है। जैसे—गतिनामके चार भेद है नरकगतिनाम, तिर्यग्योनिगतिनाम, मनुष्यगतिनाम, तथा देवगतिनाम, जातिनाम कर्मके मूल भेद पांच है। जैसे—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिंद्रियजातिनाम, तथा पञ्चेन्द्रियजातिनाम। अब एकेन्द्रिय (एक स्पर्शन इन्द्रियवाले) जातिनाम भी अनेक

प्रकारके हैं। जैसे—पृथिवीकायिकजातिनाम, अप्कायिकजातिनाम, तेजःकायिकजातिनाम, वायुकायिकजातिनाम, वनस्पतिकायिकजातिनाम, और इनमें भी पृथिवीकायिकजाति-नामके भी अनेक भेद हैं। जैसे—शुद्धपृथिवीजातिनाम, शर्करापृथिवीजातिनाम, वालुका-पृथिवीजातिनाम, उपलपृथिवीजातिनाम, शिलापृथिवीजातिनाम, लवणपृथिवीजातिनाम, अयस् (लोह) पृथिवीजातिनाम, त्रपु (रांगा) पृथिवीजातिनाम, ताम्रपृथिवीजातिनाम, सीसकपृथिवीजातिनाम, रूप्यपृथिवीजातिनाम, सुवर्णपृथिवीजातिनाम, वज्रपृथिवीजाति-नाम, हरितालपृथिवीजातिनाम, हिंगुलक (हींगलू वर्णका ऐसा रंग) जातिनाम, मनःशिला (उपधातुभेद) जातिनाम, ऐसे ही अन्य अनेकविध भांति, सस्यक, अञ्जन, प्रवाल, अभ्रवालिका पृथिवीजातिनाम आदि और भी समझलेने। तथा गोमेदक, रुचकाङ्क, स्फ-टिक, लोहिताक्ष, जलावभास (मौक्तिक), वैडूर्य, चन्द्रप्रभ, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, जल-कान्त, मसारगल्ल, अश्मगर्भ, सौगन्धिक, पुलकारिष्ट, तथा काञ्चन, इत्यादि भी पृथिवी-जातिनाम समझना चाहिये। अप्कायिकजातिनाम भी अनेक प्रकारका है। जैसे—उप-क्लेद अप्कायिकजातिनाम, अवश्याय (कुहिरा वा ओस) अप्कायिकजातिनाम, नीहार-जातिनाम, हिमजातिनाम, घनोदकजातिनाम, तथा शुद्धोदकजातिनाम, आदि अन्य भी अप्कायिकजातिनामके अवान्तर भेद समझलेने। तेजःकायिकजातिनाम भी अनेक प्रका-रका है। जैसे—अङ्गारतेजःकायिकजातिनाम, ज्वालातेजःकायिकजातिनाम, अलाततेजःका-यिकजातिनाम, अर्चिस्तेजःकायिकजातिनाम, मुर्मुरतेजःकायिकजातिनाम, तथा शुद्धाग्नि-तेजःकायिकजातिनाम आदि अन्य भी जानने चाहिये। वायुकायिकजातिनामके भी अवा-न्तर भेद अनेक हैं। जैसे—उत्कलिकावायुकायिकजातिनाम, मण्डलिकावायुकायिकजाति-नाम, झञ्झकायनवायुकायिकजातिनाम, तथा संवर्तकवायुकायिकजातिनाम आदि अन्य भी हैं। और ऐसे ही वनस्पतिकायिकजातिनाम कर्मके अवान्तर अनेक भेद हैं। जैसे—कन्दवनस्पतिकायिकजातिनाम, मूलवनस्पतिकायिकजातिनाम, स्कन्धवनस्पतिकायिकजाति-नाम, त्वग्वनस्पतिकायिकजातिनाम, ऐसे ही काष्ठ, पत्र, प्रवाल, पुष्प, फल, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, पर्व, कायशेवाल, पनक, वलक, तथा कुहनवनस्पतिकायिक-जातिनाम आदि अन्य भी समझलेने। इसी रीतिसे द्वीन्द्रियजातिनाम भी अनेक भेद सहित हैं। और इसी रीतिसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तथा पञ्चेन्द्रियजातिनाम भी अनेक अवान्तर-भेद-सहित है।

शरीरनाम पञ्चविधम्। तद्यथा। औदारिकशरीरनाम वैक्रियशरीरनाम आहारकशरीर-

---

1 यहांसे लेके पुलकारिष्ट काञ्चनपर्यन्त सबके आगे पृथिवीकायिकजातिनाम इतना जोड़के पढ़ना तथ समझना चाहिये, जैसे सस्य पृथिवीकायिकजातिनाम, काञ्चन पृथिवीकायिकजातिनाम, प्रवाल पृथिवीकायिक जातिनाम इत्यादि आगे भी ऐसे ही समझना।

नाम तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनामेति ॥ अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधम् । तद्यथा । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम । पुनरेकैकमनेकविधम् । तद्यथा । अङ्गनाम तावत् शिरोनाम उरोनाम पृष्ठनाम बाहुनाम उदरनाम पादनाम ॥ उपाङ्गनामानेकविधम् । तद्यथा । स्पर्शनाम रसनाम घ्राणनाम चक्षुर्नाम श्रोत्रनाम । तथा मस्तिष्ककपालकृकाटिकाशङ्खललाटतालुकपोलहनुचिबुकदशनौष्ठभ्रूनयनकर्णनासाद्युपाङ्गनामानि शिरसः । एवं सर्वेषामङ्गानामुपाङ्गानां नामानि ॥ जातिलिङ्गाकृतिव्यवस्थानियामकं निर्माणनाम ॥ सत्यां प्राप्तौ निर्मितानामपि शरीराणां बन्धकं बन्धननाम । अन्यथा हि वालुकापुरुषवदवद्धानि शरीराणि स्युरिति ॥ वद्धानामपि च संघातविशेषजनकं प्रचयविशेषात्संघातनाम दारुमृत्पिण्डायःसंघातवत् ॥ संस्थाननाम षड्विधम् । तद्यथा । समचतुरस्रनाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम साचिनाम कुब्जनाम वामननाम हुण्डनामेति ॥ संहनननाम षड्विधम् । तद्यथा । वज्रर्षभनाराचनाम अर्धवज्रर्षभनाराचनाम नाराचनाम अर्धनाराचनाम कीलिकानाम सृपाटिकानामेति ॥ स्पर्शनामाष्टविधं कठिननामादि ॥ रसनामानेकविधं तिक्तनामादि ॥ गन्धनामानेकविधं सुरभिगन्धनामादि ॥ वर्णनामानेकविधं कालकनामादि ॥ गतावुत्पत्तुकामस्यान्तर्गतौ वर्तमानस्य तदभिमुखमानुपूर्व्या तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वीनामेति । निर्माणनिर्मितानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनिवेशक्रमनियामकमानुपूर्वीनामेत्यपरे ॥ अगुरुलघुपरिणामनियामकमगुरुलघुनाम ॥ शरीराङ्गोपाङ्गोपघातकमुपघातनाम स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनकं वा ॥ परत्रासप्रतिघातादिजनकं पराघातनाम ॥ आतपसामर्थ्यजनकमातपनाम ॥ प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्योतनाम ॥ प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकमुच्छ्वासनाम ॥ लब्धिशिक्षर्द्धिप्रत्ययस्याकाशगमनस्य जनकं विहायोगतिनाम ॥

शरीरनाम कर्म पांच प्रकारका है । जैसे—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियकशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, तथा कार्मणशरीरनाम । अङ्गोपाङ्गनाम तीन प्रकारका है । जैसे—औदारिकअङ्गोपाङ्गनाम, वैक्रियशरीरअङ्गोपाङ्गनाम, और आहारकशरीरअङ्गोपाङ्गनाम, पुनः ये औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आदि एक २ अनेक प्रकारका है । जैसे—प्रथम अङ्गनाम कहते है—शिरोनाम, उरो (छाती) नाम, पृष्ठ (पीठ) नाम, बाहुनाम, उदरनाम तथा पादनाम, उपाङ्गनाम भी अनेक प्रकारका है । जैसे—स्पर्शनाम, रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, तथा श्रोत्रनाम । और मस्तिष्क, कपाल, कृकाटिका, शङ्ख, ललाट, तालु, कपोल, हनु, चिबुक (ठोड़ी), दशन (दांत), ओष्ठ, भ्रू (भौंह), नयन, कर्ण, नासा, आदि शिरके उपाङ्गनाम है । जैसे—मस्तिष्कनाम, कपालनाम, तथा ललाटनाम इत्यादि रूपसे समझना । इसी रीतिसे सम्पूर्ण अङ्ग तथा उपाङ्गोंके नाम जानने चाहिये ॥ जाति, लिङ्ग तथा आकृतिकी व्यवस्थानियामक निर्माणनाम । है उन २ शरीर, अङ्ग, उपाङ्गनाम कर्मकी प्राप्ति होनेपर निर्मित (रचित) शरीरोंका जो बन्धक (बांधनेवाला) है उसको **वन्धननाम** कहते है । और यदि बन्धननाम कर्म न हो तो बालूके पुरुषके समान सब शरीर अबद्ध अर्थात् बन्धनरहित हो जायँगे । तथा बद्धशरीरोंका भी प्रच-

यविशेषसे जो संघात (समूह) विशेषको उत्पन्न करनेवाला है उसको **संघातनाम** कर्म कहते हैं । जैसे कि—काष्ठमृत्तिपिण्ड, तथा लोहका संघात होता है, ऐसे ही शरीरोंका भी होता है । संस्थाननामके षट् (छ) भेद हैं । जैसे—समचतुरस्रनाम, न्यग्रोध (वटवृक्ष) परिमण्डलनाम, साचिनाम (तिर्यक्संस्थाननाम), कुब्जनाम, वामननाम, तथा हुण्डनाम, संहनननामके भी छ (६) भेद हैं । जैसे—वज्रर्षभनाराचनाम, अर्धवज्रर्षभनाराचनाम, नाराचनाम, अर्धनाराचनाम, कीलिकानाम, सृपाटिकानाम । स्पर्शनामके आठ भेद हैं । जैसे कठिननाम, मृदुनाम, उष्णनाम, शीतनाम, इत्यादि । रसनामके भी अनेक भेद हैं । जैसे—तिक्तनाम, मधुरनाम, कटुनाम, आम्रनाम, तथा कषायनाम आदि और भी हैं । गन्धनामके भी अनेक भेद हैं । जैसे सुरभिगन्धनाम तथा दुरभिमानगन्धनाम, इत्यादि । वर्णनाम अनेक भेदसहित हैं । जैसे—कालनाम, पीतनाम, तथा अरुणनाम आदि । गतिमें उत्पन्न होनेकी कामनायुक्त और अन्तर्गतिमें जो वर्तमान है उसके (उस गतिके) अभिमुख आनुपूर्वीसे जो उस जीवको प्राप्त करनेमें समर्थ है उसको आनुपूर्वी नाम कहते हैं । और निर्माण नामसे निर्मित (रचित) जो शरीरत्व था अङ्गोपाङ्ग है, उनके विनिवेशक्रम अर्थात् यथायोग्य स्थानमें संस्थापक क्रमको ही कोई २ नियामकको आनुपूर्वी नाम कहते हैं । अगुरुलघुपरिणामके नियामकको **अगुरुलघुनाम** कहते हैं । शरीर, अङ्ग तथा उपाङ्गोंके उपघातकको **उपघातकनाम** कहते हैं । अपने पराक्रम तथा विजय आदिके उपघातका जो जनक (उत्पन्न करनेवाला) अथवा परके त्रासके प्रतिघातका जो जनक है उसको **पराघातनाम** कहते हैं । आतपसामर्थ्य (शक्ति) का जो जनक (उत्पादक) है वह **आतपनाम** है, प्रकाशके सामर्थ्यका जो जनक है वह **उद्योतनाम** है । प्राण अपान पुद्गल ग्रहण करनेकी शक्तिका जो उत्पादक है वह **उच्छ्वासनाम** है । तथा लब्धि, शिक्षा, और ऋद्धि है कारण जिसका ऐसी जो आकाशगति है उस आकाशगतिका जो जनक है वह विहायोगतिनाम है ।

पृथक्शरीरनिर्वर्तकं प्रत्येकशरीरनाम । अनेकजीवसाधारणशरीरनिर्वर्तकं साधारणशरीरनाम । त्रसभावनिर्वर्तकं त्रसनाम । स्थावरभावनिर्वर्तकं स्थावरनाम । सौभाग्यनिर्वर्तकं सुभगनाम । दौर्भाग्यनिर्वर्तकं दुर्भगनाम । सौस्वर्यनिर्वर्तकं सुस्वरनाम । दौस्वर्यनिर्वर्तकं दुःस्वरनाम । शुभभावशोभामाङ्गल्यनिर्वर्तकं शुभनाम । तद्विपरीतनिर्वर्तकमशुभनाम । सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम । बादरशरीरनिर्वर्तकं बादरनाम ॥ पर्याप्तिः पञ्चविधा । तद्यथा । आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिरिति । पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिरात्मनः । शरीरेन्द्रियवाङ्मनःप्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः । गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः ।

१ आकारविशेषको संस्थान कहते हैं ।
शरीर तथा अवयवोंकी सन्धिविशेषको संहनन कहते हैं ।

संस्थापनं रचना घटनमित्यर्थः। त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। भाषायोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियासमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येके। आसां युगपदारब्धानामपि क्रमेण समाप्तिरुत्तरोत्तरसूक्ष्मत्वात् सूत्रदार्वादिकर्तनघटनवत्। यथासङ्ख्यं च निदर्शनानि गृहदलिकग्रहणस्तम्भस्थूणाद्वारप्रवेशनिर्गमस्थानशयनादिक्रियानिर्वर्तनानीति। पर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्तिनाम अपर्याप्तिनिर्वर्तकमपर्याप्तिनाम अपर्याप्तिनाम तत्परिणामयोग्यदलिकद्रव्यमात्मनानोपात्तमित्यर्थः॥ स्थिरत्वनिर्वर्तकं स्थिरनाम। विपरीतमस्थिरनाम। आदेयभावनिर्वर्तकमादेयनाम। विपरीतमनादेयनाम। यशोनिर्वर्तकं यशोनाम। विपरीतमयशोनाम। तीर्थकरत्वनिर्वर्तकं तीर्थकरनाम। तांस्तान्भावान्नामयतीति नाम। एवं सोत्तरभेदो नामकर्मभेदोऽनेकविधः प्रत्येतव्यः॥

पृथक् २ शरीरोंको जो उत्पन्न करनेवाला सामर्थ्यविशेष है, वह **प्रत्येक शरीरनाम** है। अनेक जीव साधारण शरीरका जो साधक है वह **साधारणशरीरनाम** है। त्रस (भय उद्वेगआदिसहित जीव) भावका जो साधक है वह **त्रसनाम** है। स्थावर भावका जो साधक वा उत्पादक है उसको **स्थावरनाम** कहते हैं। सौभाग्यका जो जनक है उसको **सुभगनाम** कहते हैं। दुर्भाग्यका जो सिद्ध करनेवाला है वह **दुर्भगनाम** है। उत्तम स्वरका जो निर्वर्तक (साधक) है वह **सुस्वरनाम** है। दुष्ट (खराब) स्वर (आवाज) का जो साधक है वह **दुःस्वरनाम** है। शुभ भाव, शोभा तथा माङ्गल्यका जो साधक है वह **शुभनाम** है। और उससे विपरीत अर्थात् अशुभ भाव, अशोभा तथा अमङ्गलका जो साधक है वह अशुभनाम है। सूक्ष्म शरीरका निर्वर्तक (जनक) **सूक्ष्मनाम** है। उससे विरुद्ध बादर (स्थूल) शरीरका जनक है वह **बादरनाम** है। पर्याप्ति पांच प्रकारकी है। जैसे—आहारपर्याप्ति (पूर्णता), शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, प्राणापानपर्याप्ति, तथा भाषापर्याप्ति। यहां पर्याप्ति शब्दका अर्थ आत्माकी क्रियाकी परिसमाप्ति अर्थात् पूर्णता है। इनमें शरीर, इन्द्रिय, वाग्, मन, तथा प्राण अपानके योग्य दलके जो द्रव्य है, अर्थात् जिन द्रव्योंसे शरीरआदि रचनाकी योग्यता होती है उन द्रव्योंके आहरण (आनयन) क्रियाकी जो समाप्ति है वह **आहारपर्याप्ति** है। और ग्रहण किये हुए द्रव्यकी शरीररूपसे संस्थापनक्रिया होती है उस क्रियाकी परिसमाप्ति, शरीरपर्याप्ति संस्थापनका अर्थ है। रचना अथवा घटना, अर्थात् शरीररूपसे रचना। त्वग (स्पर्शन) आदि इन्द्रियोंके निर्माण (रचना) रूप क्रियाकी परिसमाप्ति जो है वह इन्द्रियपर्याप्ति है। प्राण अपान (श्वास उच्छ्वास) क्रियाके योग्य द्रव्योंका ग्रहण तथा त्याग जो है उस ग्रहण तथा त्याग शक्तिको सिद्ध करनेवाली जो क्रिया है उसकी परिसमाप्ति जो है वह **प्राणापानपर्याप्ति** है। भाषाके योग्य जो द्रव्य है उस द्रव्यके ग्रहण

तथा त्यागशक्तिको सिद्ध करनेवाली जो क्रिया है उस क्रियाकी जो समाप्ति है वह **भाषापर्याप्ति** है। मनस्त्व (मन) के योग्य (मनोनिर्वाणके योग्य) जो द्रव्य है उस द्रव्यके ग्रहण तथा त्यागशक्तिको सिद्ध करनेवाली जो क्रियाकी समाप्ति है वह मनःपर्याप्ति है. ऐसा किन्ही आचार्योंका कथन है। यद्यपि ये सब पर्याप्तिक्रिया एकही कालमें आरम्भ की जाती है तथापि समाप्ति क्रमसे होती है। क्यों कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। जैसे सूत्र काष्ठ आदिके काटनेकी क्रिया एक कालमें भी प्रारब्ध होकर क्रमशः समष्टि होती है। इनके यथासंख्य ये दृष्टान्त है। जैसे—गृहदलके ग्रहणमें प्रथम स्तम्भ आदि आनयनक्रिया निर्वर्तन अनन्तर स्थूणा (कड़ियोंका रखना) पुनः द्वारप्रवेश, तथा निर्गमस्थान क्रियानिर्वर्तन, और पुनः शयनादिक्रियानिर्वर्तन, ये सब क्रमसे होते है, ऐसे ही शरीरादि पर्याप्तिभी हैं। पर्याप्तिका साधक जो है उसको पर्याप्तिनाम कहते है। **अपर्याप्तिका** जो साधक है वह **अपर्याप्तिनाम** है। अपर्याप्तिनामका यह अर्थ है कि उस परिणामके योग्य दलिक (उपयोगी दलके) द्रव्यको आत्माने नहीं ग्रहण किया। स्थिरत्वका जो उत्पादक है वह **स्थिरनाम** है। इसके विपरीत **अस्थिरनाम** है। आदेय (ग्रहणयोग्य) भावका जो साधक है वह **आदेयनाम** है। उसके विरुद्ध **अनादेयनाम** है। यथा यश (कीर्ति) का जो उत्पादक है वह **यशोनाम** है। उसके विपरीत अर्थात् अपयशका जो उत्पादक है वह **अयशोनाम** है। और जो तीर्थकरत्वको सिद्ध करनेवाला कर्म है वह **तीर्थकरनाम** है। उन २ भावोंको जो नाम करावे अर्थात् उन २ भावोंके प्राप्त करानेमें हेतुरूप जो है वह नाम है. इस प्रकार उत्तरभेदसहित नामकर्मभेद अनेक प्रकारका जानना चाहिये॥ १२॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

भाष्यम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च। तत्रोच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम्। विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबन्धदास्यादिनिर्वर्तकम्॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सप्तम प्रकृतिबन्ध गोत्रकर्म है। उस गोत्रके दो भेद हैं एक उच्चैर्गोत्र, और द्वितीय नीचैर्गोत्र। उनमें उच्चैर्गोत्र जो है वह देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार तथा ऐश्वर्यआदिकी प्रकर्षता (उच्चता)का साधक है। और उससे विपरीत जो है वह नीचैर्गोत्र चाण्डाल, नट, व्याध, मत्स्यबन्ध तथा दास्यआदि नीच भावोंको उत्पन्न करता है॥ १३॥

दानादीनाम् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—दानादिमें जो विघ्नका साधक है वह अन्तराय कर्म है॥ १४॥

भाष्यम्—अन्तरायः पञ्चविधः। तद्यथा। दानस्यान्तरायः लाभस्यान्तरायः भोगस्यान्तरायः उपभोगस्यान्तरायः वीर्यान्तराय इति॥

विशेषव्याख्या—अन्तराय पांच (५) प्रकारका है। जैसे—दानका अन्तराय,

अर्थात् जो दान देनेमें प्रतिबन्धक है, लाभान्तराय—अर्थात् जो लाभ होनेमें प्रतिबन्धक है वह लाभका अन्तराय है, भोगका जो प्रतिबन्धक है वह भोगका अन्तराय है; उपभोगका प्रतिबन्धक उपभोगान्तराय है; और जो वीर्यका अन्तराय है अर्थात् प्रतिबन्धक है वह वीर्यान्तराय है ॥ १४ ॥

उक्तः प्रकृतिबन्धः । स्थितिबन्धं वक्ष्यामः ।

प्रकृतिबन्ध कह चुके, अब इसके आगे स्थितिबन्ध कहेंगे—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—आदितस्तिसृणां कर्मप्रकृतीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेद्यानामन्तरायप्रकृतेश्च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—आदिसे अर्थात् **"आद्यो ज्ञानदर्शन०"** (अ. ८ सू. ५) इस सूत्रके आरम्भक्रमसे जो तीन कर्मप्रकृति ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय हैं, उनकी तथा अष्टम अन्तरायरूप कर्म प्रकृतिकी त्रिंशत् (तीस ३०) सागरोपम कोटिकोटि परा स्थिति है । अर्थात् अधिकसे अधिक ये चार कर्मप्रकृतियां जीवके साथ ३० सागरोपम कोटिकोटि रहसकती है ॥ १५ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

भाष्यम्—मोहनीयकर्मप्रकृतेः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥

सूत्रार्थ—मोहनीय जो कर्मप्रकृति है उसकी परा स्थिति सत्तर (७०) सागरोपम कोटिकोटि है ॥ १६ ॥

नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नामगोत्रप्रकृत्योर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—नाम तथा गोत्रप्रकृतिकी परा स्थिति बीस (२०) सागरोपम कोटिकोटि है ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥ १८ ॥

भाष्यम्—आयुष्कप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परा स्थितिः ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—आयुष्कप्रकृतिकी परा स्थिति तेतीस (३३) सागरोपम है ॥ १८ ॥

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

भाष्यम्—वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादश मुहूर्ताः स्थितिरिति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—वेदनीयप्रकृतिकी अपरा स्थिति अर्थात् न्यूनसे न्यून स्थिति द्वादश (बारह १२) मुहूर्त कालपर्यन्त है ॥ १९ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

भाष्यम्—नामगोत्रप्रकृत्योरष्टौ मुहूर्ता अपरा स्थितिर्भवति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—नाम तथा गोत्र, इन दोनों प्रकृतियोंकी अपरा (हीना) स्थिति आठ (८) मुहूर्त है ॥ २० ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—वेदनीयनामगोत्रप्रकृतिभ्यः शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयायुष्कान्तरायप्रकृतीनामपरा स्थितिरन्तर्मुहूर्त भवति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—पूर्वकथित प्रकृतियोंसे अर्थात् वेदनीय, नाम, तथा गोत्र, इन तीन प्रकृतियोंसे शेष जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयुष्क, तथा अन्तराय; इन पांच (५) प्रकृतियोंकी अपरा स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । अर्थात् ये पांच प्रकृतियां न्यूनसे न्यून काल अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त जीवके साथ रहती हैं ॥ २१ ॥

उक्तः स्थितिबन्धः । अनुभावबन्धं वक्ष्यामः ।

स्थितिबन्ध जो द्वितीय भेद है उसको कहचुके, अब अनुभावबन्ध कहेंगे ।

विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—कर्म्मोंके विपाकको अनुभावबन्ध कहते हैं ॥ २२ ॥

भाष्यम्—सर्वासां प्रकृतीनां फलं विपाकोदयोऽनुभावो भवति । विविधः पाको विपाकः स तथा चान्यथा चेत्यर्थः । जीवः कर्मविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेवानाभोगवीर्यपूर्वकं कर्मसंक्रमं करोति उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते बन्धविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वात् । उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च जात्यन्तरानुबन्धविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वादेव संक्रमो न विद्यते । अपवर्तनं तु सर्वासां प्रकृतीनां विद्यते । तदायुष्केण व्याख्यातम् ॥

विशेषव्याख्या—सम्पूर्ण जो कर्मप्रकृति है उनका जो फल है, अर्थात् कर्मोंके विपाकका जो उदय है उसको अनुभावबन्ध कहते हैं । विविध अर्थात् अनेक प्रकारसे जो पाक है वह विपाक कहा जाता है । वह विपाक उस प्रकारसेभी होता है, और अन्यथाभी होता है । अर्थात् कर्मोंके फलभोगपूर्वक होता है और प्रकारान्तरसे भी होता है । जीव जो है वह कर्मोंके विपाकको अनुभव करता हुआ कर्मनिमित्त ही अनाभोगवीर्यपूर्वक कर्मका संक्रम मूल प्रकृतियोंसे अभिन्न उत्तर प्रकृतियोंमें (प्रापण) करता है न कि मूलप्रकृतियोंमें संक्रम है; क्योंकि बन्धविपाकके निमित्तसे वे अन्य जातीयक हैं और उत्तर प्रकृतियोंमें भी दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय और आयुष्क प्रकृतियोंके जात्यन्तर अनुबन्ध (अन्यजातिमें भी सम्बन्ध रखनेवाले) विपाक

[illegible] "अनुभागबन्ध" ऐसा भी पाठ है ।

निमित्तसे अन्यजातीयकत्व होनेसे (अपनेसे भिन्न जातिमें सम्बन्ध रखनेसे) इनमें संक्रम नहीं है। और अपवर्तन तो सब प्रकृतियोंका होता है। और अपवर्तन हम आयुष्क कर्मके वर्णनमें वर्णन (निरूपण)करचुके है (अ. २, सू. ५२) ॥ २२ ॥

स यथानाम ॥ २३ ॥

भाष्यम्—सोऽनुभावो गतिनामादीनां यथानाम विपच्यते ॥

सूत्रार्थ—वह अनुभाव गति नाम आदिके यथानाम विपाकको प्राप्त होता है। अर्थात् गतिविपाक, जातिविपाक, नामविपाक इत्यादिरूपसे विपाकको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—विपाकसे निर्जरा होती है ॥ २४ ॥

भाष्यम्—ततश्चानुभावात्कर्मनिर्जरा भवतीति निर्जरा क्षयो वेदनेत्येकार्थं । अत्र चशब्दो हेत्वन्तरमपेक्षते तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यते ॥

विशेषव्याख्या—कर्मप्रकृतियोंके अनुभाव अर्थात् विपाक होनेपर कर्मकी निर्जरा होजाती है। अर्थात् विपाकके पश्चात् कर्मोका नाश होजाता है। निर्जरा, क्षय, वेदना, ये समानार्थक शब्द है। इस सूत्रमें जो च शब्द है वह दूसरे हेतुकी अपेक्षा रखता है। अर्थात् **"ततः-विपाकात् अन्यथा च निर्जरा भवति"** विपाकसे और अन्य हेतुसे भी निर्जरा होती है। तपसे भी निर्जरा होती है, यह विषय आगे कहेंगे (अ. ९ सू. ३) ॥ २४ ॥

उक्तोऽनुभावबन्धः । प्रदेशबन्धं वक्ष्यामः ।

अनुभावबन्धको कहचुके, अब प्रदेशबन्धको कहते हैं।

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—नामहेतुक, सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही, अनन्तानन्तप्रदेशयुक्त, स्थित, कर्मग्रहणयोग्य पुद्गल, सम्पूर्ण आत्मप्रदेशमें सब ओरसे योगविशेषकरके बन्धको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

भाष्यम्—नामप्रत्ययाः पुद्गला बध्यन्ते । नाम प्रत्यय एषां ते इमे नामप्रत्ययाः । नामनिमित्ता नामहेतुका नामकारणा इत्यर्थः । सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च बध्यन्ते । योगविशेषात् कायवाङ्मनःकर्मयोगविशेषाच्च बध्यन्ते । सूक्ष्मा बध्यन्ते न बादराः । एकक्षेत्रावगाढा बध्यन्ते न क्षेत्रान्तरावगाढाः । स्थिताश्च बध्यन्ते न गतिसमापन्नाः । सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वप्रकृतिपुद्गलाः सर्वात्मप्रदेशेषु बध्यन्ते । एकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तैः कर्मप्रदेशैर्बद्धः । अनन्तानन्तप्रदेशाः कर्मग्रहणयोग्याः पुद्गला बध्यन्ते न सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशाः । कुतोऽग्रहणयोग्यत्वात्प्रदेशानामिति एष प्रदेशबन्धो भवति ॥

१ अपवर्तनका अर्थ है दूरीकरण, जैसे आयुष्कके दो भेद बताये है एक अपवर्तनीय, दूसरा अनपवर्तनीय, जैसे नारक देवादिक आयुष्कका अपवर्तन नहीं होता ।

विशेषव्याख्या—नामके कारण. अर्थात् नामरूप हेतुसे पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं। नाम है प्रत्यय कारण जिनमें उनको नामप्रत्यय कहते हैं। नामनिमित्तक, नामहेतुक, वा नामकारणवाले, यह नामप्रत्यय इसका अर्थ है । सर्वतः अर्थात् तिर्यक् इधर उधर चारोंओरसे, ऊर्ध्वभागसे तथा अधोभागसे सब ओरसे पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं। किनसे बन्धको प्राप्त होते हैं, योगविशेषसे, काय, वाक् और मनोरूप कर्मयोगविशेषसे पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं। तथा सूक्ष्म पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं न कि—बादर (स्थूल) तथा एकक्षेत्राऽवगाही पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं, न—कि अन्य २ क्षेत्रोंमें स्थित तथा स्थित (स्थितिशील) पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं न—कि गतिमें प्राप्त। तथा सम्पूर्ण प्रकृतिपुद्गल सम्पूर्ण आत्माके प्रदेशोंमें बन्धको प्राप्त होते हैं । क्योंकि—एक २ आत्माका प्रदेश अनन्त कर्मप्रदेशोंसे बद्ध है। तथा अनन्तानन्तप्रदेश (कर्मग्रहणयोग्य) पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं, न—कि संख्येयप्रदेश, असंख्येयप्रदेश तथा अनन्तप्रदेशवाले क्योंकि—उन प्रदेशोंके ग्रहणकी योग्यता नहीं है । इस प्रकार नामप्रत्ययसे सर्व प्रदेशोंमें यथोक्त पुद्गलोंकी बन्धप्राप्ति प्रदेशबन्ध है ॥ २५ ॥

सर्वं चैतदष्टविधं कर्म पुण्यं पापं च ।

सब यह पूर्वकथित आठ प्रकारका कर्म पुण्य तथा पाप एतदुभयरूप होता है अर्थात् पुण्य और पाप दोनों प्रकारके अर्थ है।

तत्र

इनमेंसे—

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२६॥

भाष्यम्—सद्वेद्यं भूतव्रत्यनुकम्पादिहेतुकम् सम्यक्त्ववेदनीयं केवलिश्रुतादीनां वर्णवादादिहेतुकम् हास्यवेदनीयं रतिवेदनीयं पुरुषवेदनीयं शुभमायुष्कं मानुषं दैवं च शुभनाम गतिनामादीनां शुभं गोत्रमुच्चैर्गोत्रमित्यर्थः । इत्येतदष्टविधं कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यत्पापम् ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहेऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सद्वेद्य अर्थात् प्राणिमात्र और विशेषरूपसे व्रतियोंमें अनुकम्पा आदिसे होनेवाला सद्वेदनीय, केवली, श्रुतआदिके वर्णवादआदि अर्थात् प्रशंसासे होनेवाला सम्यक्त्ववेदनीय, हास्यवेदनीय, रतिवेदनीय, पुरुषवेदनीय तथा शुभआयु, जैसे—मानुष और देव आयुष्क, शुभनाम अर्थात् गतिनामआदिमें शुभनाम और शुभगोत्र, अर्थात् उच्चैर्गोत्र यह आठ प्रकारका कर्म पुण्य है, और इनसे विरुद्ध पाप है। अतः शुभार्थ उद्योग उचित है ॥ २६ ॥

स्याद्वादनयगर्भितपण्डितठाकुरप्रसादशर्मप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृतेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

उक्तो बन्धः । संवरं वक्ष्यामः

बन्धका वर्णन करचुके, अब आगे इस नौमें ९ अध्यायमें संवर कहेंगे ।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—आस्रवका निरोध संवर कहलाता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्यास्रवस्य निरोधः संवरः ।

विशेषव्याख्या—पूर्व प्रसङ्गमें जो काययोगआदि बयालीस (४२) प्रकारका आस्रव कहागया है, उसका जो निरोध अर्थात् रोकना है उसको संवर कहते है ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह, जय, तथा चारित्रसे होता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष संवर एभिर्गुप्त्यादिभिरभ्युपायैर्भवति । किं चान्यत् ।

विशेषव्याख्या—वह संवर इन गुप्ति आदिसे होता है ॥ २ ॥

और यह अन्य भी हेतु है—

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—अर्थात् तपसे संवर और निर्जरा होती है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तपो द्वादशविधं वक्ष्यते । तेन संवरो भवति निर्जरा च ॥

विशेषव्याख्या—द्वादश (बारह १२)प्रकारका तप आगे कहैंगे । (अ. ९ सू. १९।२०) । उस बारह प्रकारके तपसे संवर होता है और निर्जरा भी होती है ॥ ३ ॥

अत्राह । उक्तं भवता गुप्त्यादिभिरभ्युपायैः संवरो भवतीति । तत्र के गुप्त्यादय इति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि—गुप्ति, समितिआदि उपायोंसे संवर होता है ऐसा आपने कहा है (अ. ९ सू. २) । सो वे गुप्ति आदि कौन है । इसलिये यह अग्रिम सूत्र कहते हैं—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—सम्यग् (भलेप्रकार)पूर्वकथित त्रिविध योगोंका जो निग्रह है उसको गुप्ति कहते है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति ।तत्र शयनासनादाननिक्षेपस्थानचंक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः । याचनपृच्छनपृष्टव्याकरणेषु वाङ्नियमो मौनमेव वा वाग्गुप्तिः । सावद्यसंकल्पनिरोधः कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति ॥

विशेषव्याख्या—सम्यग् अर्थात् पूर्ण विधानसे ज्ञानपूर्वक स्वीकार करके सम्यग्दर्शनपूर्वक काय, वाग् तथा मनोरूप जो तीन (३) प्रकारके योग पूर्वमें कहे हैं उनका जो निरोध (रोकना) है वह गुप्ति[1] है। वह कायगुप्ति, वाग्गुप्ति, और मनोगुप्ति, इन भेदोंसे तीन (३) प्रकारकी है। उनमें शयन, आसन, आदान (ग्रहण), निक्षेप (त्याग वा किसी वस्तुको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें फेंकना वा संचालन करना) तथा स्थानचङ्क्रमण अर्थात इधर उधर स्थानोंमें भ्रमण, इत्यादि कार्योमे शरीरकी चेष्टाका नियत अर्थात् अनियत रूपसे निरर्थक शरीरकी चेष्टा वा सर्वथा चेष्टा न करनी, यह **कायगुप्ति** है। याचनमें, पूंछनेमे, तथा पूछे हुए पदार्थका व्याख्यान करनेमे वाणीका नियम, अथवा सर्वथा मौन ही रहना यह **वाग्गुप्ति** है। तथा निन्दनीय वा दुष्ट संकल्पोंका निरोध, कुशल (उत्तम) संकल्प करना, अथवा कुशल और अकुशल दोनों प्रकारके संकल्पोंका जो निरोध है, वह मनोगुप्ति है ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप, तथा उत्सर्ग; इन भेदोंसे पांच (५) समिति होती हैं ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपौ सम्यगुत्सर्ग इति पञ्च समितयः ॥ तत्रावश्यकायैव संयमार्थं सर्वतो युगमात्रनिरीक्षणायुक्तस्य शनैर्न्यस्तपदा गतिरीर्यासमितिः । हितमितासंदिग्धानवद्यार्थनियतभाषणं भाषासमितिः । अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणासमितिः । रजोहरणपात्रचीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्थं निरीक्ष्य प्रमृज्य चादाननिक्षेपौ आदाननिक्षेपणासमितिः । स्थण्डिले स्थावरजङ्गमजन्तुवर्जिते निरीक्ष्य प्रमृज्य च मूत्रपुरीषादीनामुत्सर्ग उत्सर्गसमितिरिति ॥

विशेषव्याख्या—यहां पूर्वसूत्रसे सम्यक् पदकी अनुवृत्ति है और उसका संबन्ध पांचों प्रकारोंके साथ है। इसलिये सम्यक् ईर्यासमिति, सम्यग्भाषासमिति, सम्यक् एषणासमिति, सम्यक् आदाननिक्षेपसमिति, तथा सम्यग् उत्सर्गसमिति; ये पांच समिति[2] हैं। उनमें आवश्यक कार्यके ही लिये संयमार्थ युगमात्र (चार हाथ) सर्वत्र देखनेमे जो तत्पर है उसकी शनैः २ अर्थात् धीरे २ चरणोंको रखके जो गति (गमन करना) है उसको ईर्यासमिति कहते है। सब जीवोंका हितसाधक, परिमित, असंदिग्ध (संदेहरहित) तथा अनिन्दनीय अर्थके पदोंका जो नियमितरूपसे भाषण है वह **भाषासमिति** है। अन्न, पान, रजोहरण (झाडूआदि), पात्र (कमण्डलुआदि) तथा वस्त्रादि धर्मसाधन

---

[1] जिससे संसारसे आत्माकी रक्षा हो उसको गुप्ति कहते है।

[2] प्राणियोंकी पीडा दूर करनेके लिये भले प्रकारको समिति कहतेहैं।

पदार्थोंके, तथा आश्रय(निवासस्थान)के आविर्भाव, उत्पत्ति तथा अभिलाषाआदि दोषोंका जो वर्जन अर्थात् अभाव है वह एषणासमिति है। रजोहरण, पात्र, वस्त्रादि, और पीढ़े तथा तखत आदि आवश्यक कार्यके लिये बैठने सोने आदिके जो पदार्थ है; इन सबको भली भांति देख तथा शुद्ध करके आदान, निक्षेप(ग्रहण तथा त्याग)किया जाय उसको **आदाननिक्षेपणसमिति** कहते है। तथा उच्चता, अवनतता अर्थात् उँचाई, निचाई आदि दोषोंसे रहित परिष्कृत समधरासत्वसंयुक्त, तथा स्थावर और जङ्गम जीवोंके संचारसे शून्य स्थानमें देखकर, तथा शुद्धकरके मल मूत्रआदिका जो त्याग है उसको **उत्सर्गसमिति** कहते हैं। इस प्रकार पांचों समितियोंका वर्णन हुआ ॥ ५ ॥

उत्तमःक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य ये दश उत्तम, धर्मके भेद हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—इत्येष दशविधोऽनगारधर्मः उत्तमगुणप्रकर्षयुक्तो भवति। तत्र क्षमा तितिक्षा सहिष्णुत्वं क्रोधनिग्रह इत्यनर्थान्तरम्। तत्कथं क्षमितव्यमिति चेदुच्यते। क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावाभावचिन्तनात् परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावचिन्तनादभावचिन्तनाद्वा क्षमितव्यम्। भावचिन्तनात् तावद्विद्यन्ते मय्येते दोषाः किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनादपि क्षमितव्यं नैते विद्यन्ते मयि दोषा यानज्ञानादसौ ब्रवीति क्षमितव्यम्। किं चान्यत्। क्रोधदोषचिन्तनाच्च क्षमितव्यम्। क्रुद्धस्य हि विद्वेषासादनस्मृतिभ्रंशव्रतलोपादयो दोषा भवन्तीति। किं चान्यत्। बालस्वभावचिन्तनाच्च परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशताडनमारणधर्मभ्रंशानामुत्तरोत्तररक्षार्थम्। बाल इति मूढमाह। परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यमेव। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति। दिष्ट्या च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षमिति। लाभ एव मन्तव्य इति। प्रत्यक्षमप्याक्रोशति बाले क्षमितव्यं। विद्यत एवैतद्बालेषु। दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयति। एतदप्यस्ति बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। ताडयत्यपि बाले क्षमितव्यम्। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति। दिष्ट्या च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति। एतदपि विद्यते बालेष्विति। प्राणैर्वियोजयत्यपि बाले क्षमितव्यं। दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति न धर्माद्भ्रंशयतीति क्षमितव्यम्। एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः॥ किं चान्यत्। स्वकृतकर्मफलाभ्यागमाच्च। स्वकृतकर्मफलाभ्यागमोऽयं मम, निमित्तमात्रं पर इति क्षमितव्यम्। किं चान्यत्। क्षमागुणांश्चानायासादीननुस्मृत्य क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः॥ १ ॥

विशेषव्याख्या—क्षमाआदि यह दश प्रकारका उत्तम धर्म है। अनगार (साधु वा यति)का यह दशविध उत्तम गुण प्रकर्षतासे युक्त होता है। उनमें तितिक्षा व सहनशीलताको क्षमा कहते हैं। क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता, तथा क्रोधनिग्रह, ये सब एकार्थ-

ंचक शब्द हैं। सो क्षमा किस रीतिसे करनी चाहिये यह कहते हैं। प्रयुक्त क्रोधके निमित्तका आत्मामें भाव वा अभाव चिन्तन करनेसे, अर्थात् दूसरोंमें प्रयुक्त जो क्रोधके निमित्त (कारण वा हेतु) उनका आत्मामे भाव चिन्तन करना कि ये जो क्रोधके निमित्त हैं उनकी आत्मामें अस्तिता है, अथवा उसके अभावके चिन्तनसे क्षमा करनी चाहिये। उसमें भावके चिन्तनसे तो यह होगा कि—मुझमें क्रोधके कारणीभूत दोष ही हैं, इसमे यह मिथ्या क्या कहता है; ऐसा विचार करके क्षमा करनी चाहिये। और क्रोधके निमित्तके अभावचिन्तनसे भी क्षमा करनी चाहिये कि—ये दोष मुझमें नहीं हैं जिनको कि—यह अज्ञानसे कहता है। अर्थात् इसका मुझमें दोषारोपण अज्ञानसे है, यथार्थमें नहीं है; ऐसा चिन्तन करके भी क्षमा करनी चाहिये। और इससे भिन्न यह भी है कि—क्रोधके दोषोंका चिन्तन करके भी क्षमा करनी चाहिये। क्योंकि—क्रोधयुक्त प्राणीके विद्वेष स्मृतिका नाश तथा व्रतलोप आदि दोष भी होते है ऐसा विचार करके क्षमा करनी चाहिये। और यह भी है। बालस्वभावचिन्तनसे भी क्षमा करनी चाहिये। और परोक्ष, प्रत्यक्ष, आक्रोश, ताडन, मारण, तथा धर्मभ्रंश इनमेंसे उत्तरोत्तरकी रक्षार्थ भी क्षमा करनी अवश्य कर्तव्य है। बाल इस पदसे मूढसे अभिप्राय है। हमारे परोक्ष (अनुपस्थिति)मे आक्रोशन (निन्दा आदि)करता है, बालक (मूढ) है इसलिये क्षमा करनी चाहिये। क्योंकि—बालक ऐसा बका ही करते हैं। और यह भी सौभाग्यका विषय है कि—हमारे परोक्षमे ही वह गालिसंप्रदान आदि करता है, न कि—प्रत्यक्ष (सम्मुख)। इस हेतुसे लाभ ही समझना चाहिये। और यदि प्रत्यक्षमे गालिआदि संप्रदान बाल (मूढ)करे तो भी क्षमा ही करनी चाहिये। क्योंकि—बालक प्रत्यक्ष भी सबको कुवाच्य कहते हैं। और यह भी सौभाग्य है कि—प्रत्यक्ष कुवाच्य आक्रोशन आदि ही करता है, न कि—मुझे ताडना करता है (मारता) है। और बालक यदि ताडना करे तो भी उसपर क्षमा करनी उचित है। क्योंकि बाल (मूढ)जन ऐसे स्वभाववाले होते ही हैं, अर्थात् दूसरोंको ताडनाआदि करना यह उनका स्वभाव ही है, ऐसा मानकर क्षमा करनी चाहिये। और यह भी सौभाग्यका विषय है कि—केवल ताडना ही करता है न कि—प्राणोंसे भी मुझे वियुक्त (अलग)करता है। क्योंकि—प्राणोंसे वियुक्त करना यह भी बालों (मूढों) मे है। और प्राणोंसे भी वियुक्त करते हुए बालके ऊपर क्षमा ही करनी चाहिये। क्योंकि यह भी सौभाग्यका विषय है कि तुझे केवल प्राणोंसे ही पृथक् करता है (वध करता है) न कि धर्मसे भ्रष्ट करता (धर्मसे च्युत वा पतित करता) है। क्योंकि—धर्मसे च्युत करना यह भी बालों (मूढजनों) में है। अतः केवल प्राणमात्रसे ही वियुक्त (वधमात्र) करनेसे लाभ ही मानना उचित है, इत्यादि चिन्तन करके क्षमा ही करनी चाहिये। और यह भी है— अपनेसे किये हुए कर्मोंके फलके अभ्यागम (आगमन) से भी क्षमा करनी

उचित है । ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरे ही किए कर्मोंके फलोंका अभ्यागति गमन है; उन्ही कर्मोंका आगमन हुआ है जिससे हमको यह अनेक प्रकारके क्लेश होते है, दूसरा तो केवल निमित्तमात्र है, इत्यादि विचारोंसे क्षमा करनी चाहिये । और अन्य हेतु यह भी है कि—अनायास अर्थात् आयास परिश्रम आदिके अभाव आदि क्षमाके गुणोंको स्मरण करके क्षमा करनी उचित है । इस प्रकार यह क्षमा धर्म प्रथम कहा गया है ॥ १ ॥

नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ मार्दवलक्षणम् । मृदुभावः मृदुकर्म च मार्दवं मदनिग्रहो मानविघातश्चेत्यर्थः । तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति । तद्यथा । जातिः कुलं रूपमैश्वर्यं विज्ञानं श्रुतं लाभो वीर्यमिति । एभिर्जात्यादिभिरष्टाभिर्मदस्थानैर्मत्तः परात्मनिन्दाप्रशंसाभिरतस्तीव्राहंकारोपहतमतिरिहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्मादेषां मदस्थानानां निग्रहो मार्दवं धर्म इति ॥ २ ॥

नम्रताका वर्तन तथा गर्वराहित्य होना, यह मार्दवका लक्षण है । मृदुभाव वा मृदु कर्म जो है वह मार्दव[1] है । मदका निग्रह अर्थात् धन विद्या आदिसे मद (गर्व) होता है उसका निग्रह और अभिमानका विघात यह मार्दव धर्म है । उसमें मान वा अभिमानके ये ८ आठ स्थान होते है । जैसे—जाति (ब्राह्मणत्वआदि जाति), कुल (उत्तम कुल), रूप (सौन्दर्य), ऐश्वर्य (धनआदि विभूति), विज्ञान (अनेक पदार्थविषयक आनुभविक ज्ञान), श्रुत अर्थात् शास्त्रसम्पत्ति, लाभ, ऐहिक वा पारलौकिक पदार्थके लाभ तथा वीर्य इन जाति आदि आठों मदोंके स्थानोंसे मत्त होकर प्राणी अन्य जनोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा आदिमें तत्पर होकर तीव्र अहङ्कारसे नष्ट बुद्धि इसलोक तथा परलोकमें भी अशुभ फलदायक पाप कर्मोका ही संग्रह करता है; और उपदेश देनेपर भी मदोन्मत्तताके कारणसे कल्याणमार्गको नही ग्रहण करता, इत्यादि हेतुओंसे जो जाति आदि मनके स्थान अभी पूर्वमें कहे है उनका निग्रह करना यह मार्दवनामा द्वितीय धर्म है ॥ २ ॥

भावविशुद्धिरविसंवादनं चार्जवलक्षणम् । ऋजुभावः ऋजुकर्म वार्जवं भावदोषवर्जनमित्यर्थः । भावदोषयुक्तो ह्युपधिनिकृतिसंयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्मादार्जवं धर्म इति ॥ ३ ॥

भावकी विशुद्धि तथा वञ्चना, विप्रलम्भ (धोखा देना वा मिथ्या भाषण कपटआदि व्यवहारोंसे दूसरोंको ठगने) का अभाव अर्थात् अविसंवाद जो है वह आर्जवका लक्षण

---

१ मृदुका अर्थ कोमल है । उस मृदु शब्दसे भाव वा कर्म अर्थमें तद्धित अण् प्रत्यय होनेसे मार्दव बनता है । मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवम् । अर्थात् मृदुका जो भाव या कर्म्म है वह मार्दव है ।

[1]। ऋजुभाव तथा ऋजुकर्म, अर्थात् सरल भाव वा सरल कर्म यह आर्जव है। तात्पर्य यह है कि भावोंके जो दोष हैं उनका वर्जन (निषेध) दुष्ट भावोंके त्यागपूर्वक सरल भावोंका जो ग्रहण है वही आर्जव (सरलता, सिधाई वा कपटराहित्य) है। क्योंकि भावोंके दोषोंसे युक्त कपट, वञ्चना (धोखा देना) आदिसे संयुक्त पुरुष इस लोक तथा परलोकमें अशुद्ध फलदायक अकुशल (पापमय) कर्मोंका ही संग्रह करता है; और उपदेश देनेपर भी कल्याणको नहीं प्राप्त होता है। इस हेतुसे भावदोषोंका त्यागरूप आर्जव यह तृतीय धर्म है ॥ ३ ॥

अलोभः शौचलक्षणम्। शुचिभावः शुचिकर्म वा शौचं भावविशुद्धिः निष्कल्मषता धर्मसाधनमात्रास्वप्यनभिष्वङ्ग इत्यर्थः। अशुचिर्हि भावकल्मषसंयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते। तस्माच्छौचं धर्म इति ॥ ४ ॥

अलोभ अर्थात् लोभका अभाव होना, यह शौचका लक्षण है। शुचिका भाव वा शुचि (पवित्र) कर्म शौच है। भावविशुद्धि (भावोंकी शुद्धता) तथा निष्कल्मषता अर्थात् लोभादि मालिन्यकी रहितता, धर्मसाधनमात्र सामग्रियोंमे भी आसक्तिका अभाव यह शौच है। क्योंकि अशुचि (शौचरहित) जन भावकल्मषोंसे संयुक्त रहनेके कारण इस लोक तथा परलोकमें भी अशुद्ध (दुष्ट) फलदायक अकुशल अर्थात् पापोंसे पूर्ण तथा दुःखप्रद कर्मोंका संग्रह करता है, और उपदेश देनेपर भी कल्याणमार्गको नहीं प्राप्त होता, इस हेतुसे अशौचके त्यागनेसे शौच यह चतुर्थ धर्म होता है ॥ ४ ॥

सत्यर्थे भवं वचः सत्यं सज्ज्यो वा हितं सत्यम्। तदननृतमपरुषमपिशुनमनसभ्यमचपलमनाविलमविरलमसंभ्रान्तं मधुरमभिजातमसंदिग्धं स्फुटमौदार्ययुक्तमग्राम्यपदार्थाभिव्याहारमसीभरमरागद्वेषयुक्तं सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थमर्घ्यमर्थिजनभावग्रहणसमर्थमात्मपरानुग्राहकं निरुपधं देशकालोपपन्नमनवद्यमर्हच्छासनप्रशस्तं यतं मितं याचनं प्रच्छनं प्रश्नव्याकरणमिति सत्यं धर्मः ॥ ५ ॥

सत्य अर्थके लिये उत्पन्न जो वचन है वह सत्य है, अथवा सज्जनोंके लिये हितकारक जो वचन है वह सत्य है। वह सत्य मिथ्यादोषसे रहित, परुषता (कठोरता) रहित, अपिशुन अर्थात् सूचकता वा चुगुली आदि दोषवर्जित, असभ्यतारहित, चञ्चलताशून्य, अनाविल (मालिन्यदोषशून्य वा अकलुषित), विरलतारहित, असंभ्रान्त (भ्रमरहित), मधुर, अभिजात (उज्ज्वल वा विशद), असंदिग्ध अर्थात् सन्देहरहित, स्फुट (स्पष्ट), औदार्य अर्थात् उदारतासंयुक्त वा उच्च विचारसहित, ग्रामीण पद पदार्थ दोषोंसे वर्जित, [illegible], रागद्वेषसे वर्जित, सूत्रमार्गके अनुसार प्रवृत्त अर्थसहित, बहुमूल्य

१ जैसे कि सरल [illegible] ऋजु शब्दसे भाव वा कर्म अर्थमें अण् प्रत्यय होनेसे आर्जव बनता है। [illegible]) अर्थात् ऋजुता जो भाव या कर्म है वह आर्जव है।

वा पूजनीय, अर्थी जनोंको भाव ग्रहण करनेमें समर्थ (योग्य), अपने तथा अन्यके ऊपर अनुग्रह करनेवाला अर्थात् निज आत्मा और अन्य आत्माकी हानिसे वर्जित, छल कपटर्हित आदि दोषशून्य, देशकालके अनुकूल, अनिन्दनीय, अर्हत् भगवान्‌के शासन (शास्त्र)-रीतिसे प्रशस्त अर्थात् अर्हत्—शास्त्रके सम्मत प्रशंसनीय, यत (संयमसहित), मित अर्थात् परिमित, याचन, प्रश्न और प्रश्नके विवरण अर्थात् प्रश्नके उत्तररूप होना चाहिये । इस रीतिसे मिथ्या परुषताआदि दोषोंसे शून्य होनेसे यह सत्य पञ्चम धर्म है ॥ ५ ॥

योगनिग्रहः संयमः । स सप्तदशविधः । तद्यथा । पृथिवीकायिकसंयमः अप्कायिकसंयमः तेजस्कायिकसंयमः वायुकायिकसंयमः वनस्पतिकायिकसंयमः द्वीन्द्रियसंयमः त्रीन्द्रियसंयमः चतुरिन्द्रियसंयमः पञ्चेन्द्रियसंयमः प्रेक्ष्यसंयमः उपेक्ष्यसंयमः अपहृत्यसंयमः प्रमृज्यसंयमः कायसंयमः वाक्संयमः मनःसंयमः उपकरणसंयम इति संयमो धर्मः ॥६॥

योगोंका जो निग्रह है, अर्थात् काय, वाक् तथा मनोरूप जो तीन प्रकारके योग हैं उनका निग्रह अर्थात् अपने वशमें रखना, यह संयम धर्म है । वह संयम धर्म सत्रह (१७) प्रकारका है । जैसे—**पृथिवीकायिकसंयम** अर्थात् पृथिवीकायिकके विषयमें संयम, **अप्कायिकसंयम**, **तेजस्कायिकसंयम**, **वायुकायिकसंयम**, **वनस्पतिकायिकसंयम**, **द्वीन्द्रियसंयम** अर्थात् दो इन्द्रियवाले जीवोंके विषयसंयम (योगत्रयनिग्रह), **त्रीन्द्रियसंयम**, **चतुरिन्द्रियसंयम**, **पञ्चेन्द्रियसंयम**; **प्रेक्ष्य** अर्थात् प्रेक्षण करनेयोग्य पदार्थोंके विषयमें संयम, **उपेक्ष्यसंयम** (उपेक्षा करनेयोग्य पदार्थोंसे संयम), **अपहृत्यसंयम** (निन्दनीय पदार्थविषयक संयम), **प्रमृज्य** अर्थात् शोधनीय पदार्थविषयक **संयम**, **कायसंयम**, **वाक्यसंयम**, **मनःसंयम**, तथा **उपकरणसंयम** । सर्वत्र उन २ पदार्थोंके विषयमें योगत्रयका निग्रह होनेसे संयम यह षष्ठ धर्म है ॥ ६ ॥

तपो द्विविधम् । तत्परस्ताद्वक्ष्यते । प्रकीर्णकं चेदमनेकविधम् । तद्यथा । यववज्रमध्ये चन्द्रप्रतिमे द्वे, कनकरत्नमुक्तावल्यस्तिस्रः, सिंहविक्रीडिते द्वे, सप्तसप्तमिकाद्याः प्रतिमाश्चतस्रः, भद्रोत्तरमाचाम्लं वर्धमानं सर्वतोभद्रमित्येवमादि । तथा द्वादश भिक्षुप्रतिमा मासिकाद्या आसप्तमासिक्याः सप्त, सप्तरात्रिक्याः तिस्रः, अहोरात्रिकी, रात्रिकी चेति ॥ ७ ॥

तप दो प्रकारका है सो आगे कहेंगे (अ. ९ सू. १९,२०) । और प्रकीर्णक अर्थात् विस्तृत तप अनेक प्रकारका है । जैसे—यववज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा दो, कनकरत्नमुक्तावली तीन, सिंहविक्रीडित दो, सप्तमिकादि सात, भद्रोत्तर, आचाम्ल, वर्धमान, तथा सर्वतोभद्र, इत्यादि चार प्रतिमा द्वादश भिक्षुप्रतिमा है । मासिक आदि सप्त मासिकी पर्यन्त सात प्रतिमा है । सप्तरात्रिकी प्रतिमा तीन हैं, जैसे—अहोरात्रिकी, रात्रिकी इत्यादि । इस प्रकार तप सप्तम धर्म है ॥ ७ ॥

'वाह्याभ्यन्तरोपधिशरीरान्नपानाद्याश्रयो भावदोषपरित्यागस्त्यागः ॥ ८ ॥

वाह्य तथा आभ्यन्तर उपाधि, शरीर, तथा अन्नपान आदिके आश्रयीभूत भाव दोषोंका जो परित्याग है वह त्यागरूप अष्टम धर्म है ॥ ८ ॥

शरीरधर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम् ॥ ९ ॥

शरीर तथा धर्मके भी उपकरण अर्थात् धर्मसाधन सामग्री आदि हैं; उनमें भी निर्ममत्व, अर्थात् ये मेरे हैं इस प्रकारकी ममताका जो अभाव है उसको आकिञ्चन्य नवम धर्म कहते हैं ॥ ९ ॥

व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यमस्वातन्त्र्यं गुर्वधीनत्वं गुरुनिर्देशस्थायित्वमित्यर्थं च । पञ्चाचार्याः प्रोक्ताः प्रव्राजको दिगाचार्यः श्रुतोद्देष्टा श्रुतसमुद्देष्टा आम्नायार्थवाचक इति । तस्य ब्रह्मचर्यस्येमे विशेषगुणा भवन्ति । अब्रह्मविरतिव्रतभावना यथोक्ता इष्टस्पर्शरसरूपगन्धशब्दविभूषानभिनन्दित्वं चेति ॥ १० ॥

व्रतके परिपालनके अर्थ, ज्ञानकी विशेषवृद्धिके लिये, और क्रोधआदि कषायोंके परिपाकार्थ जो गुरुकुलमें निवास है, उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्यका अर्थ है अस्वतन्त्रता, गुरुकी आधीनता, अर्थात् स्वतंत्र वा स्वच्छन्दचारी न होकर गुरुके आधीन रहना तथा गुरुके निर्देशमें स्थायित्व, अर्थात् गुरुकी आज्ञामें रहकर विद्यादि गुणोंका उपार्जन करना। आचार्य पांच प्रकारके कहे गये हैं। जैसे—परिव्राजक (यति), दिगाचार्य, श्रुत (शास्त्र) का उद्देष्टा (पढ़ानेवाला) और आम्नायसिद्ध अर्थोंका वाचक । उस ब्रह्मचर्यके ये विशेष गुण है। जैसे—अब्रह्मसे निवृत्ति अर्थात् मैथुनमे निवृत्ति और व्रतोंकी भावना। उन भावनाओंका वर्णन पूर्वप्रकरणमें कह चुके हैं। तथा मनोहर अभिलषित स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, तथा आभूषणआदिसे प्रसन्न न होना। इन हेतुओंसे ब्रह्मचर्यकी दशम धर्ममें गणना की, अर्थात् ब्रह्मचर्य दशम धर्म है ॥ १० ॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—अनित्यानुप्रेक्षा आदि वारह (१२) अनुप्रेक्षा है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—एता द्वादशानुप्रेक्षाः । तत्र वाह्याभ्यन्तराणि शरीरशय्यासनवस्त्रादीनि द्रव्याणि सर्वसंयोगाश्चानित्या इत्यनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः तेष्वभिष्वङ्गो न भवति मा भून्मे तद्वियोगजं दुःखमित्यनित्यानुप्रेक्षा ॥ १ ॥

विशेषव्याख्या—अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा, तथा धर्मानुप्रेक्षा, ये द्वादश अर्थात् वारह (१२) प्रकारकी अनुप्रेक्षा हैं। उनमें वाह्य तथा आभ्यन्तरके यावत् पदार्थ मात्र हैं, उन सबकी अनित्य-

ताका अनुचिन्तन अर्थात् विचार करना । जैसे—शरीर, इन्द्रियादि, शय्या, आसन, वस्त्र तथा गृहआदि जितने द्रव्य हैं, वे सब संयोगसे उत्पन्न हुए हैं और अनित्य हैं, ऐसा सदा चिन्तन करे । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले प्राणीकी उन शरीरआदि पदार्थोंमें आसक्ति नहीं होती । क्योंकि—वे अनित्य है तब उनके वियोगसे जनित दुःख हमको न हो; इस प्रकार पदार्थोंके वियोगसे उत्पन्न दुःखोंके नाशार्थ जो सबके अनित्यत्वका अनुचिन्तन है वह अनित्यानुप्रेक्षा नाम प्रथम अनुप्रेक्षा है ॥ १ ॥

यथा निराश्रये जनविरहिते वनस्थलीपृष्ठे बलवता क्षुत्परिगतेनामिषैषिणा सिंहेनाभ्याहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते एवं जन्मजरामरणव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगेप्सितालाभमदारिद्र्यदौर्भाग्यदौर्मनस्यमरणादिसमुत्थेन दुःखेनाभ्याहतस्य जन्तोः संसारे शरणं न विद्यत इति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतो नित्यमशरणोऽस्मीति नित्योद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेष्वनभिष्वङ्गो भवति । अर्हच्छासनोक्त एव विधौ घटते तद्धि परं शरणमित्यशरणानुप्रेक्षा ॥ २ ॥

जैसे निराश्रय (किसी प्रकारके आश्रयसे रहित), जनशून्य महा अरण्यानी (बड़े भारी जंगल) के मध्यमें बलवान्, क्षुधाग्रस्त तथा मांसके अभिलाषी सिंहसे अभ्याहत (आक्रान्त) मृग (हरिणआदि पशु) के बच्चेको कोई शरण (रक्षाका स्थान) नहीं है; इसी प्रकार जन्म, वृद्धाऽवस्था, मरण, अनेक प्रकारके शारीरिक तथा मानसिक रोग, प्रिय प्राणी वा अन्य प्रिय वस्तुका वियोग, अप्रिय वा अनिष्ट वस्तुका संयोग, अभिलषित पदार्थका अलाभ (चाही हुई वस्तुका न मिलना), दारिद्र्य (दीनता, गरीबी), दौर्भाग्य, दौर्मनस्य (वैर विरोध आदि) तथा मरणआदिसे लेके अनेक अनिष्ट हेतुओंसे उत्पन्न दुःखसे आक्रान्त अर्थात् अनेक दुःखोंसे ग्रस्त जीवको कोई भी शरण (त्राण वा रक्षणका स्थान) इस संसारमें नही है ऐसा अनुचिन्तन सदा करे । इस प्रकारसे नित्य चिन्तन करनेवाले प्राणीको कि—मैं सर्वथा शरणरहित हूं, मुझे जन्म जरा मरणआदि रोगजनित दुःखोंसे कोई भी इस संसारमे नही बचा सकता । उस नित्य उद्विग्न चित्तवाले प्राणीको सांसारिक भावमें अर्थात् संसारके पदार्थोंमे अरुचि वा अप्रीति होती है । तथा इस प्रकारके विचार करनेवाले जीवके चित्तमें यह भी भासता है कि—अर्हत् भगवान्प्रणीत शासन (शास्त्र) में जो कुछ कथित है वह सब इस अनित्यताआदि विधिमें घटित होता है, और उसमें ही प्रोक्त जो नित्य आत्मा है अथवा शुद्ध निश्चयसे आत्मारूप धर्म है, अन्य सब अशरण है, यह द्वितीय अशरणानुप्रेक्षा व्याख्यात हुई ॥ २ ॥

अनादौ संसारे नरकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु चक्रवत्परिवर्तमानस्य जन्तोः सर्वे एव जन्तवः स्वजनाः परजना वा । न हि स्वजनपरजनयोर्व्यवस्था विद्यते । माता हि भूत्वा

गिनी भार्या दुहिता च भवति। भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति। भार्या भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति। दुहिता भूत्वा माता भगिनी भार्या च भवति॥ तथा पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति। भ्राता भूत्वा पिता पुत्रः पौत्रश्च भवति। पौत्रो भूत्वा पिता भ्राता पुत्रश्च भवति। पुत्रो भूत्वा पिता भ्राता पौत्रश्च भवति। भर्ता भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा भर्ता भवति। शत्रुर्भूत्वा मित्रं भवति मित्रं भूत्वा शत्रुर्भवति। पुमान्भूत्वा स्त्री भवति नपुंसकं च। स्त्री भूत्वा पुमान्नपुंसकं च भवति। नपुंसकं भूत्वा स्त्री पुमांश्च भवति। एवं चतुरशीतियोनिप्रमुखशतसहस्रेषु रागद्वेषमोहाभिभूतैर्जन्तुभिरनिवृत्तविषयतृष्णैरन्योन्यभक्षणाभिघातवधबन्धाभियोगाक्रोशादिजनितानि तीव्राणि दुःखानि प्राप्यन्ते। अहो द्वन्द्वारामः कष्टस्वभावः संसार इति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संसारभयोद्विग्नस्य निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय घटत इति संसारानुप्रेक्षा॥ ३॥

अनादि कालसे सिद्ध इस संसारमें नरक, तिर्यग्योनि, मनुष्य, तथा देवोंमे जन्मोंके ग्रहण करनेमें चक्रके तुल्य भ्रमण करते हुए जीवके कोई भी जीव स्वजन (अपने) तथा परजन (अन्य जन) नहीं हैं। क्योंकि—चक्रके तुल्य भ्रमण करते हुए जीवके स्वजन तथा परजनकी व्यवस्था ही नहीं है। कारण—किसी जन्ममें वा इसी जन्ममें जो माता है, वह माता होकर जन्मान्तरमें भगिनी (बहिन), भार्या (स्त्री) तथा कन्या भी होती है। और भगिनी होकर माता, भार्या तथा दुहिता (कन्या) होती है। और ऐसे ही किसी जन्ममें भार्या होकर पुनः जन्मान्तरमें भगिनी कन्या, कन्या तथा माता होती है। इसी प्रकार किसी जन्ममें कन्या होकर पुनः माता, भगिनी तथा भार्या होती है। ऐसे ही कोई जीव किसीका एक वा अनेक जन्ममें पिता होकर पुनः भ्राता, पुत्र, तथा पौत्र (पोता नाती) भी जन्मान्तरमें होता है, तथा भाई होकर जन्मान्तरोंमें पिता, पुत्र और पौत्र होता है तथा पौत्र होकर पुनः किसी जन्ममें पिता, भ्राता, तथा पुत्र होता है और कभी पुत्र होकर अन्य जन्ममे पिता, भ्राता तथा पौत्र होता है। इसी प्रकार चक्रवत् भ्रमणशील इस जन्ममरणमय संसारमें किसी स्त्रीका कोई पति होकर पुनः किसी जन्ममे दास होता है, और दास होकर पुनः कभी वही भर्त्ता (पति) होता है। ऐसे ही कोई जीव किसीका शत्रु होकर किसी जन्ममे मित्र होता है, और मित्र होकर पुनः शत्रु होता है। इसी रीतिसे किसी जन्ममें पुरुष होकर स्त्री होता है; और नपुंसक भी होता है। और स्त्री होकर पुरुष तथा नपुंसक भी होता है। तथा नपुंसक होके अन्य जन्ममे स्त्री तथा पुरुष भी होता है। इसी प्रकार चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करते हुए राग तथा द्वेषसे पूर्ण तथा अतितृष्णाके वशीभूत जीव परस्पर ताडन, भक्षण, वध, बन्धन, अभियोग (मिथ्या अभिशाप वा कलंक) तथा निन्दा, कटुवचनआदिसे उत्पन्न अत्यन्त दुःखोंको प्राप्त होते हैं। अहो!

कैसा द्वन्द्वाराम अर्थात् सुख, दुःख, शीतोष्ण, तथा संयोग वियोग आदि द्वन्द्वोंसे पूर्ण कष्टस्वभाव यह संसार है; इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार चिन्तन करते हुए तथा संसारके भयसे उद्विग्न जीवको निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न होता है। और निर्विण्ण (निर्वेद वा संसारसे ग्लानियुक्त) होनेसे संसारके नाशार्थ ही वह प्रयत्न करता है। इस प्रकारसे संसारके स्वभावका चिन्तन यह तृतीय **संसारानुप्रेक्षा** व्याख्यात हुई॥ ३॥

एक एवाहं न मे कश्चित्स्वः परो वा विद्यते। एक एवाहं जाये। एक एव म्रिये। न मे कश्चित्स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति प्रत्यंशहारी वा भवति। एक एवाहं स्वकृतकर्मफलमनुभवामीति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च द्वेषानुबन्धः। ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव यतत इत्येकत्वानुप्रेक्षा॥ ४॥

इस संसारमें मै एक अर्थात् एकाकी (अकेला) ही हूं; मेरा कोई भी स्वकीय, अथवा परकीय (अन्य) नही है। मै अकेला ही उत्पन्न होता हूं, तथा अकेला ही मरता हूं। न तो मेरा कोई स्वजनसंज्ञक है और न परजनसंज्ञक है; अर्थात् मेरा कोई ऐसा सुहृद् (मित्र) नहीं है जो व्याधि जरा (वृद्धावस्था) तथा मरणआदि दुःखोंको अपहरण करे, वा ऐसा भी कोई नही है जो मेरा प्रत्यंश लेले। मै तो एकाकी अपने किये हुए कर्मोके फलोंका भोक्ता हूं, अर्थात् मेरे किये हुए कर्मोके फलोंका मुझसे अन्य कोई भी भोगनेवाला नही है, इत्यादि रीतिसे चिन्तन करै। इस प्रकार अपनेको एकाकी अर्थात् सर्वथा असहाय अकेला चिन्तन करते हुए इस जीवको स्वजनसंज्ञक जो स्त्री, पुत्र, भ्राता, मित्रआदि है; उनमे स्नेह अनुरागका प्रतिबन्ध नही होता, और जो परसंज्ञक शत्रुआदि है, उनमें द्वेषका भी अनुबन्ध नही होता। इस रीतिसे राग द्वेषके अभावसे निःसङ्गताको प्राप्त जीव मोक्षके ही अर्थ प्रयत्न करता है, इस प्रकार परम्परासे मोक्षसाधिका चतुर्थ **एकत्वानुप्रेक्षा** वर्णन की॥ ४॥

शरीरव्यतिरेकेणात्मानमनुचिन्तयेत्। अन्यच्छरीरमन्योऽहम् ऐन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहम् अनित्यं शरीरं नित्योऽहम् अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम् आद्यन्तवच्छरीरमनाद्यन्तोऽहम् बहूनि च मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः स एवायमहमन्यस्तेभ्य. इत्यनुचिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरप्रतिबन्धो न भवतीति अन्यश्च शरीरान्नित्योऽहमिति निःश्रेयसे संघटत इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा॥ ५॥

आत्माको शरीरसे पृथक् चिन्तन करना चाहिये। शरीर अन्य पदार्थ है, और मै शरीरादिसे विलक्षण अन्य पदार्थ हूं। शरीर तो इन्द्रियोंका विषय है, और मै अतीन्द्रिय हूं, अर्थात् मेरा (शुद्ध आत्माका) स्वरूप इन्द्रियोंका विषय नहीं है। शरीर तो अनित्य (क्षणभङ्गुर) है, और मै (आत्मा) नित्य हूं। शरीर अज्ञ अर्थात् जड है, और मै ज्ञ अर्थात् ज्ञानस्वरूप चेतन हूं। शरीर आदि अन्तवाला है, और मै अनादि अनन्त अवि-

शी स्वरूप हूं। इस संसारमे परिभ्रमण करते हुए अनेक लक्ष शरीर व्यतीत होगये, अर्थात् शरीर तो मेरे बहुत होगये, और मैं वही एक उन शरीरोंसे भिन्नस्वरूप हूं। इत्यादि रूपसे अपनेको शरीर इन्द्रियआदिसे भिन्नरूपसे चिन्तन करे। इस प्रकारसे चिन्तन करनेसे इस जीवको शरीरका प्रतिबन्ध, अर्थात् शरीरमें ममत्वआदि नहीं होता। मैं शरीरोंसे भिन्न नित्यस्वरूप हूं इस प्रकारके विचारसे मोक्षके ही लिये वह जीव प्रयत्न करता है। इस प्रकार यह पञ्चम अन्यत्वाऽनुप्रेक्षा व्याख्यात हुई ॥ ५ ॥

अशुचि खल्विदं शरीरमिति चिन्तयेत्। तत्कथमशुचीति चेदाद्युत्तरकारणाशुचित्वादशुचिभाजनत्वादशुच्युद्भवत्वादशुभपरिणामपाकानुबन्धादशक्यप्रतीकारत्वाच्चेति। तत्राद्युत्तरकारणाशुचित्वात्तावच्छरीरस्याद्यं कारणं शुक्रं शोणितं च तदुभयमत्यन्ताशुचीति उत्तरमाहारपरिणामादि। तद्यथा। कवलाहारो हि ग्रस्तमात्र एव श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽत्यन्ताशुचिर्भवति। ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमानोऽम्लीकृतोऽशुचिरेव भवति। पक्वो वाय्वाशयं प्राप्य वायुना विभज्यते पृथक् खलः पृथक् रसः। खलान्मूत्रपुरीषादयो मलाः प्रादुर्भवन्ति रसाच्छोणितं परिणमति शोणितान्मांसम् मांसान्मेदः मेदसोऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जाभ्यः शुक्रमिति। सर्वं चैतच्छ्लेष्मादिशुक्रान्तमशुचिर्भवति। तस्मादाद्युत्तरकारणाशुचित्वादशुचि शरीरमिति॥ किं चान्यत् अशुचिभाजनत्वान् अशुचीनां खल्वपि भाजनं शरीरं कर्णनासाक्षिदन्तमलस्वेदश्लेष्मपित्तमूत्रपुरीषादीनामवस्करभूतं तस्मादशुचीति॥ किं चान्यत्। अशुच्युद्भवत्वात् एषामेव कर्णमलादीनामुद्भवः शरीरं तत उद्भवन्तीति। अशुचौ च गर्भे संभवतीति अशुचि शरीरम् ॥ किं चान्यत्। अशुभपरिणामपाकानुबन्धादार्तवे बिन्दोराधानात्प्रभृति खल्वपि शरीरं कललार्बुदपेशीघनव्यूहसंपूर्णगर्भकौमारयौवनस्थविरभावजनकेनाशुभपरिणामपाकेनानुबद्धं दुर्गन्धि पूतिस्वभावं दुरन्तं तस्मादशुचि॥ किं चान्यत्। अशक्यप्रतीकारत्वात् अशक्यप्रतीकारं खल्वपि शरीरस्याशुचित्वमुद्वर्तनरूक्षणस्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासयुक्तिमाल्यादिभिरप्यस्य न शक्यमशुचित्वमपनेतुमशुच्यात्मकत्वाच्छुच्युपघातकत्वाच्चेति। तस्मादशुचि शरीरमिति। एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरे निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च शरीरप्रहाणाय घटत इति अशुचित्वानुप्रेक्षा ॥ ६ ॥

यह शरीर अशुचि अर्थात् अपवित्र है ऐसा चिन्तन करना चाहिये। यदि ऐसा प्रश्न करो कि—किस प्रकार यह शरीर अपवित्र है? तो उत्तर यह है कि—आदि तथा उत्तर कारणके अपवित्र होनेसे, अशुचि अर्थात् अपवित्र वस्तुओंका पात्र होनेसे, अशुचि (अपवित्र) वस्तुओंका उत्पत्तिस्थान होनेके कारण (होनेसे) तथा स्वयं अपवित्र स्थानसे उत्पन्न होनेके कारण, अशुभ परिणामयुक्त परिपाकके सम्बन्धसे, और अशक्य प्रतीकार (उपाय) होनेसे भी यह शरीर अशुचि अर्थात् अपवित्र है। उनमें प्रथम आदि तथा उत्तर कारणका अशुचित्व (अपवित्रता) इस प्रकार है कि—शुक्र तथा शोणित, अर्थात् पिताका वीर्य और माताका रुधिर यह शरीरका आदिकारण है, इन्हीं दो वस्तुओंसे शरीरका पिण्ड प्रथम बनता है, और ये दोनों (शुक्र शोणित,) अत्यन्त अपवित्र हैं। और उत्तर

कारण क्या है कि—आहारके परिणाम आदि । क्योंकि—शरीर उत्पन्न होनेके पश्चात् आहारसे ही पालित होता है, इससे उत्तर कारण आहार है, और उस आहारके परिणाम अशुचि हैं । जैसे—कवलाहार ग्रस्त होते ही अर्थात् मुखमें डालकर गलेके नीचे निगलनेके पश्चात् ही श्लेष्मांशय (कफ)के स्थानको प्राप्त होकर श्लेष्माके समान द्रवीभूत होकर अत्यन्त अपवित्र होजाता है । उसके अनन्तर पित्ताशय अर्थात् जहांपर पित्त रहता है ऐसे उदरके अन्तर्गत स्थानविशेषको प्राप्त होकर पाकको प्राप्त होता हुआ अम्ल (खट्टे)रूप रसको प्राप्त होकर अत्यन्तही अशुचि (अपवित्र)हो जाता है । पुनः उसके अनन्तर परिपक्व अर्थात् जीर्ण होकर वाताशय (वातके स्थानविशेष)को प्राप्त होकर वह आहार वातके द्वारा पृथक् २ भागोंमें विभक्त किया जाता है । अर्थात् वायुसे आहारका खलभाग पृथक् हो जाता है, और रसभाग पृथक् हो जाता है । अर्थात् तिल सर्षप आदिको यन्त्रमें (कोल्हूमें)डालके पेरनेसे जैसे खल भाग अलग होता है और रस (तेल)भाग अलग होता है, यही दशा भुक्त आहारकी भी पित्तके द्वारा परिपाकदशामें प्राप्त होकर वायुसे खल (स्थूल) भाग अलग हो जाता है और रसभाग अलग होजाता है । उसमें भी खलभागसे तो मूत्र, मल (विष्ठा)आदि मल उत्पन्न होते है । और रससे शोणित (रुधिर) परिणाम होता है, अर्थात् रस रुधिररूपमें परिवर्तित (बदल)जाता है; रुधिरसे मांस, मांससे मेदा अर्थात् मांससे जन्य और अस्थि (हड्डी)का कारण धातुविशेष उत्पन्न होता है, मेदासे अस्थि, और अस्थिसे मज्जा (अस्थिजन्य शुक्रका कारण धातुविशेष) उत्पन्न होता है; और मज्जासे शुक्र अर्थात् वीर्य उत्पन्न होता है । यह श्लेष्मासे लेकर शुक्रपर्यन्त सब अर्थात् रसादिशुक्रान्त सप्त धातु अत्यन्त अशुचि (अपवित्र) है । इसलिये आदि तथा उत्तर शरीरके कारण अपवित्र होनेसे शरीर अपवित्र है । और यह अन्य भी शरीरके अशुचित्वमें हेतु है । जैसे—अशुचिभाजनत्वरूप हेतुसे भी यह शरीर अशुचि है; अशुचिभाजन इसका यह अर्थ है कि—अशुचि वस्तुओंका पात्र होनेसे शरीर अपवित्र है । अशुचि वस्तुओंका पात्र शरीर इस प्रकार है कि—कर्ण (कान), नासिका, नेत्र, तथा दांतोंके मल, प्रस्वेद (पसीना), कफ, पित्त, मूत्र तथा विष्ठा आदि मलोंका यह आश्रयस्थान है अत एव स्वयम् अपवित्ररूप ही है । और यह अन्य भी हेतु है कि—यह शरीर अशुच्युद्भव है; अशुच्युद्भव इसका यह अर्थ है कि—अशुचि जो नासिका नेत्र आदि सप्त ऊपरके छिद्रोंसे और दो नीचेके छिद्रोंसे मल उत्पन्न होते हैं उनका उद्भव अर्थात् उत्पत्तिस्थान है, अथवा अशुचि जो गर्भ है उससे यह शरीर उत्पन्न होता है. इस हेतुसे

१ श्लेष्माशय, पित्ताशय, तथा वायुका आशय ये तीन श्लेष्मा, पित्त, तथा वायु जिन तीन धातुओंसे शरीरकी स्थिति व क्रिया होती है उनके रहनेके स्थान विशेष हैं । ये तीनों भुक्त आहारको श्लेष्मास्थितिसे क्रमशः वीर्यदशातक पहुँचाते है ।

ही अशुचि है। और इस शरीरके अशुचि होनेमें अन्य हेतु यह भी है कि—यह अशुभपरिणाम पाकाऽनुबन्ध होनेसे भी अशुचि है; क्योंकि गर्भाशयमें बिन्दु अर्थात् वीर्यरूप बिन्दुके आधान (गर्भाधान) समयसे आरम्भ करके कलल (शुक्रशोणितके संयोगसे गर्भकी अवस्थाविशेष), अर्बुद (पिण्डाकार होनेको आरूढ), पेशी (मांसपिण्डाकार), घन (काठिन्ययुक्त मांसपिण्ड), व्यूह (हस्तपादआदिकी रचनासहित गर्भकी अवस्थाविशेष), सम्पूर्ण गर्भ, कौमार-यौवन, तथा स्थविर अर्थात् वृद्धमान आदिका जनक (उत्पादक) जो अशुभ परिणामविपाक है उससे अनुबद्ध (सम्बद्ध) दुर्गन्धयुक्त (सड़नेका स्वभाव होनेसे अति दुर्गन्धसहित) और दुःखमय अन्त होनेसे यह शरीर अशुचि है। और अन्य यह भी है कि अशक्य प्रतीकार (जिसका असाध्य उपाय है ऐसे) हेतुसे भी यह शरीर अशुचि (अपवित्र) है। अशक्यप्रतीकार इसका आशय यह है कि उबटनसे निर्मलीकरण, रूक्षण (रूखा करना), स्नान, अनुलेपन, धूप, प्रघर्षण (नखआदिसे घर्षण) औरसुगन्धित इतर तैल आदिके संयोग तथा पुष्पमाला धारण आदि युक्तियोंसे भी इस शरीरकी अपवित्रताको दूर नहीं कर सकते, क्योंकि यह अशुचिरूप ही है, और अपने सम्बन्धसे पवित्रताका उपघातक (नाशक) है। इसलिये पूर्वोक्त हेतुओंसे यह शरीर अशुचि है; ऐसा चिन्तन करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार शरीरको चिन्तन करनेवाले जीवको शरीरमें ग्लानि तथा वैराग्य उत्पन्न होता है। निर्वेद (ग्लानि वा वैराग्य) सहित होनेसे वह जीव शरीरके नाश तथा मोक्षकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करता है, इस रीतिसे यह षष्ठ अशुचित्वानुप्रेक्षा कही गई ॥ ६ ॥

आस्रवानिहामुत्रापाययुक्तान्महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णानकुशलागमकुशलनिर्गमद्वारभूतानिन्द्रियादीनवद्यतश्चिन्तयेत् । तद्यथा । स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्तचित्तः सिद्धोऽनेकविद्याबलसंपन्नोऽप्याकाशगोऽष्टाङ्गमहानिमित्तपारगो गार्ग्यः सत्यकिर्निधनमाजगाम । तथा प्रभूतयवसोदकप्रमाथावगाहादिगुणसंपन्नवनविचारिणश्च मदोत्कटा बलवन्तोऽपि हस्तिनो हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रियसक्तचित्ताग्रहणमुपगच्छन्ति । ततो बन्धवधदमनवाहनाङ्कुशपार्ष्णिप्रतोदाभिघातादिजनितानि तीव्राणि दुःखान्यनुभवन्ति । नित्यमेव स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्यानुस्मरन्ति तथा मैथुनसुखप्रसङ्गादाहितगर्भाश्वतरी प्रसवकाले प्रसवितुमशक्नुवन्ती तीव्रदुःखाभिहतावशा मरणमभ्युपैति । एवं सर्वे एव स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्ता इहामुत्र च विनिपातमृच्छन्तीति ॥ तथा जिह्वेन्द्रियप्रसक्ता मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगोढवायसवत् हैमनघृतकुम्भप्रविष्टमूषिकवत् गोष्ठप्रसक्तह्रदवासिकूर्मवत् मांसपेशीलुब्धश्येनवत् बडिशामिषगृद्धमत्स्यवच्चेति ॥ तथा घ्राणेन्द्रियप्रसक्ता ओषधिगन्धलुब्धपन्नगवत् पललगन्धानुसारिमूषिकवच्चेति ॥ तथा चक्षुरिन्द्रियप्रसक्ताः स्त्रीदर्शनप्रसङ्गादर्जुनकचोरवत् दीपालोकलोलपतङ्गवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत् । तथा श्रोत्रेन्द्रियप्रसक्तास्तित्तिरकपोतकपिञ्जलवत् गीतसंगीतध्वनिलोलमृगवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत् । एवं हि चिन्तयन्नास्रवनिरोधाय घटत इति आस्रवानुप्रेक्षा ॥ ७ ॥

इस लोक तथा परलोकमें भी विघ्नकारक, बड़ी २ नदियोंके प्रवाहके वेगसदृश अति उग्र (तेज वा भयङ्कर), अकुशल (मूर्ख) तथा शास्त्रकुशल पण्डितोंके भी, कर्मोंके निर्गम (आगमन)के द्वारभूत आस्त्रवरूप इंद्रियोंको, आत्माको कल्याणमार्गसे खण्डित करनेवाले चिन्तन करना चाहिये । अर्थात् "कर्मोंके आत्मामें अर्थात् प्रदेशमे आगमनके निमित्त-भूत इंद्रियां निन्दनीय पापकर्मोंमें आत्माको फँसाकर उसे कल्याणमार्गसे पृथक् (अलग) करदेती है ऐसा चिन्तन करना चाहिये" जैसे–स्पर्शन इद्रियमें आसक्तचित्त (फॅसाहुआ) अनेक विद्या तथा बलसम्पन्न (सहित) और अष्टाङ्गके महानियमोंके पारङ्गत होनेपर भी सत्यकि गार्ग्य मरणको प्राप्त हुआ तथा नानाप्रकारके अत्यन्त सघन वृक्ष, तृण, जल आदिके द्वारा महाक्लेशकारक गणोंसे सम्पन्न (सहित) वनोंमें विचरनेवाले मदोन्मत्त, अति उद्धत तथा बलवान् हाथी भी हांथियोंके बन्धनमें हेतुभूत दुष्ट हथिनियों (कृत्रिम वा यथार्थ)में स्पर्शन इन्द्रिय (उपस्थ वा शिष्ण)से आसक्त होनेसे ग्रहणदशाको प्राप्त होते है । और इससे (पकड़में आजानेके पीछे) बन्धन, मरण, निग्रह, वाहन (सवारीको वहन करना वा लेजाना) तथा अङ्कुशोंके द्वारा, गण्डस्थलोंमें छेदन भेदन आदि नाना-प्रकारके प्रहारों (चोटों)से उत्पन्न अति कठोर दुःखोंको सहन करते हैं । और सदा अपनी इच्छाके अनुसार अपने झुण्डके बनमें विचरने (भ्रमण करने)के सुख सहित वनवासको स्मरण किया करते हैं । और इसी रीति (स्पर्शन इन्द्रियके आनन्दमें फसने)–से मैथुनसुखके कारण गर्भ धारण करनेवाली अश्वतरी (खच्चरी)प्रसूति (बालकजनन) समयमें प्रसव न कर सकती हुई अतिभयङ्कर महादुःखसे पीडित व अवश होकर मरण अवस्थाको प्राप्त होती है । इसी प्रकार सभी जो स्पर्शन इन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय)के सुखमें आसक्त हो (फॅस)जाते है वे इसलोक तथा परलोकमें भी पतनको ही प्राप्त होते है । तथा इसी (पूर्वकथित) रीतिसे जो प्राणी जिह्वा इन्द्रियके सुखमें आसक्त हो (फँस) जाते हैं वे भी नदीमध्यस्थित मरे हुए हाथीके शरीरपर स्थित (विद्यमान) जलप्रवाहके वेगसे वाहित (बहे हुए) काक (कौवे)के समान, हेमन्तऋतुमें(जाड़े वा शीत कालमें) घृतके कुम्भ (घट वा घड़े)मे प्रविष्ट (घुसे हुए) घृतमे निमग्न (फॅसे) मूषक (चूहे)–के तुल्य, गोष्ठ (गौओंके निवासस्थान)में आसक्त ह्रदनिवासी कच्छप (कछुये) के सदृश, मांसके खण्ड (टुकड़े)के लोभी बाज पक्षीके समान, तथा कटिये वा वंशीमें लगे हुए मांस (वा पिष्ट आटा आदि)के लोभी मत्स्य (मछली) तुल्य मरणकोही प्राप्त होते है । और घ्राण इन्द्रियमे आसक्त (फँसे हुए) जन भी औषधके गन्धके लोभी सर्प (सॉप) के समान, मांसके गन्धके अनुगामी (मांसके गन्धको निश्चय करके उसके अनुसार चलनेवाले मूषक (चूहे)के तुल्य मृत्युकोही प्राप्त होते है । और इसी (प्रथम-कथित) रीतिके अनुसार नेत्र (आंख) इन्द्रियके आनन्दमें निमग्न (फॅसे हुए) स्त्रीके

दर्शन प्रसङ्गसे अर्जुन चोरके समान, तथा दीपके प्रकाशके लोभी पतङ्गके तुल्य पतन (मरण) कोही प्राप्त होते है। इस प्रकारका चिन्तन (विचार) करना चाहिये और इसी प्रकार कर्ण (श्रोत्र वा कान) इन्द्रियके विषयमें आसक्त तित्तिर (तीतर वा तीतल), कपोत (कवूतर), कपिल, और गीत तथा वाद्यकी ध्वनिके लोभी मृगके समान विनिपात (मरण)को प्राप्त होते है, ऐसा विचार करना चाहिये। इसप्रकार चिन्तन करता हुआ यह प्राणी आस्रवके निरोधके लिये समर्थ होता है। इसप्रकार यह सप्तमी आस्रवानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ७ ॥

संवरांश्च महाव्रतादिगुप्त्यादिपरिपालनाद्गुणतश्चिन्तयेत् । सर्वे ह्येते यथोक्तास्रवदोषाः संवृतात्मनो न भवन्तीति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतो मतिः संवरायैव घटत इति संवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

तथा गुप्ति (मनो, वाक्, काय)आदिके परिपालन रूप गुणोंसे पञ्च महाव्रत स्वरूप संवरोंका इस जीवको विचार करना चाहिये। क्योंकि जिसका आत्मा संवृत है अर्थात् जो संवरगुणसहित है उस जीवको आस्रवके जो सब दोष कहे गये हैं वे सभी नहीं होते ऐसा चिन्तन करना चाहिये। इस रीतिसे चिन्तन करनेवालेकी वुद्धि संवरके लिये समर्थ होती है, यह अष्टमी संवराऽनुप्रेक्षा व्याख्यात हुई ॥ ८ ॥

निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम् । स द्विविधोऽवुद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाको योऽवुद्धिपूर्वकस्तमुद्यतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुवन्ध इति । तपः-परीषहजयकृतः कुशलमूलः । तं गुणतोऽनुचिन्तयेत् । शुभानुवन्धो निरनुवन्धो वेति। एवमनुचिन्तयन्कर्मनिर्जरणायैव घटत इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥ ९ ॥

निर्जरा (एकदेश कर्मोका क्षय वा सामान्यरूपसे कर्मक्षय), वेदना (कर्मफलोंका अनुभव) तथा विपाक (कर्मोका फलयोग) ये सव एक अर्थवाचक शब्द है। वह निर्जरा अथवा विपाक दो प्रकार का है, एक तो अवुद्धि (अज्ञान) पूर्वक, और दूसरा कुशल (शुभाचरण) मूलक। इनमेंसे नरक आदिमें कर्मोके फलोंका जो विपाक (कर्मफलोंका अनुभव वा भोग) है उस सवको निन्दनीय समझै और यह चिन्तन करै कि यह सव अकुशल अर्थात् दुष्ट कर्मोंकाही अनुवन्ध (सम्वध वा फल) है। और द्वादश तप तथा द्वाविंशति (वाईस) परीषहजयसे जो किया है वह कुशलमूलक अर्थात् शुभाचरणसे उत्पन्न हुआ है। उसके गुणके अनुसार चिन्तन करै; कि यह शुभअनुवन्ध (शुभचारित्रोंसे सम्वन्ध रखनेवाला) है अथवा अनुवन्धरहित है। इस प्रकारसे चिन्तन करता हुआ प्राणी कर्मोके निर्जरण अर्थात् नाश करनेहीमें समर्थ होता है; इस रीतिसे यह नवम निर्जराऽनुप्रेक्षा व्याख्यात हुई ॥ ९ ॥

पञ्चास्तिकायात्मकं विविधपरिणाममुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलययुक्तं लोकं चित्रस्वभावमनुचिन्तयेन । एवं ह्यस्य चिन्तयतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवतीति लोकानुप्रेक्षा ॥ १० ॥

पञ्चास्तिकाय अर्थात् जीवास्तिकाय आदि पञ्चास्तिकाय स्वरूप अनेक प्रकारके परिणामों (परिवर्तनों) से संयुक्त, तथा उत्पत्ति, स्थिति, अन्यभावकी प्राप्ति, तथा नाशसे युक्त यह संसार है ऐसा चिन्तन करै। इस प्रकार विचार करते हुए इस जीवकी तत्त्वज्ञानकी परिशुद्धता होती है। यह इस रीतिसे दशम लोकाऽनुप्रेक्षा व्याख्यात हुई ॥ १० ॥

अनादौ संसारे नरकादिषु तेषु भवग्रहणेष्वनन्तकृत्वः परिवर्तमानस्य जन्तोर्विविधदुःखाभिहतस्य मिथ्यादर्शनाद्युपहतमतेर्ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायोदयाभिभूतस्य सम्यग्दर्शनादिविशुद्धो बोधिदुर्लभो भवतीत्यनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य बोधिदुर्लभत्वमनुचिन्तयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

अनादिकालसे सिद्ध इस संसारमें, नरक आदिमें, उन २ जन्मोंके धारण करने, अनन्तवार भ्रमण करते हुए, अनेक प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित, मिथ्यादर्शन आदिसे नष्ट बुद्धिवाले, तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और अन्तरायभूत कर्मोंके उदयसे पराजित इस जीवको सम्यग्दर्शन आदिसे सर्वथा शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति अतिदुर्लभ है ऐसा चिन्तन करै। इस रीतिसे बोधिदुर्लभताका निरन्तर अनुचिन्तन करतेहुए इस जीवको बोधिकी प्राप्ति होती है, और बोधिको प्राप्त करनेसे प्रमाद अर्थात् अशुभाचरण नहीं होता, इस प्रकारसे यह एकादश **बोधिदुर्लभत्वाऽनुप्रेक्षा** वर्णित हुई ॥ ११ ॥

सम्यग्दर्शनद्वारः पञ्चमहाव्रतसाधनो द्वादशाङ्गोपदिष्टतत्त्वो गुप्त्यादिविशुद्धव्यवस्थानः संसारनिर्वाहको निःश्रेयसप्रापको भगवता परमर्षिणार्हताहो व्याख्यातो धर्म इत्येवमनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य धर्मस्वाख्याततत्त्वमनुचिन्तयतो मार्गाच्च्यवने तदनुष्ठाने च व्यवस्थानं भवतीति धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनानुप्रेक्षा ॥ १२ ॥

सम्यग्दर्शनका द्वारभूत, अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका द्वार (दरवाजा), पञ्चमहाव्रतरूप साधनोंसे संयुक्त, द्वादश (बारह) अङ्गोंसे युक्त, सब जीव आदि तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला, गुप्ति आदिके अतिशुद्ध व्यवस्थान (व्यवस्था वा मर्य्यादा) सहित, संसारसे पार उतारनेवाला (अथवा संसारनाशक), तथा मोक्षका प्रापक, भगवान् परमर्षि अर्हत्करके कथित धर्म कैसा उत्तम है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा चिन्तन सदा करना चाहिये। इस प्रकारसे धर्मसे कथित तत्त्वको अनुचिन्तन करते हुए इस जीवका मार्ग (धर्ममार्ग) से पतन न होने तथा धर्ममार्गके अनुकूल अनुष्ठान करनेमे व्यवस्थिति होती है। इस रीतिसे यह द्वादश **धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा** समाप्त हुई ॥ १२ ॥ ७ ॥

उक्ता अनुप्रेक्षाः। परीषहान्वक्ष्यामः।

अनुप्रेक्षाओंको कहचुके, अब इसके पश्चात् परीषहोंको कहैंगे।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गादच्यवनार्थं कर्मनिर्जरार्थं च परिषोढव्याः परीषहा इति। तद्यथा।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सन्मार्गसे न गिरने तथा कर्मोंकी निर्जरा(नाश)के लिये परीषहों (अनेक प्रकारके उपद्रवों वा पीड़ाओं)को सहन करना चाहिये। अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि जो मोक्षमार्ग है उससे अच्यवन (न गिरने) के अर्थ तथा कर्मोंकी निर्जरा (एकदेशी नाश)के अर्थ वक्ष्यमाण द्वाविंशति (२२ बाईस) परीषहोंको सहन करना चाहिये ॥८॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ९

भाष्यम्—क्षुत्परीषहः पिपासा शीतम् उष्णं दंशमशकं नाग्न्यम् अरतिः स्त्रीपरीषहः चर्यापरीषहः निषद्या शय्या आक्रोशः वधः याचनम् अलाभः रोगः तृणस्पर्शः मलं सत्कारपुरस्कारः प्रज्ञाज्ञानेऽदर्शनपरीषह इत्येते द्वाविंशतिर्धर्मविघ्नहेतवो यथोक्तं प्रयोजनमभिसंधाय रागद्वेषौ निहत्य परीषहाः परिषोढव्या भवन्ति।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—क्षुत्परीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, नाग्न्यपरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, चर्य्यापरीषह, निषद्यापरीषह, शय्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, वधपरीषह, याचनपरीषह, अलाभपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, मलपरीषह, सत्कारपुरस्कारपरीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, तथा अदर्शनपरीषह; ये बाईस परीषह धर्ममें विघ्नके कारण हैं; इन परीषहोंको, शास्त्रमें कहे हुए प्रयोजनोंको मनमें अनुसंधान (लक्ष्य) करके और राग-द्वेषको दूर कर सहन करना चाहिये॥

पञ्चानामेव कर्मप्रकृतीनामुदयादेते परीषहाः प्रादुर्भवन्ति। तद्यथा। ज्ञानावरणवेदनीयदर्शनचारित्रमोहनीयान्तरायाणामिति।

पांचो कर्मप्रकृतियोंके उदयसे ये परीषह (उपद्रव वा पीड़ा अथवा कष्ट) उत्पन्न होते हैं। पाचो कर्मप्रकृतिया क्रमसे ए है ज्ञानावरणीय, वेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, तथा अन्तराय ॥ ९ ॥

सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

सूक्ष्मसंपरायसंयते छद्मस्थवीतरागसंयते च चतुर्दश परीषहा भवन्ति क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याप्रज्ञाज्ञानालाभशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलानि।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सूक्ष्मसंपरायसंयत, तथा छद्मस्थवीतरागसंयत गुणस्थानवर्तीमें चौदह परीषह होते हैं; जैसे—क्षुत्परीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्य्यापरीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, अलाभपरीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, तथा मलपरीषह, ये चतुर्दश (चौदह १४) परीषह इन दोनों गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

भाष्यम्—एकादश परीषहाः संभवन्ति जिने वेदनीयाश्रयाः। तद्यथा। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः।

सूत्रार्थ-विशेषव्याख्या—वेदनीय कर्मप्रकृतिके आश्रयीभूत एकादश (ग्यारह ११) परीषह जिन (भगवान्) में हो सकते हैं उनके नाम ये हैं। क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, तथा मलपरीषह, इन ग्यारह परीषहोंका संभव जिन भगवानमें भी है ॥ ११ ॥

बादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—बादरसंपरायसंयते सर्वे द्वाविंशतिरपि परीषहाः संभवन्ति ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—बादर-संपराय-संयत गुणस्थानवर्ती जीवमें सब अर्थात् क्षुत्पिपासा आदि २२ बाईसो परीषह होसकते हैं ॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणोदये प्रज्ञाज्ञानपरीषहौ भवतः ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृतिके उदयमें प्रज्ञापरीषह तथा अज्ञानपरीषह होते हैं ॥ १३ ॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

भाष्यम्—दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ यथासङ्ख्यं दर्शनमोहोदयेऽदर्शनपरीषहः लाभान्तरायोदयेऽलाभपरीषहः ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—दर्शनमोह तथा अन्तराय नाम कर्मप्रकृतियोंके उदयमें यथासंख्य (क्रम) से दर्शनपरीषह तथा अलाभपरीषह होते है। अर्थात् दर्शनमोह प्रकृतिके उदयमें तो अदर्शनपरीषह (दर्शनाभाव) होता है और लाभाऽन्तरायके उदयमें अलाभपरीषह होता है ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः१५

भाष्यम्—चारित्रमोहोदये एते नाग्न्यादयः सप्त परीषहा भवन्ति ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—चारित्रमोहनीय कर्मप्रकृतिके उदयमे नाग्न्य आदि सप्त (सात) परीषह होते है। अर्थात् चारित्रमोहनीय प्रकृति जब उदयको प्राप्त होती है तब नाग्न्यपरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषद्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, याचनापरीषह, तथा सत्कारपुरस्कारपरीषह होते है ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—वेदनीयोदये शेषा एकादश परीषहा भवन्ति ये जिने संभवन्तीत्युक्तम् । कुतः शेषाः । एभ्यः प्रज्ञाज्ञानादर्शनालाभनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारेभ्य इति ।

सूत्रार्थ-विशेषव्याख्या—वेदनीय कर्मप्रकृतिके उदयमें शेष (बाकी) परीषह जो कि जिन भगवान्में होते है वे होते हैं इनमें शेषत्व कहांसे है इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानावरण

प्रकृतिके उदयमें प्रज्ञा तथा अज्ञान, दर्शनमोहनीय तथा अन्तरायके उदयमें अदर्शन तथा अलाभ चार ये, और चारित्रमोहनीयके उदयमें नाग्न्य आदि सात=४+७=११ । अर्थात् प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचन, और सत्कार-पुरस्कार इन ग्यारहसे जो शेष ग्यारह रह गये वे वेदनीय कर्मप्रकृतिके उदयमें जो कि जिनमें कहे गये है, होते हैं ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—एषां द्वाविंशतेः परीषहाणामेकादयो भजनीया युगपदेकस्मिन् जीवे आ एकोनविंशतेः । अत्र शीतोष्णपरीषहौ युगपन्न भवतः । अत्यन्तविरोधित्वात् । तथा चर्याशय्यानिषद्यापरीषहाणामेकस्य संभवे द्वयोरभावः ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—इन बाईस २२ परीषहोंके मध्यमें एकही कालमें एक पुरुषमें एक आदिका विभाग करना उचित है। अर्थात् एकही समय एक पुरुषमें एकसे लेकर उन्नीस १९ तक होसकते है। तात्पर्य्य यह कि किसीमें एक परीषह होता है किसीमें दो, किसीमें तीन, इस क्रमसे उन्नीसपर्य्यन्त होसकते हैं। परन्तु यहांपर यह भी जानना योग्य है कि एक कालमे एकही पुरुषमें शीतपरीषह तथा उष्ण परीषह ये दोनों नहीं होते, क्योंकि शीत तथा उष्णका परस्पर अत्यन्त विरोध है। ऐसे ही चर्य्या, शय्या, तथा निषद्या, इन तीन परीषहोंमेंसे जब एककी सत्ताका सम्भव होता है तब शेष दोनोंका अभावही रहता है; क्योंकि चर्य्या (गति), शय्या (शयन) और निषद्या (स्थिति), इनमें भी विरोध होनेसे जब गमन होगा, तब शयन तथा स्थिति वा निषद्या (खड़ा होना) नहीं होसकता। इसीप्रकार जब शय्या होगी तब निषद्या तथा चर्य्या न होगी, तथा जब चर्य्या होगी तब निषद्या तथा शय्या न होगी ॥ १७ ॥

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥

सामायिकसंयम. छेदोपस्थाप्यसंयमः परिहारविशुद्धिसंयमः सूक्ष्मसंपरायसंयमः यथाख्यातसंयम इति पञ्चविधं चारित्रम् तत्पुलाकादिषु विस्तरेण वक्ष्यामः ।

सूत्रार्थ—सामायिकसंयम, छेदोपस्थाप्यसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसंपरायसंयम. और यथाख्यातसंयम, यह पांच प्रकारका चारित्र है । पुलाकादिप्रकरणमे इन चारित्रोंको विस्तारपूर्वक कहेंगे ॥ १८ ॥

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—अनशनादि छे प्रकारका बाह्य तप है ।

भाष्यम्—अनशनम् अवमौदर्यं वृत्तिपरिसंख्यानं रसपरित्यागः विविक्तशय्यासनता काय-

क्लेश इत्येतत्षड्विधं वाह्यं तपः सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यतः प्रभृति सम्यगित्यनुवर्तते । संयम-रक्षणार्थं कर्मनिर्जरार्थं च चतुर्थषष्ठाष्टमादि सम्यगनशनं तपः ॥

विशेषव्याख्या—अनशन (भोजनाभाव अथवा उपवास), अवमौदर्य्य (न्यूनाहारता), वृत्तिपरिसंख्यान (जीविकाका नियम), रसपरित्याग (उत्तम स्वादिष्ट पदार्थोंका त्याग), विविक्तशय्यासनता (एकान्तमें शयन तथा आसन) और कायक्लेश (शरीरको क्लेश देना) यह छः प्रकारका बाह्य तप है । '**सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः**' (अध्या० ९ सू० ४) इस सूत्रसे यहांपर "**सम्यक्**" इस पदकी अनुवृत्ति होती है; अर्थात् सम्यक् पद इस सूत्रमें आता है । इससे यह अर्थ है कि जो संयमकी रक्षाके लिये तथा कर्मोंकी निर्जरा (हानि वा नाश)के लिये चतुर्थ, षष्ठ (छठे) वा अष्टम आदि समयोंमें उपवास करना है वह सम्यक् अनशन (उत्तम उपवास) रूप बाह्य तप है ।

अवमौदर्यम् अवममित्यूननाम । अवममुदरमस्य अवमोदरः अवमोदरस्य भावः अवमौदर्यम् । उत्कृष्टावकृष्टौ वर्जयित्वा मध्यमेन कवलेन त्रिविधमवमौदर्यं भवति । तद्यथा । अल्पाहारावमौदर्यमुपार्धावमौदर्यं प्रमाणप्राप्तात्किंचिदूनावमौदर्यमिति कवलपरिसङ्ख्यानं च प्राग्द्वात्रिंशद्भ्यः कवलेभ्यः ॥

अवमौदर्य्य "अवम" यह न्यून (कम) वाची नाम है, अर्थात् अवम इसका अर्थ न्यून है, इस लिये अवम (न्यून) अर्थात् खाली है उदर पेट जिसका वह अवमोदर है और अवमोदरका जो भाव है वह अवमौदर्य्य है । अर्थात् उदरका भारीपन न होना । उत्कृष्ट तथा अवकृष्टको अर्थात् सर्वोत्कृष्टता तथा सर्व न्यूनताको त्यागकर मध्य कवल (मध्यम कवलाहार) से तीन प्रकारका अवमौदर्य्य होता है । जैसे—अल्पाहार अवमौदर्य्य (अल्प भोजनसे पेटका हलकापना), उपार्धावमौदर्य्य (अर्द्धभोजनसे अवमौदर्य्य), तथा प्रमाणसे जो प्राप्त है उससे अवमौदर्य्य (पेटकी न्यूनता) और इसमें कवलों (ग्रासों) की परिसंख्या (गणना) करनी होती है, जैसे बत्तीस कवलोंसे न्यून आहार करना ।

वृत्तिपरिसङ्ख्यानमनेकविधम् । तद्यथा । उत्क्षिप्तान्तप्रान्तचर्यादीनां सक्तुकुल्माषौदनादीनां चान्यतममभिगृह्यावशेषस्य प्रत्याख्यानम् ॥

तृतीय वृत्तिपरिसङ्ख्यानरूप बाह्य तप अनेक प्रकारका है । जैसे उत्क्षिप्त, तथा प्रान्त, चर्य्या आदिमेंसे, और सक्तु (सत्तू), कुलमाष, अर्द्धपरिपक्व गेहूँ चने आदि मिश्रित (मिलित अन्न) तथा ओदन (भात) इनमेसे किसी एकको ग्रहण करके दूसरोंका त्याग ।

रसपरित्यागोऽनेकविधः । तद्यथा । मद्यमांसमधुनवनीतादीनां रसविकृतीनां प्रत्याख्यान-विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च ॥

ऐसेही रसपरित्याग चतुर्थ बाह्य तप भी अनेक प्रकारका है । जैसे—मद्य, मांस, मधु, तथा स्त्री आदि रसविकारोंका त्याग, और कुरस रूक्ष आदि पदार्थोंका ग्रहण करना । तथा पञ्चम बाह्य तप विविक्त शय्यासनता है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि एकान्त सव-

प्रकारकी बाधाओंरहित, संसर्गशून्य तथा स्त्री, पशु और नपुंसक जीवोंसे वर्जित, जो शून्य गृह, देवालय, सभा तथा पर्वतकी गुहा (गुफा) है, इनमेंसे किसी एकका समाधिके लिये आश्रय लेना, अर्थात् इन स्थानोंमेंसे किसी एकमें निवास करके समाधिमें निमग्न रहना ॥

विविक्तशय्यासनता नाम एकान्तेऽनाबाधेऽसंसक्ते स्त्रीपशुषण्डकविवर्जिते शून्यागार-देवकुलसभापर्वतगुहादीनामन्यतमे समाध्यर्थं संलीनता ॥

कायक्लेशोऽनेकविधः । तद्यथा । स्थानवीरासनोत्कडुकासनैकपार्श्वदण्डायतशयनातापनाप्रावृतादीनि सम्यक्प्रयुक्तानि बाह्यं तपः । अस्मात्षड्विधादपि बाह्यात्तपसः सङ्गत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति ॥

षष्ठ बाह्य तप कायक्लेश भी अनेक प्रकारका है । जैसे, स्थान (कायक्लेशदायक किसी प्रकारकी स्थिति), वीरासन (आसनविशेष), उत्कडु (डु) क आसन, पार्श्व तथा दण्डायत शयन, घर्म (घाम वा धूप) स्थानमें स्थिति, तथा आवरण (छप्पर) आदि वृष्टि आदिके निरोध करनेके पदार्थोंसे वर्जित स्थानमें निवास आदि, ये सब उत्तम रूपसे किये हुए बाह्य तप हैं । इस छः प्रकारके भी बाह्य तपसे संगका त्याग, शरीरकी लघुता, इन्द्रियोंका जीतना, संयमोंकी रक्षा और कर्मनिर्जरारूप फल होते हैं ॥ १९ ॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरमित्यभ्यन्तरमाह । प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानमित्येतत्षड्विधमाभ्यन्तरं तपः ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सूत्रके क्रमके प्रमाणसे उत्तरके जो तप हैं वे आभ्यन्तर हैं ऐसा कहते हैं । तात्पर्य्य यह है कि अनशन आदि जो छः तप बाह्य कहे हैं उनके उत्तर (आगे) के प्रायश्चित्त आदि छः तप आभ्यन्तर (भीतर) आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले, अथवा अनशन आदि षट् बाह्य (बहिरङ्ग) तप है, और उनके उत्तरके प्रायश्चित्त आदि छः आभ्यन्तर (अन्तरङ्ग) हैं । वे क्रमसे प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, तथा ध्यान ये ६ आभ्यन्तर तप हैं ॥ २० ॥

नवचतुर्दशपंचद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—तदाभ्यन्तरं तपः नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं भवति यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । तद्यथा ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—वह आभ्यन्तर तप ध्यानके पूर्व नव (नौ), चार, दश, पांच तथा द्वि (दो) भेद सहित यथाक्रमसे जानना चाहिये, अर्थात् प्रायश्चित्त ९ भेद सहित है, विनय ४ भेद, वैयावृत्त्य १० भेद, स्वाध्याय ५ भेद, तथा व्युत्सर्ग २ भेदसहित है । अब इसके अनन्तर इन भेदोंको कहेंगे । जैसेः—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥

भाष्यम्—प्रायश्चित्तं नवभेदम् । तद्यथा । आलोचनं प्रतिक्रमणं आलोचनप्रतिक्रमणे विवेकः व्युत्सर्गः तपः छेदः परिहारः उपस्थापनमिति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—प्रायश्चित्त नामक आभ्यन्तर तप नौ ९ भेद सहित है। जैसे–आलोचन १ प्रतिक्रमण २ आलोचनप्रतिक्रमण ३ विवेक ४ व्युत्सर्ग ५ तप ६ छेद ७ परिहार ८ और उपस्थापन ९ ॥

आलोचनं प्रकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम् । प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतसंप्रयुक्तः प्रत्यवमर्शः प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गकरणं च । एतदुभयमालोचनप्रतिक्रमणे । विवेको विवेचनं विशोधनं प्रत्युपेक्षणमित्यनर्थान्तरम् । स एष संसक्तान्नपानोपकरणादिषु भवति । व्युत्सर्गः प्रतिष्ठापनमित्यनर्थान्तरम् । एषोऽप्यनेषणीयान्नपानोपकरणादिष्वशङ्कनीयविवेकेषु च भवति । तपो बाह्यमनशनादि प्रकीर्णं चानेकविधं चन्द्रप्रतिमादि । छेदोऽपवर्तनमपहार इत्यनर्थान्तरम् । स प्रव्रज्यादिवसपक्षमाससंवत्सराणामन्यतमानाम् भवति । परिहारो मासिकादिः । उपस्थापनं पुनर्दीक्षणं पुनश्चरणं पुनर्व्रतारोपणमित्यनर्थान्तरम् । तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशं कालं शक्तिं संहननं संयमविराधनां च कायेन्द्रियजातिगुणोत्कर्षकृतां च प्राप्य विशुद्ध्यर्थं यथार्हं दीयते चाचर्यते च । चिती संज्ञानविशुद्ध्योर्धातुः तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौणादिकं च ॥

एवमेभिरालोचनादिभिः कृच्छ्रैस्तपोविशेषैर्जनिताप्रमादः तं व्यतिक्रमं प्रायश्चेतयति चेतयंश्च न पुनराचरतीति । ततः प्रायश्चित्तम् । अपराधो वा प्रायस्तेन विशुध्यत इति । अतश्च प्रायश्चित्तमिति ॥

आलोचन, प्रकटन (लोगोंको अपना कृत्य प्रकट करदेना), प्रकाशन, आख्यान, तथा प्रादुष्करण, ये सब एकार्थवाचक अर्थात् पर्य्यायशब्द हैं १ । प्रतिक्रमण–मिथ्या पापके कारणसे आलोचना, अर्थात् मिथ्या दुष्कृतके कारणसे जो अवमर्श वा परामर्श वा आलोचना और उसका प्रत्याख्यान (त्याग) तथा शरीरत्याग है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं २ और इन पूर्वोक्त दोनोंको मिलाके आलोचन प्रतिक्रमण कहते हैं ३ । और, विवेक विवेचन, विशोधन, तथा प्रत्युपेक्षण ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं । अर्थात् किसी विषयके विवेचन अथवा विशेष शोधनको विवेक कहते हैं ४ । और यह विवेक वा विवेचन संसक्त अर्थात् मिलित वा किसीसे सम्बद्ध अन्न, पान तथा वस्त्र आदि सामग्रियोंके विषयमें होता है । तथा व्युत्सर्ग और प्रतिष्ठापन ये दोनों शब्द भी एक अर्थके वाचक हैं, अर्थात् प्रतिष्ठापनको व्युत्सर्ग कहते है ५ । यह भी अभिलाषा न करनेके योग्य अन्न (भोजन), पान तथा अन्य प्रकारकी सामग्रियोंके विषयमे तथा अशङ्कनीय (शङ्का न करने योग्य) वा अशक्य विवेकोंके विषयमें होता है । तथा अनशन आदि बाह्य और

प्रकीर्णक चन्द्र प्रतिमा आदि तप ६ रूप प्रायश्चित्त अनेक प्रकारका है। और छेद, अपवर्तन तथा अपहार इन शब्दोंके भी एकही अर्थ है। और यह छेद वा अपवर्तनरूप प्रायश्चित्त भी प्रवज्या (गमन), दिन, पक्ष, मास (महीना) तथा वर्ष इनमेंसे किसीमें होता है ७। मासिकादि परिहार तथा त्याग है ८। उपस्थापन, पुनर्दीक्षण (फिरसे दीक्षा ग्रहण करनी), पुनश्चरण (पुनः करना) तथा पुनर्व्रतारोपण ये सब भी एकार्थबोधक शब्द है ९ यह सब नौ ९ प्रकारके प्रायश्चित्त देश, काल, शक्ति, संहनन (शरीरके रचना विशेषसे सामर्थ्य), व संयमकी विराधनाको तथा शरीर, इन्द्रिय, जाति, और गुणसे उत्पन्न उत्कर्षता (अधिकता वा उत्तमता) को पाकर शुद्धताके लिये यथायोग्य दिये जाते है और किये भी जाते हैं। "चिती" संज्ञाने यह सम्यग् ज्ञान व विशुद्धि अर्थमें धातु है, उस (चिती धातु)से निष्ठाक्त (त) प्रत्यय करनेसे अथवा उणादि 'त' प्रत्यय करनेसे "चित्त" यह शब्द सिद्ध होता है। तो इससे यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि इन पूर्वोक्त आलोचन आदि ९ प्रकारके क्लेशरूप प्रायश्चित्त नामक विशेष तपोंसे जिसको अप्रमाद अर्थात् सावधानता प्राप्त हुई ऐसा पुरुष व्यतिक्रम (निषिद्धाचरण) को प्रायः जान जाय, और जानकर पुनः उनको जिसके द्वारा नहीं करता उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रायश्चित्त शब्दसे अपराधका ग्रहण है तो जिसके द्वारा अपराधोंसे शुद्ध हों इस कारणसे वह प्रायश्चित्त कहा जाता है॥ २२॥

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

विनयश्चतुर्भेदः। तद्यथा। ज्ञानविनयः दर्शनविनयः चारित्रविनयः उपचारविनयः। तत्र ज्ञानविनयः पञ्चविधः मतिज्ञानादिः। दर्शनविनयः एकविध एव सम्यग्दर्शनविनयः। चारित्रविनयः पञ्चविधः सामायिकविनयादिः। औपचारिकविनयोऽनेकविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राधिगुणाधिकेष्वभ्युत्थानासनप्रदानवन्दनानुगमादिः विनीयते तेन तस्मिन्वा विनयः॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—विनयरूप आभ्यन्तर तप चार प्रकारका है। जैसे—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। इनमेंसे ज्ञानविनय पांच प्रकारका है। जैसे—मतिज्ञान विनय, श्रुतज्ञान विनय, अवधिज्ञान विनय, मनःपर्य्ययज्ञान विनय, तथा केवलज्ञान विनय। और दर्शनविनय एकही प्रकारका है; जैसे—सम्यग्दर्शन विनय। चारित्रविनय पांच प्रकारका है जैसे—सामायिक, संयमचारित्र विनय, छेदोपस्थाप्य संयमचारित्र विनय, परिहारविशुद्धि संयमचारित्र विनय, सूक्ष्मसंयम चारित्र विनय, तथा यथाख्यात संयम चारित्र विनय। और औपचारिक विनय अनेक प्रकारका है। जैसे—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तथा चारित्र आदि गुणोंमे जो अधिक महात्मा जन हैं उनके विषयमे अभ्युत्थान विनय (उनको देखके खड़े होजाना), आसनप्रदान विनय (उनको आसन देना), वन्दना

१ प्रायश्छिन्दन्ति येन तत्प्रायश्चित्तम्।

विनय और अनुगमनादि विनय (उनके चलते समय कुछ दूरतक पीछे चलना इत्यादि) ॥ २३ ॥

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

भाष्यम्—वैयावृत्त्यं दशविधं । तद्यथा । आचार्यवैयावृत्त्यं उपाध्यायवैयावृत्त्यं तपस्विवैयावृत्त्यं शैक्षकवैयावृत्त्यं ग्लानवैयावृत्त्यं कुलवैयावृत्त्यं गणवैयावृत्त्यं सङ्घवैयावृत्त्यं साधुवैयावृत्त्यं समनोज्ञवैयावृत्त्यमिति । व्यावृत्तभावो वैयावृत्त्यं व्यावृत्तकर्म च । तत्राचार्यः पूर्वोक्तः पञ्चविधः । आचारगोचरविनयं स्वाध्यायं वाचार्यादनु तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्यायः । सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहार्थं चोपाधीयते सङ्ग्रहादीन् । वास्योपाधीतइत्युपाध्यायः । द्विसङ्ग्रहो निर्ग्रन्थ आचार्योपाध्यायसङ्ग्रहः । त्रिसङ्ग्रहा निर्ग्रन्थी आचार्योपाध्यायप्रवर्तिनीसङ्ग्रहा । प्रवर्तिनी दिगाचार्येण व्याख्याता । हिताय प्रवर्तते प्रवर्तयति चेति प्रवर्तिनी । विकृष्टोग्रतपोयुक्तस्तपस्वी । अचिरप्रव्रजितः शिक्षयितव्यः शिक्षः शिक्षामर्हतीति शैक्षो वा । ग्लानः प्रतीतः । गणः स्थविरसन्ततिसंस्थितिः । कुलमाचार्यसंततिसंस्थितिः । सङ्घश्चतुर्विधः श्रमणादिः । साधवः संयताः । संभोगयुक्ताः समनोज्ञाः । एषामन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारादिभिर्धर्मसाधनैरुपग्रहः शुश्रूषा भेषजक्रिया कान्तारविषमदुर्गोपसर्गेष्वभ्युपपत्तिरित्येतदादि वैयावृत्त्यम् ॥

सूत्रार्थ—वि० व्या०—वैयावृत्त्य नाम आभ्यन्तर तप दश प्रकारका है। जैसे आचार्य्यवैयावृत्त्य १ उपाध्यायवैयावृत्त्य २ तपस्विवैयावृत्त्य ३ शैक्षक वा शिक्षकवैयावृत्त्य ४ ग्लानवैयावृत्त्य ५ गणवैयावृत्त्य ६ कुलवैयावृत्त्य ७ सङ्घवैयावृत्त्य ८ साधुवैयावृत्त्य ९ और समनोज्ञवैयावृत्त्य १० । व्यावृत्त अर्थात् सेवा शुश्रूषामें तत्पर उसका जो भाव अथवा कर्म है उसको वैयावृत्त्य कहते हैं । उनमें आचार्य्य पांच प्रकारके होते है, यह प्रथम कहचुके हैं । इससे आचार्य्य आदिकी सेवा चाकरी यह आचार्य्यवैयावृत्त्यका तात्पर्य्य है । अतएव आचार्य्यविषयक जो विनय है अथवा आचार्य्यसे विनयपूर्वक स्वाध्याय यह आचार्य्य—वैयावृत्त्य है । और जिसके समीप आके पढ़ैं वह उपाध्याय है । अथवा संग्रह आदि जिसके निकट आके पढ़ैं वह उपाध्याय है । संग्रह आदि ये है, जैसे द्विसंग्रह, निर्ग्रन्थ, आचार्य्योपाध्यायसंग्रह, तथा त्रिसंग्रह, निर्ग्रन्थी, आचार्य्योपाध्यायप्रवर्तिनी संग्रहा । यह प्रवर्तिनी आदिक आचार्य्यसे ही व्याख्यात है । हितके लिये जो स्वयं प्रवृत्त हो अथवा दूसरेको प्रवृत्त करै वह प्रवर्तिनी अर्थात् प्रवृत्त करानेवाली है। और अतिकठोर अथवा उत्तम तथा उग्र (तीव्र) तप करके जो युक्त हो वह तपस्वी है, उस तपस्वीके लिये जो वैयावृत्त्य है, अर्थात् तपस्वियोंके अर्थ जो विनय सेवादि है वह तपस्विवैयावृत्त्य है । थोड़े कालसे जिसने संन्यास लिया है तथा जो शिक्षाके योग्य है वह शिक्ष है, अथवा जो शिक्षाके योग्य है वह शैक्ष है उसके

विषयमें जो वैयावृत्त्य है वह शैक्षवैयावृत्त्य है। ग्लानका अर्थ ज्ञातही है, अर्थात् जो ग्लानि करनेयोग्य है उसके अर्थ वैयावृत्त्य। गणपदसे यहांपर स्थविरों (वृद्धों) की सन्ततिकी संस्थितिका ग्रहण है उसका वैयावृत्त्य। और कुलसे आचार्य्योंकी सन्ततिकी संस्थितिका ग्रहण है। उसका वैयावृत्त्य। सङ्घ श्रमण आदि चार प्रकारका है। उसका वैयावृत्त्य। साधु शब्द करके जो संयमसहित हैं उनका ग्रहण है, उन साधुओंका जो वैयावृत्त्य है वह साधुवैयावृत्त्य है। और संभोग करके जो युक्त हैं, वे समनोज्ञ हैं, उनका जो वैयावृत्त्य है वह समनोज्ञवैयावृत्त्य है। इन आचार्य्य उपाध्याय आदिकी अन्न (भोजन), पान (जलसम्प्रदान आदि), वस्त्र, पात्र (कमण्डलु तथा अन्य पात्र आदि), स्थान, आसन तथा विस्तर (बिछोना आदि), धर्मसाधनोंके सम्प्रदान आदिसे सेवा शुश्रूषा, ओषध आदि दान, वन वा अन्य दुर्गम स्थानोंमें तथा अन्य प्रकारके दुःखोंमें सेवा करनी; इत्यादि सब वैयावृत्त्य है ॥ २४ ॥

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—स्वाध्यायः पञ्चविधः। तद्यथा। वाचना प्रच्छनं अनुप्रेक्षा आम्नायः धर्मोपदेश इति। तत्र वाचनं शिष्याध्यापनम्। प्रच्छनं ग्रन्थार्थयोः। अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाभ्यासः। आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं रूपदानमित्यर्थः। अर्थोपदेशो व्याख्यानमनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—स्वाध्याय नामक चतुर्थ आभ्यन्तर तप पांच प्रकारका है। जैसे—वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, तथा धर्म्मोपदेश। इनमें वाचनासे शिष्योंको शास्त्रोंका अध्यापन अर्थात् शास्त्रोंका पढ़ाना विवक्षित है। प्रच्छन अर्थात् ग्रन्थके अर्थ तथा पाठको प्रश्नपूर्वक जान लेना। अनुप्रेक्षासे ग्रन्थ और अर्थका अपने मनसे अभ्यास करना अर्थात् ग्रन्थको अर्थपाठसहित मनन करना यह तात्पर्य्य है। आम्नायसे घोषविशुद्ध परिवर्तन (शुद्ध पाठका परिवर्तन) गुणनरूप दानसे यहांपर तात्पर्य्य है। तथा अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोगवर्णन और धर्म्मोपदेश, ये सब एकार्थवाची अर्थात् पर्य्यायवाचक शब्द हैं। तात्पर्य्य यह है कि धर्म्मोपदेशसे यहांपर धर्म्मका व्याख्यान सबको श्रवण करना अभीष्ट है ॥ २५ ॥

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—व्युत्सर्गो द्विविधः बाह्य आभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्यो द्वादशरूपकस्योपधेः। आभ्यन्तरः शरीरस्य कषायाणां चेति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—पञ्चम व्युत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तप दो प्रकारका है। बाह्य तथा आभ्यन्तर। इनमें बाह्य तो द्वादशरूपक उपाधिसम्बन्धी है। और आभ्यन्तर शरीर तथा कषायों (क्रोधमानादि) से सम्बन्ध रखता है ॥ २६ ॥

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

भाष्यम्—उत्तमसंहननं वज्रर्षभमर्धवज्रनाराचं च । तद्युक्तस्यैकाग्रचिन्तानिरोधश्च ध्यानम् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—वज्र, ऋषभ, अर्द्धवज्र तथा नाराच यह उत्तम संहनन है । उस उत्तम संहनन (शरीर–अवयव–संस्थानविशेष) करके युक्त जो प्राणी है उसका एकाग्र रूपसे जो चिन्ताका निरोध अर्थात् सांसारिक चिन्ताओंका त्याग है उसको ध्यानरूप षष्ठ अभ्यन्तर तप समझना चाहिये ॥ २७ ॥

आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥

भाष्यम्—तद्ध्यानमामुहूर्ताद्भवति परतो न भवति दुर्ध्यानत्वात् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—वह ध्यान मुहूर्तकालके अभ्यन्तरमें ही होता है न कि परे, क्योंकि मुहूर्तसे परे दुर्ध्यान (दुष्टध्यान) होजाता है ॥ २८ ॥

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ॥ २९ ॥

भाष्यम्—तच्चतुर्विधं भवति । तद्यथा । आर्तं रौद्रं धर्मं शुक्लमिति तेषाम् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—वह ध्यान चार ४ प्रकारका होता है । जैसे–आर्तध्यान रौद्रध्यान, धर्म्मध्यान, तथा शुक्लध्यान, इन भेदोंसे चार प्रकारका है ॥ २९ ॥ सो अव इनमेंसे यह व्यवस्था है—

परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां ध्यानानां परे धर्मशुक्ले मोक्षहेतू भवतः । पूर्वे त्वार्तरौद्रे संसारहेतू इति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—इन पूर्वोक्त चार प्रकारके ध्यानोंमेंसे परके जो दो ध्यान हैं अर्थात् धर्म्मध्यान तथा शुक्लध्यान वे मोक्षके कारण होते हैं । और पूर्वके जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान है वे संसारके कारण है ॥ ३० ॥

अत्राह । किमेषां लक्षणमिति । अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते है कि इन चार प्रकारके ध्यानोंका क्या लक्षण है? इस विषयको आगेके सूत्रोंसे कहते है:—

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३१॥

भाष्यम्—अमनोज्ञानां विषयाणां संप्रयोगे तेषां विप्रयोगार्थं यः स्मृतिसमन्वाहारो भवति तदार्तध्यानमित्याचक्षते । किं चान्यत् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—अमनोज्ञ अप्रिय वा अनिष्ट अथवा अरमणीय विषयोंके सम्प्रयोग अर्थात् संयोग होनेपर (अनिष्ट वा अप्रिय विषयोंके मिल जानेपर) उन विषयोंके वियोग होनेके अर्थ जो स्मृतिका समन्वाहार अर्थात् चिन्ताका निरोध करके ध्यान है वह आर्तध्यान है ॥ ३१ ॥ और यह भी है कि:—

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—वेदनायाश्चामनोज्ञायाः संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार आर्तमिति । किं चान्यत् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—अमनोज्ञ अप्रिय जो वेदना (अनुभवविशेष) है उसके सम्प्रयोग अर्थात् योग होनेपर उससे (अनिष्ट वेदनासे) छूटनेके अर्थ जो चित्तकी एकाग्रता है वह आर्तध्यान है ॥ ३२ ॥ और यह भीः—

विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—मनोज्ञानां विषयाणां मनोज्ञायाश्च वेदनाया विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार आर्तम् । किं चान्यत् ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—मनोज्ञ अर्थात् सुन्दर रमणीय तथा प्रिय विषयोंके, और इसी रीतिसे मनोज्ञ प्रियवेदनाके भी वियोग होनेपर उन सबके संयोगके लिये जो चित्तकी एकाग्रता रूप ध्यान है वह भी आर्तध्यान है ॥ ३३ ॥ और यह अन्य भी हैः—

निदानं च ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—कामोपहतचित्तानां पुनर्भवविषयसुखगृद्धानां निदानमार्तध्यानं भवति ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—कामनाओंसे जिनका चित्त उपहत अर्थात् दूषित होगया है, इसीसे ऐसे मनुष्योंके अर्थ पुनः संसारके विषयोंकी तृष्णाका कारण वह आर्तध्यान होता है ॥ ३४ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—तदेतदार्तध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानामेव भवति ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत-गुणस्थानवर्ती जीवोंको होता है ॥ ३५ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—हिंसार्थमनृतवचनार्थं स्तेयार्थं विषयसंरक्षणार्थं च स्मृतिसमन्वाहारो रौद्रध्यानं तदविरतदेशविरतयोरेव भवति ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—हिंसाके लिये, अनृत अर्थात् मिथ्या वचनके लिये, स्तेय-चौर्य कर्मके लिये तथा विषयकी रक्षाके लिये चित्तकी एकाग्रतारूप रौद्रध्यान अविरत तथा देशविरत प्राणियोंका होता है ॥ ३६ ॥

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—आज्ञाविचयाय अपायविचयाय विपाकविचयाय संस्थानविचयाय च स्मृतिसमन्वाहारो धर्मध्यानम् । तदप्रमत्तसंयतस्य भवति । किं चान्यत्

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—आज्ञाविचय, आज्ञा अर्थात् जिनशास्त्रकी आज्ञा उसके

विचय अर्थात् विवेक तथा विचारके लिये, अपायविचय अर्थात् सन्मार्गसे दूरीकरण वा दूरीभवनरूप अपाय उसके विचय (विवेक वा विचार) के लिये, तथा विपाक अर्थात् कर्मोके फलभोगरूप विपाकके विचयके लिये और संस्थानविचयके लिये जो स्मृति-समन्वाहार (चिन्ताके निरोध)से निरन्तर ध्यान है वह धर्म्मध्यान है । और यह धर्मध्यान अप्रमत्त–संयत–गुणस्थानवर्ती जीवको होता है ॥ ३७ ॥ और यह अन्य भी है—

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—उपशान्तकषायस्य च धर्मं ध्यानं भवति । किं चान्यत्

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—उपशान्तकषाय (जिसके कषाय शान्त होगये हैं ऐसा मनुष्य) तथा क्षीणकषाय अर्थात् जिसके कषाय सर्वथा नष्ट होगये हैं ऐसा मनुष्य, इन दोनोंको अर्थात् उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवोंको भी धर्म ध्यान होता है ॥३८॥ और अन्य यह भी है कि—

शुक्ले चाद्ये ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—शुक्ले चाद्ये ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के चोपशान्तक्षीणकषाययोर्भवतः । आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवतः ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—शुक्ल ध्यानके चार भेद आगे (अ. ९, सू. ४१) कहैंगे; उनमेंसे पृथक्त्ववितर्क तथा एकत्ववितर्क जो आदिके दो भेद है वे उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय पुरुषोंको होते है । आद्य अर्थात् आदिके जो पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यानके भेद हैं वे पूर्वविद् अर्थात श्रुतकेवलीको होते है ॥ ३९ ॥

परे केवलिनः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शुक्लध्याने केवलिन एव भवतः न च्छद्मस्थस्य ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—और परके दो शुक्ल ध्यान अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति हैं ये केवली भगवान्को होते है न कि छद्मस्थको ॥ ४० ॥

अत्राह । उक्तं भवता पूर्वे ध्याने परे शुक्ले ध्याने इति तत्कानि तानीति । अत्रोच्यते

अब कहते हैं कि आपने "पूर्वे (आद्ये) शुक्ले," तथा "परे शुक्ले" अर्थात् पूर्वके दो शुक्ल ध्यान तथा परके दो शुक्ल ध्यान ऐसा कहा है, सो वे चारों शुक्ल ध्यान कौन २ हैं, इस हेतुसे यह आगेका सूत्र कहते हैं ।—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क काययोगानां सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवृत्तीति चतुर्विधं शुक्लध्यानम् ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—पृथक्त्ववितर्क १ एकत्ववितर्क २ सूक्ष्मक्रियानिपाति ३ तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ४ यह चार प्रकारका शुक्ल ध्यान है ॥ ४१ ॥

तत्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तदेतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानं त्रियोगस्यान्यतमयोगस्य काययोगस्यायोगस्य च यथासङ्ख्यं भवति। तत्र त्रियोगानां पृथक्त्ववितर्कमेकान्यतमयोगानामेकत्ववितर्कं काययोगानां सूक्ष्मक्रियमप्रतिपात्ययोगानां व्युपरतक्रियमनिवृत्तीति।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—यह चारो प्रकारका शुक्ल ध्यान, त्रियोगको, तीनोमें एक योगवालेको, काययोगवालेको, तथा अयोगको क्रमसे यथासंख्यकरके होता है। अर्थात् काय, वाक् और मन ये तीनो योग जिसको हैं उसको पृथक्त्ववितर्क नाम शुक्ल ध्यान होता है, और इन तीनों योगोंमेसे कोई भी एक योग जिसको है उसको एकत्ववितर्क नाम शुक्लध्यान होता है। काययोगवालेको सूक्ष्मक्रियातिपाति नामक शुक्लध्यान होता है; और अयोग अर्थात् सर्वथा योगसे रहित (अयोगकेवली) को व्युपरतक्रियानिवृति नामक शुक्लध्यान होता है ॥ ४२ ॥

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—एकद्रव्याश्रये सवितर्के पूर्वे ध्याने प्रथमद्वितीये। तत्र सविचारं प्रथमम्।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—पूर्वके जो दो शुक्लध्यान हैं अर्थात् पृथक्त्ववितर्क तथा एकत्ववितर्क वे दोनो एक द्रव्यके आश्रयीभूत तथा वितर्कसहित होते हैं। इनमेसे जो प्रथम पृथक्त्ववितर्क है वह विचारसहित होता है ॥ ४३ ॥

अविचारं द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—अविचारं सवितर्कं द्वितीयं ध्यानं भवति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—और द्वितीय जो एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है वह तो विचाररहित तथा वितर्कसहित होता है ॥ ४४ ॥

अत्राह। वितर्कविचारयोः कः प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते

अब कहते हैं वितर्क तथा विचारमे क्या प्रतिविशेष अर्थात् भेद है। इस लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—यथोक्तं श्रुतज्ञानं वितर्को भवति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—पूर्वकथित श्रुतज्ञान अर्थात् पूर्वप्रसङ्गमे जैसे श्रुतज्ञानका लक्षण कहा है वही यथोक्त श्रुतज्ञान वितर्क है ॥ ४५ ॥

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्विचार इति।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—अर्थ, व्यञ्जन, तथा योगकी जो संक्रान्ति उसको विचार कहते हैं। यहांपर अर्थ शब्दसे ध्येय पदार्थ वा द्रव्य अथवा पर्यायका ग्रहण है, व्यञ्जनसे

वचनका ग्रहण है, और योगसे **"काय-वाग्-मनःकर्म योगः"** इस सूत्रमें कथित तीनो योगोंका ग्रहण है, उनकी संक्रान्ति अर्थात् परिवर्तन। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस ध्यानमें द्रव्य वा पर्य्याय, वचन (श्रुत) तथा योगका परिवर्तन होता रहता है वह विचारसहित प्रथम है और यह पूर्वकथित (अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति अर्थात् इनका परिवर्तनरूप) जो विचार है उस विचारसे रहित अर्थात् अविचार द्वितीय (एकत्ववितर्क) रूप शुक्लध्यान है ॥

तदाभ्यन्तरं तपः संवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधक निर्जरणफलत्वात्कर्मनिर्जरकम् । अभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकत्वात्पूर्वोपचितकर्मनिर्जरकत्वाच्च निर्वाणप्रापकमिति ॥

यह छः प्रकारका आभ्यन्तर तप संवर होनेसे नूतन कर्मोंके संचयका प्रतिषेधक अर्थात् निषेध करनेवाला है तथा कर्मोंकी निर्जरारूप फल देनेसे कर्मोंका निर्जरणकारक अर्थात् कर्म्मोंका नाशक भी है। और अभिनव अर्थात् नूतन कर्मके उपचय (संचय वा वृद्धि) का निषेध करनेवाला होनेसे और पूर्वसंचित कर्मोंका निर्जरण (नाशक) होनेसे निर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करनेवाला भी है ॥ ४६ ॥

अत्राह। उक्तं भवता परीपहजयात्तपसोऽनुभावतश्च कर्मनिर्जरा भवतीति । तत्किं सर्वे सम्यग्दृष्टयः समनिर्जरा आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते।

अब कहते है कि प्रथम आपने कहा था कि द्वाविंशति २२ परीषहोंके जयसे तथा तपके अनुभाव (प्रभाव)से कर्मोंकी निर्जरा होती है। सो सब सम्यग्दृष्टिपुरुष समान निर्जरावाले होते है, अथवा कोई विशेष है; इस लिये आगेका सूत्र कहते हैं।—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दृष्टिः श्रावकः विरतः अनन्तानुबन्धिवियोजकः दर्शनमोहक्षपकः मोहोपशमकः उपशान्तमोहः मोहक्षपकः क्षीणमोहः जिन इत्येते दश क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति। तद्यथा। सम्यग्दृष्टेः श्रावकोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरः श्रावकाद्विरतः विरतादनन्तानुबन्धिवियोजक इत्येव शेषाः ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सम्यग्दृष्टि १ श्रावक २ विरत ३ अनन्तानुबन्धिवियोजक ४ दर्शनमोहक्षपक ५ मोहोपशमक ६ उपशान्तमोह ७ मोहक्षपक ८ क्षीणमोह ९ तथा जिन १० ये दशो क्रमसे असंख्येय गुणवाली निर्जराको उत्पन्न करनेवाले होते है। जैसे—सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे श्रावक असंख्येयगुणनिर्जरावाला होता है, श्रावकसे विरत असंख्येय गुणवाली निर्जरासहित होता है; और विरतसे अनन्तानुवन्धिवियोजक असंख्येय-गुण-निर्जरासहित होता है। ऐसेही आगे जिनपर्य्यन्त समझ लेना ॥ ४७ ॥

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—पुलाको वकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातक इत्येते पञ्चनिर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति। तत्र सततमप्रतिपातिनो जिनोक्तादागमान्निर्ग्रन्थपुलाकाः । नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूपानुवर्तिन ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरिचाराश्छेदशवलयुक्ता निर्ग्रन्था वकुशाः । कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकुशीलाः कपायकुशीलाश्च । तत्र प्रतिसेवनाकुशीलाः नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियतेन्द्रियाः कथंचित्किंचिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । येषां तु संयतानां सतां कथंचित्संज्वलनकपाया उदीर्यन्ते ते कपायकुशीलाः । ये वीतरागच्छद्मस्था ईर्यापथप्राप्तास्ते निर्ग्रन्थाः । ईर्या योगः पन्थाः संयमः योगसंयमप्राप्ता इत्यर्थः । संयोगाः शैलेशीप्रतिपन्नाश्च केवलिनः स्नातका इति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, तथा स्नातक ये पांच निर्ग्रन्थ है । इनमेंसे निरन्तर जो जिनकथित आगमसे कदापि पतित न होंवे पुलाक निर्ग्रन्थ हैं । तथा निर्ग्रन्थताके प्रति जो प्रस्थित हुए हैं, किन्तु शरीरके उपकरण भूपण आदिके अनुवर्ती हैं, ऋद्धि (ऐश्वर्य्य) तथा यशकी कामना करनेवाले हैं, अतिगौरवयुक्त, अविविक्त (नातिपवित्रतायुक्त) परिचारसहित, और छेदशवलयुक्त जो है वे वकुश निर्ग्रन्थ हैं । कुशील दो प्रकारके हैं, एक तो प्रतिसेवनाकुशील और द्वितीय कपायकुशील । उनमेंसे जो निर्ग्रन्थता सम्पादन करनेके लिये प्रस्थित हैं सो जो अनियत इंद्रिय है, अर्थात् जिनकी इद्रियां सर्वथा स्वाधीन नही हैं, और किसी प्रकारसे उत्तरगुणोंमें भी विरोध (विघात) करनेवाले है वे प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ है । और जिन्होंने अन्य कपायोंको तो जीत लिया है ऐसे संयम युक्त होनेपर भी जिनके कथंचित् (किसी प्रकारसे) संज्वलनकपाय उद्रेकताको अर्थात् आविर्भावको प्राप्त होजायँ वे कषायकुशील निर्ग्रन्थ है । और जो वीतराग छद्मस्थ है, तथा इर्य्यापथमें प्राप्त है वे निर्ग्रन्थ हैं । यहांपर इर्य्यासे योगका ग्रहण है, और पन्था (पथ) से संयमका ग्रहण है, इससे यह तात्पर्य्य सिद्ध हुआ कि जो योगसंयममे प्राप्त है वे निर्ग्रन्थ आचार्य्य हैं । और जो योगसहित हैं तथा जो शैलेशीप्राप्त है वे स्नातक है ॥ ४८ ॥

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतःसाध्याः४९

भाष्यम्—एते पुलाकादयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा एभिः संयमादिभिरनुयोगविकल्पैः साध्या भवन्ति । तद्यथा ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—इन पुलाक आदि पांचो निर्ग्रन्थोंका आगे कहे हुए संयम आदि विकल्पोंसे साधन करना चाहिये । जैसेः—

संयमः । कः कस्मिन्संयमे भवतीति । उच्यते । पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः सामायिके छेदोपस्थाप्ये च । कपायकुशीलो द्वयोः परिहारविशुद्धौ सूक्ष्मसंपराये च । निर्ग्रन्थस्नातकावेकस्मिन्यथाख्यातसंयमे ॥

सबसे प्रथम संयमका विचार कहते है—कौन किसमे होता है, अर्थात् कौन निर्ग्रन्थ

किस संयम आदिमें होते हैं इस विषयको कहते हैं। जैसे–पुलाक, बकुश, तथा प्रतिसेवना-कुशील, ये दो २ संयमोंमें अर्थात् सामायिक तथा छेदोपस्थाप्यमें होते हैं। कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ भी परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय इन दोनो संयमोमें होते हैं। और निर्ग्रन्थ तथा स्नातक केवल एक यथाख्यातसंयममें होते है ॥

श्रुतम्। पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशील-निर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। श्रुतापगतः केवली स्नातक इति ॥

श्रुतके विषयमें:–पुलाक, बकुश, और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन निर्ग्रन्थ उत्कृष्टतासे अर्थात् अधिकसे अधिक अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ ये दोनों निर्ग्रन्थ विशेष चतुर्दश पूर्वधर होते है। और जघन्यता (न्यूनता) से तो पुलाकका श्रुतकेवल आचारवस्तु है। और बकुश, कुशील तथा निर्ग्रन्थोंका श्रुत जघन्य अपेक्षासे अर्थात् न्यूनतासे केवल प्रवचनकी माता है। और केवली स्नातक तो श्रुतापगत है।

प्रतिसेवना। पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद्बलात्कारेणा-न्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। मैथुनमित्येके। बकुशो द्विविधः उपकरणबकुशः शरी-रबकुशश्च। तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तो बहुवि-शेषोपकरणकांक्षायुक्तो नित्य तत्प्रतिसंस्कारसेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति। शरीराभि-ष्वक्तचित्तो विभूषार्थं तत्प्रतिसंस्कारसेवी शरीरबकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानवि-राधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसे-वना नास्ति ॥

प्रतिसेवना, पांच मूलगुण, तथा रात्रिभोजनसे विरतिसहित षट्, अर्थात् पांच मूलगुण और रात्रिभोजनसे विरति (उपराम) लेकर छः हुए, इनमेंसे, दूसरोंके अभियोग अर्थात् प्रेरणासे बलात्कार (जबरदस्ती) से किसी एकका प्रतिसेवन करनेवाला पुलाक होता है। इनमेंसे मैथुनका ग्रहण किसी एक आचार्य्यके मतसे है। बकुश दो प्रकारके होते है; एक तो उपकरणबकुश और दूसरा शरीरबकुश होता है। इनमेंसे उपकरणों (सामग्रियों) में चित्त लगानेवाला, विविध अर्थात् अनेक प्रकारके विचित्र महाधनवाले उपकरणोंके परिग्रहसहित, बहुत अधिक उपकरणोंकी अभिलाषा करनेवाला और प्रतिदिन अर्थात् सदा उनके प्रतिसंस्कारोंको सेवम करनेवाला भिक्षुक उपकरण-बकुश कहा जाता है। और शरीरमें दत्तचित्त, विभूषणोंके लिये अर्थात् शरीरको भूषित करनेके लिये जो प्रतिसंस्कारोंका सेवन करनेवाला है वह शरीरबकुश भिक्षुक है। और जो मूलगणोंका विराध (विघात) न करता हुआ उत्तरगुणोंमे किसी एक

विराधनाका प्रतिसेवी है, वह प्रतिसेवनाकुशील है। और कषायकुशील, निर्ग्रन्थ, तथा स्नातक इन तीनोंको तो प्रतिसेवना होती ही नही है ॥

तीर्थम्। सर्वे सर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थेषु भवन्ति। एके त्वाचार्या मन्यन्ते पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलास्तीर्थे नित्यं भवन्ति शेषास्तीर्थे वातीर्थे वा ॥

तीर्थके विषयमें:—सब निर्ग्रन्थ सब तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें होते हैं। और कोई २ आचार्य्य तो ऐसा मानते है कि पुलाक, बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील ये तीनो तीर्थमे नित्य होते है, और शेष (बाकी) अर्थात् कषायकुशील, निर्ग्रन्थ तथा स्नातक ये तीर्थ वा अतीर्थमें भी होते हैं ॥

लिङ्गम्। लिङ्गम् द्विविधम् द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ॥

लिङ्गके विषयमें:—लिङ्ग दो प्रकारका है, एक तो द्रव्यलिङ्ग और दूसरा भावलिङ्ग, उनमेंसे भावलिङ्गको निमित्त मानकर पांचोही निर्ग्रन्थ भावलिङ्गमें होते हैं। और द्रव्यलिङ्गको निमित्त मानकर तो इनका विभाग करना चाहिये।

लेश्याः। पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः सर्वाः षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेस्तिस्र उत्तराः। सूक्ष्मसंपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगः शैलेशीप्रतिपन्नोऽलेश्यो भवति ॥

लेश्याके विषयमें:—पुलाकको अन्त्यकी तीन लेश्या होती है। बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशीलको सब अर्थात् छहो लेश्या होती है। परिहारविशुद्धिस्थानवर्ती, तथा कषायकुशीलको अन्तकी तीन लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसंपरायस्थानवर्ती और निर्ग्रन्थ तथा स्नातकको केवल एक शुक्ल लेश्याही होती है। और अभोग अर्थात् भोगसे रहित जो शैलेशीप्राप्त है वह तो अलेश्य (लेश्यारहित) ही होता है ॥

उपपातः। पुलाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु देवेषु सर्वार्थसिद्धे। सर्वेषामपि जघन्या पल्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधर्मे। स्नातकस्य निर्वाणमिति ॥

उपपातके विषयमें पुलाक निर्ग्रन्थका उपपात अर्थात् ऊर्ध्वगमन अथवा स्वर्गविशेषमें उत्पत्ति सबसे उत्कृष्ट (उत्तम) स्थितिवाले जो देव हैं उनमे सहस्रारनाम स्वर्गविशेषमें होती है। बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशीलका उपपात बाईस २२ सागरोपमास्थितिवाले देवोंमे आरण तथा अच्युतकल्पमें होता है। कषायकुशील तथा निर्ग्रन्थोंका उपपात त्रयस्त्रिंशत् (३३) सागरोपम स्थितिवाले देवोंमे सर्वार्थसिद्धनामक स्वर्ग वा विमानमे होता है। और सबका अर्थात् पांचोंकी जघन्य वा न्यूनसे न्यून स्थिति अथवा उपपात पल्योपम

पृथक्त्व स्थितिवाले देवोंमें सौधर्मनामक विमान वा स्वर्गविशेषमें होता है। और स्नातकको तो निर्वाण ही होता है ॥

स्थानम् । असङ्ख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः । तौ युगपदसङ्ख्येयानि स्थानानि गच्छतः । ततः पुलाको व्युच्छिद्यते कषायकुशीलस्त्वसङ्ख्येयानि स्थानान्येकाकी गच्छति । ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि गच्छन्ति । ततो बकुशो व्युच्छिद्यते । ततोऽसङ्ख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽसङ्ख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते । सोऽप्यसङ्ख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमेकमेव स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीति एषां संयमलब्धिरनन्तानन्तगुणा भवतीति ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

स्थानविषयमें:—कषायनिमित्तक असङ्ख्येय संयमस्थान होते हैं । उनमेंसे पुलाक और कषायकुशीलके सबसे जघन्य अर्थात् सबसे निकृष्ट लब्धिस्थान होते है । वे दोनो (पुलाक और कषायकुशील) एक कालमें ही असङ्ख्येय स्थानमें जाते हैं । वहांसे पुलाक पृथक् किया जाता है, और कषायकुशील तो एकाकी (अकेला) ही असङ्ख्येय स्थानोंमें जाता है । उसके अनन्तर कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील, और बकुश एक कालमें ही असङ्ख्येय संयमस्थानोंमें जाते हैं । वहां बकुश पृथक् किया (अलगाया) जाता है । उसके पश्चात् असङ्ख्येय स्थानोंमें जाकर प्रतिसेवनाकुशील पृथक् किया जाता है । इसके ऊपर अकषायस्थान हैं, उनमें केवल निर्ग्रन्थ ही प्राप्त होता है । वह भी असङ्ख्येय स्थानोंमें जाकर रोक दिया जाता है । और इसके ऊर्ध्व (ऊपर) एकही स्थान जाकर निर्ग्रन्थ स्नातक निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता है । इनकी संयमलब्धि अनन्त तथा अनन्त गुण होती है ॥

इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे आचार्य्योपाधिधारिद्विवेद्युपनामकठाकुरप्रसादशर्मप्रणीतभाषाभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—मोहनीये क्षीणे ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायेषु क्षीणेषु च केवलज्ञानदर्शनमुत्पद्यते । आसां चतसृणां कर्मप्रकृतीनां क्षयः केवलस्य हेतुरिति । तत्क्षयादुत्पद्यत इति हेतौ पञ्चमीनिर्देशः । मोहक्षयादिति पृथक्करणं क्रमप्रसिद्ध्यर्थं यथा गम्येत पूर्वं मोहनीयं

कृत्स्नं क्षीयते ततोऽन्तमुहूर्तं छद्मस्थवीतरागो भवति। ततोऽस्य ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-प्रकृतीनां तिसृणां युगपत्क्षयो भवति। ततः केवलमुत्पद्यते ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—मोहनीय कर्मके क्षीण होनेपर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षीण होनेपर केवल ज्ञान दर्शन उत्पन्न होता है। इन चारों अर्थात् मोह-नीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म प्रकृतियोंका क्षय केवल ज्ञानका हेतु है, (मोहनीयक्षयात्) तथा (ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्) इनके क्षयसे उत्पन्न होता है. उक्त दोनों स्थलोमें जो पञ्चमी निर्देश है, अर्थात् पञ्चमी विभक्तिका विधान आचार्य्यने किया है वह हेतु अर्थमे पञ्चमी है। तात्पर्य्य यह है कि चारों प्रकृतियोंके क्षयरूप निमित्तसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति है। और "मोहक्षयात्" यह पृथक् जो पञ्चमी-निर्देश किया है सो उस क्रमकी प्रसिद्धिके अर्थ किया है, जिससे कि यह अर्थ स्पष्ट रूपसे भान हो कि प्रथम सम्पूर्ण मोहनीय प्रकृतिका क्षय होता है उसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त-कालमें छद्मस्थ वीतराग होता है; और छद्मस्थ वीतराग होनेके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्श-नावरण, तथा अन्तराय इन तीनों प्रकृतियोंका एक कालमें ही क्षय होता है। और इन तीनों प्रकृतियोंके क्षयके पश्चात् केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

अत्राह। उक्तं मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलमिति। अथ मोहनीया-दीनां क्षयः कथं भवतीति। अत्रोच्यते—

अब कहते हैं कि यह तो आपने कहा कि मोहनीय प्रकृतिके क्षय तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय तथा अन्तराय, इन कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे केवल (केवलज्ञान) उत्पन्न होता है, परंतु मोहनीय आदि प्रकृतियोंका क्षय किस प्रकारसे होता है? इसलिये आगेका सूत्र कहते हैं।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥

मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवोऽभिहिताः। तेषामपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयादभावो भवति सम्यग्दर्शनादीनां चोत्पत्तिः। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् तन्निसर्गादधिगमाद्वे-त्युक्तम्। एवं संवरसंवृतस्य महात्मनः सम्यग्व्यायामस्याभिनवस्य कर्मण उपचयो न भवति पूर्वोपचितस्य च यथोक्तैर्निर्जराहेतुभिरत्यन्तक्षयः। ततः सर्वद्रव्यपर्यायविषयं परमै-श्वर्यमनन्तं केवलं ज्ञानदर्शनं प्राप्य शुद्धो बुद्धः सर्वज्ञः सर्वदर्शी जिनः केवली भवति। ततः प्रतनुशुभचतुःकर्मावशेष आयुःकर्मसंस्कारवशाद्विहरति।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान आदि बन्धके हेतु कहे हैं, उनका अर्थात् बन्धके हेतुओंका भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे अभाव होता है, और सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति भी होती है। "तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्" तत्त्वार्थका श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, और निसर्ग तथा अधिगमसे होता है; यह विषय प्रथम अध्यायमें

कह आये हैं । इसप्रकार संवरसे संवृत (युक्त) महात्माको सम्यग्व्यायामयुक्त जो नूतन कर्म है उनकी वृद्धि नही होती, तथा जो पूर्वकालके सञ्चित कर्म है उनका भी यथोक्त (कहेहुए) निर्जराके हेतुओं (तपआदिकों) से अत्यन्त क्षय होता है । उसके अनन्तर अर्थात् कर्मोके सर्वथा क्षय होनेके पश्चात् क्रमसे सम्पूर्ण द्रव्य तथा सम्पूर्ण पर्य्याय विषयक, अर्थात् सब द्रव्य और सब पर्य्यायोंको साक्षात्कार करनेवाला, परम ऐश्वर्य (सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य) सहित केवल ज्ञान दर्शनको पाकर शुद्ध (सवर्था पवित्र), बुद्ध (सर्व द्रव्य पर्य्यायोंका ज्ञाता), सर्वद्रष्टा केवली जिन भगवान् यह प्राणी होता है । और उसके पश्चात् अति सूक्ष्म शुभ चार कर्म शेषवाला यह अलग रहजाता है, और आयुःकर्मसंस्कारके वशसे संसारमें विहरता है ॥ २ ॥

ततोऽस्य

और इसको:-

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति। पूर्वं क्षीणानि चत्वारि कर्माणि पश्चाद्वेदनीयनामगोत्रायुष्कक्षयो भवति । तत्क्षयसमकालमेवौदारिकशरीरवियुक्तस्यास्य जन्मनः प्रहाणम् । हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावः । एषावस्था कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष इत्युच्यते ।

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—सम्पूर्ण कर्मोका क्षयरूप मोक्ष प्राप्त होता है । इस रीतिसे मोहनीय आदि चार कर्मप्रकृति तो प्रथमही क्षीण होचुकी थी, और इसके पश्चात् वेदनीय, नाम, गोत्र, तथा आयु ये चार जो शुभ कर्म शेष रह गये थे, वेभी क्षयको प्राप्त होते हैं । औरइन चारोंके क्षयके समकालमे ही औदारिक शरीरसे रहित जो यह जीव उसके जन्मका सर्वथा प्रयाण अर्थात् नाश होता है । क्योंकि हेतु (शरीरधारणके हेतु) ओंके अभावसे पुनः उत्तरजन्मका प्रादुर्भाव नहीं होता है । इस प्रकार यह अवस्था सम्पूर्ण कर्मोका क्षयरूप मोक्ष वा मुक्तिस्वरूपसे कही जाती है ॥ ३ ॥

किं चान्यत् ।

और अन्य यह भी है:-

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—औपशमिकक्षायिकक्षायौपशमिकौदयिकपारिणामिकानां भावानां भव्यत्वस्य चाभावान्मोक्षो भवति अन्यत्र केवलसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनसिद्धत्वेभ्यः । एते ह्यस्य क्षायिका नित्यास्तु मुक्तस्यापि भवन्ति ॥

सूत्रार्थ—विशेषव्याख्या—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, तथा पारिणामिक भावोंके और भव्यत्वके भी अभावसे मोक्ष होता है, किन्तु केवल सम्यक्त्व,

केवल ज्ञान, केवल दर्शन, और सिद्धत्वके शिवाय, अर्थात् इनको छोड़कर। क्योंकि ये इसके क्षायिक होते है, और नित्य तो मुक्त जीवके भी ये होते है ॥ ४ ॥

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तदनन्तरमिति कृत्स्नकर्मक्षयानन्तरमौपशमिकाद्यभावानन्तरं चेत्यर्थः। मुक्त ऊर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । कर्मक्षये देहवियोगसिध्यमानगतिलोकान्तप्राप्तयोऽस्य युगपदेकसमयेन भवन्ति। तद्यथा। प्रयोगपरिणामादिसमुत्थस्य गतिकर्मण उत्पत्तिकार्यारम्भविनाशा युगपदेकसमयेन भवन्ति तद्वत् ॥

उन सब कर्मोंके क्षयके अनन्तर, और औपशमिक आदि भावोंके नाशके अनन्तर यह मुक्त जीव लोकान्तपर्यन्त ऊर्ध्व गमन करता है। क्योंकि कर्मोंके क्षयके पश्चात् देहवियोग, सिध्यमान गति और लोकान्तप्राप्ति ये सब इस मुक्त जीवको एकही कालमें होती है। जैसे किसी प्रयोगके परिणामसे उत्पन्न जो गति कर्म है उसकी उत्पत्ति, कार्यारम्भ तथा विनाश एक साथही एक समयमेंही होते है, ऐसेही मुक्त जीवके भी देहवियोग सिध्यमान गति आदि भी एक साथही होती है ॥ ५ ॥

अत्राह। प्रहीणकर्मणो निरास्रवस्य कथं गतिर्भवतीति। अत्रोच्यते—

अब यहांपर कहते हैं कि जिसके संपूर्ण कर्म क्षीण हो गये है ऐसे, प्राण व (कर्मोंके आगमनद्वार) से रहित मुक्त जीवकी ऊर्ध्व गति कैसे होती है? इस शङ्काके उत्तरमें आगेका सूत्र कहते हैं:-

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वप्रयोगात्। यथा हस्तदण्डचक्रसंयुक्तसंयोगात्पुरुषप्रयत्नतश्चाविद्धं कुलालचक्रमुपरतेष्वपि पुरुषप्रयत्नहस्तदण्डचक्रसंयोगेषु पूर्वप्रयोगाद्भ्रमत्येवासंस्कारपरिक्षयात् एवं यः पूर्वमस्य कर्मणा प्रयोगो जनितः स क्षीणेऽपि कर्मणि गतिहेतुर्भवति। तत्कृता गतिः ॥ किं चान्यत् ॥

सूत्रार्थ—वि०व्या०—'पूर्वप्रयोगात्' जैसे हस्त (हाथ), दण्ड, और चक्र (कुंभारके वर्तन वनानेकी चाक) इन तीनोंके मिलित संयोगसे और पुरुषके प्रयत्न अर्थात् पुरुषके व्यापारसे व्याप्त (पूर्ण वा युक्त) जो कुंभारका चक्र (चाक) है पुरुषके व्यापारके निवृत्त होनेपर भी पुरुषके व्यापार, हाथ, दण्ड, तथा चक्रके संयोगमें प्रथमके व्यापारसे वह चक्र भ्रमण करता ही रहता है; जब तक कि उसमें पुरुषके प्रथम प्रयोग (व्यापार) का संस्कार है, तब तक वह बन्द नहीं होता, ऐसेही जो इस जीवके कर्मोंका प्रयोग अर्थात् व्यापार वा प्रयत्न उत्पन्न हुआ है वह कर्मके क्षीण होनेपर भी गतिका निमित्त होता है; इसीसे अर्थात् कर्मोंके पूर्व उत्पन्न प्रयोगसे इस मुक्त जीवकी ऊर्ध्व गति होती है ॥ और इसके अतिरिक्त (शिवाय) अन्य हेतु भी है:—

असङ्गत्वात् । पुद्गलानां जीवानां च गतिमत्त्वमुक्तं नान्येषां द्रव्याणाम् । तत्राधोगौरवधर्माणः पुद्गला ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः । एष स्वभावः । अतोऽन्यासङ्गादिजनिता गतिर्भवति । यथा सत्स्वपि प्रयोगादिषु गतिकारणेषु जातिनियमेनाधस्तिर्यगूर्ध्वं च स्वाभाविक्यो लोष्टवाय्वग्नीनां गतयो दृष्टाः तथा सङ्गविनिर्मुक्तस्योर्ध्वगौरवादूर्ध्वमेव सिध्यमानगतिर्भवति । संसारिणस्तु ॥ कर्मसङ्गादधस्तिर्यगूर्ध्वं च ॥ किं चान्यत् ।

असङ्गत्वात्:—असङ्ग होनेसे भी मुक्त जीवकी ऊर्ध्व गति होती है । जैसे पुद्गलोंको तथा जीवोंको गतिमत्त्व अर्थात् गतिवाले कहा है, न कि अन्य द्रव्योंको । उन दोनों द्रव्योंमें भी अधोभागमें गौरव धर्म धारण करनेवाले पुद्गल द्रव्य होते हैं, और ऊर्ध्व भागमें गौरव धर्म धारण करनेवाले जीव द्रव्य होते है । यह इन द्रव्योंका स्वभाव है । इससे अन्य अर्थात् विपरीत गति जैसे जीवोंकी अधोभागादिमें तथा पुद्गलोंकी ऊर्ध्वादि भागमें गति सङ्ग आदि निमित्तसे उत्पन्न होती है । जैसे गतिके कारण भूत प्रयोग पुरुषप्रयत्न, अथवा व्यापार आदिके विद्यमान रहते भी पाषाण, वायु, तथा अग्निकी स्वाभाविक गति, क्रमशः अधोभाग, तिर्यग् भाग, तथा ऊर्ध्व भागमेंही दृष्ट है, अर्थात् पाषाणकी स्वाभाविक गति अधोभागमें, वायुकी तिर्यक् (तिरछे) भागमें और अग्निकी ऊर्ध्व भागमें गतिका दृष्ट है । ऐसेही सङ्गसे विनिर्मुक्त जीवकी भी ऊर्ध्व भागमें गौरव धर्म धारण करनेसे ऊपरकी ही और स्वाभाविक सिध्यमान गति होती है । और संसारी जीवकी तो कर्मोंके सङ्गसे अधोभाग, तिर्यग्भाग तथा ऊर्ध्व भागमें भी गति होती है । तथा इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वगतिमें अन्य भी हेतु है:—

बन्धच्छेदात् । यथा रज्जुबन्धच्छेदात्पेडाया बीजकोशबन्धनच्छेदाच्चैरण्डबीजानां गतिर्दृष्टा तथा कर्मबन्धनच्छेदात्सिध्यमानगतिः ॥ किं चान्यत् ।

बन्धच्छेदात्—बन्धके छेदसे मुक्त जीवकी ऊर्ध्व गति होती है । जैसे रज्जुके बन्धनके उच्छेदसे पेडाकी, तथा बीजकोश (जिस गुच्छ रूप कोशमे बीजबन्ध रहते है उस एरण्डफल) रूप बन्धके उच्छेद होनेपर अर्थात् कोशरूप बन्धनके टूटनेपर एरण्ड (अंडी वा रेंड़ी) के बीजोंकी गति स्वाभाविक दृष्ट है, ऐसेही कर्मरूप बन्धनके छेद (नाश) होनेपर मुक्त जीवकी भी स्वाभाविक सिध्यमान ऊर्ध्व गति होती है । और इसके शिवाय अन्य भी ऊर्ध्व गतिमें हेतु है:— ।

तथागतिपरिणामाच्च । ऊर्ध्वगौरवात्पूर्वप्रयोगादिभ्यश्च हेतुभ्यः तथास्य गतिपरिणाम उत्पद्यते येन सिध्यमानगतिर्भवति । ऊर्ध्वमेव भवति नाधस्तिर्यग्वा गौरवप्रयोगपरिणामासङ्गयोगाभावात् । तद्यथा । गुणवद्भूमिभागारोपितमृतुकालजातं बीजोद्भेदादङ्कुरप्रवालपर्णपुष्पफलकालेष्वविमानितसेकदौर्हृदादिपोषणकर्मपरिणतं कालच्छिन्नं शुष्कमलाब्वप्सु न निमज्जति तदेव गुरुकृष्णमृत्तिकालेपैर्घनैर्बहुभिरालिप्तं घनमृत्तिकालेपवेष्टनजनितागन्तुकगौरवमप्सु प्रक्षिप्तं तज्जलप्रतिष्ठं भवति यदा त्वद्भिः क्लिन्नो मृत्तिकालेपो व्यपगतो भवति तदा

मृत्तिकालेपसङ्गविनिर्मुक्तं मोक्षानन्तरमेवोर्ध्वं गच्छति आसलिलोर्ध्वतलात् एवमूर्ध्वगौरवगतिधर्मा जीवोऽप्यष्टकर्ममृत्तिकालेपवेष्टितः तत्सङ्गात्संसारमहार्णवे भवसलिले निमग्नो भवासक्तोऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति सम्यग्दर्शनादिसलिलक्लेदात्प्रहीणाष्टविधकर्ममृत्तिकालेप ऊर्ध्वगौरवादूर्ध्वमेव गच्छत्यालोकान्तात् ॥

तथागतिपरिणामाच्च—उसी प्रकार गति परिणाम होनेसे भी मुक्त जीवकी ऊर्ध्व गति होती है। जैसे, ऊर्ध्वभागमे गौरव (गुरुता) धर्मके धारण करनेसे, और मुक्तिकालमें पूर्वप्रयोग अर्थात् प्रयत्न व्यापार आदि हेतुओंसे इस जीवका वैसाही गति परिणाम दृष्ट होता है जिससे कि इसकी सिध्यमान गति होती है, और वह सिध्यमान गति ऊर्ध्व देशमें ही होती है नकि अधोभाग, और न तिर्यक् भागमें; क्योंकि अधोदेश, अथवा तिर्य्यक् देशमें गति होनेमे गौरव, प्रयोग (व्यापार वा प्रयत्न) परिणाम तथा सङ्गयोगका अभाव है॥ जैसे कि गुणयुक्त अर्थात् उत्तम भूमिमे बोया हो, ऋतुकाल (निज समय) में उत्पन्न हो, बीजके उद्भेद (बीजसे अँखुआ निकलनेके समय) से अङ्कुर, पल्लव, पत्र, पुष्प तथा फल काल पर्यंत आदर पूर्वक सिचन आदि पालन पोषण आदि कर्मोंसे परिणामको प्राप्त (अच्छी तरहसे परिपक्व) तथा निजसमयपर तोड़ा हुआ जो शुष्क (सूखा) अलाबू अर्थात् लौआ वा तितलौकी (तुंबेका) फल जलमे कदापि नहीं डूबता। और वही अलाबू (तुंबेका फल) यदि गुरुतर (भारी) काली मृत्तिकाके लेपोंसे, वा अन्य घनीभूत गुरुतर पदार्थोंके लेपोंसे लिप्त घनीभूत मृत्तिकाके लेपरूप वेष्टनप्राप्त नैमित्तिक गुरुता (भारीपन) सहित हो तो जलमें प्रक्षिप्त होनेपर अर्थात् जलमें छोड़नेपर डूब जाता है। और जो कुछ काल पर्यंत जलमे भीगता रहै तो उसके द्वारा इस (फल) की मृत्तिकाका लेप दूर हो जाता है, तब मृत्तिकाके लेपसे विनिर्मुक्त होकर मोक्षके अनन्तरही पुनः ऊर्ध्व देशमे जलके ऊपर भाग पर्यंत, अर्थात् जलके ऊपरके भागतक ऊपरही जाता है। ऐसेही ऊर्ध्व भागमे स्वभावसिद्ध गौरवधर्मधारी जीव भी अष्टविध कर्म स्वरूप मृत्तिकाके लेपनरूप वेष्टनवेष्टित होनेसे उन कर्मोंके सङ्गसे संसाररूपी समुद्रमें डूबता है, और इसमें आसक्त होनेसे अनेक जन्मोंमे अधोभाग, तिर्यग् भाग, तथा ऊर्ध्व भागमे भी गमन करता है; परन्तु जब सम्यग्दर्शन आदि जलसे भली भांति आक्लिन्न अर्थात् भीगनेसे अष्टविध कर्मरूप मृत्तिकालेप इसका सर्वथा नष्ट हो जाता है तब ऊर्ध्वगमन गौरव धर्म धारण करनेसे लोकान्तपर्यंत ऊपरकोही जाता है॥

स्यादेतत् लोकान्तादप्यूर्ध्वं मुक्तस्य गतिः किमर्थं न भवतीति। अत्रोच्यते। धर्मास्तिकायाभावात्। धर्मास्तिकायो हि जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहेणोपकुरुते। स तत्र नास्ति। तस्माद्गत्युपग्रहकारणाभावात्परतो गतिर्न भवत्यप्सु अलाबुवत्। नाधो न तिर्यगित्युक्तम्। तत्रैवानुश्रेणिगतिर्लोकान्तेऽवतिष्ठते मुक्तो निःक्रियः इति॥

अब कहते हैं कि ऊर्ध्व गतिके विषयमें तो जो रहा वह उसी प्रकार रहै, अर्थात् उसको स्वीकार करनेमें कोई बाधा नही है; परन्तु लोकान्तके ऊपर भी मुक्त जीवकी गति क्यों नहीं होती ? (क्योंकि ऊर्ध्व गति स्वभाव होनेसे सर्वथा चलाही जाना चाहिये) अब इस विषयमें कहते हैं कि लोकान्तसे ऊपर धर्मास्तिकाय पदार्थका अभाव है; क्योंकि धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोकी गतिमें उपकार करता है, अर्थात् दोनोंकी गतिमें सहकारी कारण है। वह धर्मास्तिकाय वहां (लोकान्त वा लोकाकाशके ऊपर) नही है इससे गतिमें उपग्रह (सहकारी कारण) कारणके अभावसे लोकान्तसे वह जीवकी गति ऐसे नहीं होती जैसे जलमें ऊर्ध्व तलसे परे अलाबू (तितलौकी वा तुंबेके फल) की गति न अधोभागमें हो न तिर्यग् भागमें, यह सब विषय पूर्वप्रसङ्गमे कह चुके हैं; किन्तु उसी लोकान्तमें यह मुक्त जीव अनुश्रेणि गतिसे. निःक्रिय (कर्मरहित) होकर स्थित रहता है ॥ ६ ॥

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥

क्षेत्रं कालः गतिः लिङ्गं तीर्थं चारित्रं प्रत्येकबुद्धबोधितः ज्ञानमवगाहना अन्तरं संख्या अल्पबहुत्वमित्येतानि द्वादशानुयोगद्वाराणि सिद्धस्य भवन्ति । एभिः सिद्धः साध्योऽनुगम्यश्चिन्त्यो व्याख्येय इत्येकार्थत्वम् । तत्र पूर्वभावप्रज्ञापनीयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च द्वौ नयौ भवतः । तत्कृतोऽनुयोगविशेषः । तद्यथा ।

सूत्रार्थ–वि०व्या०–क्षेत्र १ काल २ गति ३ लिङ्ग ४ तीर्थ ५ चारित्र ६ प्रत्येकबुद्धबोधित ७ ज्ञान ८ अवगाहना ९ अन्तर १० संख्या ११ तथा अल्प बहुत्व ये द्वादश १२ सिद्धके अनुयोग द्वार (व्याख्याके द्वार) होते है। इन बारह अनुयोग द्वारोंसे सिद्ध साध्य (साधने योग्य), अनुगम्य (जानने योग्य), चिन्त्य (विचारके योग्य) तथा व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) होता है यह सब एकार्थवाचक शब्द है। उसमें पूर्व भाव प्रज्ञापनीय (पूर्व कालके भाव जताने योग्य) तथा प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय (वर्तमान समयमें उत्पन्न भाव जताने योग्य) ये दो नय होते है। उन दोनों नयोंसे किया हुआ अनुयोग विशेष होता है। जैसेः–

क्षेत्रम् । कस्मिन् क्षेत्रे सिद्ध्यतीति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयं प्रति सिद्धिक्षेत्रे सिद्ध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य जन्म प्रतिपञ्चदशसु कर्मभूमिषु जातः सिद्ध्यति । संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्ध्यति । तत्र प्रमत्तसंयताः संयतासंयताश्च संह्रियन्ते । श्रमण्यपगतवेद. परिहारविशुद्धिसंयतः पुलाकोऽप्रमत्तश्चतुर्दशपूर्वी आहारकशरीरीति न संह्रियन्ते । ऋजुसूत्रनयः शब्दादयश्च त्रयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयाः शेषा नया उभयभावं प्रज्ञापयन्तीति ॥

क्षेत्र (के विषयमें)। किस क्षेत्रमें सिद्ध होता है यह; प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीय नयके प्रति

है कि सिद्ध क्षेत्रमें सिद्ध होता है, अर्थात् सिद्ध क्षेत्रमें यह जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है। और पूर्वभाव ज्ञापनीय नयका (विषय) जन्मके प्रति जैसे पञ्चदश कर्मभूमियोंमें उत्पन्न सिद्धताको प्राप्त होता है। संहरणके प्रति जैसे मानुष क्षेत्रमें सिद्ध होता है। उसमें प्रयत्नसंपन्न तथा संयतासंयत समाहृय होते हैं। श्रमणी, अपगतवेद (वेदरहित), परिहारविशुद्धिसंयत, पुलाक, अप्रमत्त, चतुर्दशपूर्वी तथा आहारक शरीरवाले नहीं समाहृत होते। ऋजुसूत्रनय और शब्द आदि (शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत) तीन नय प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीय हैं। और शेष नय अर्थात् नैगम, संग्रह और व्यवहार नय उभय भाव अर्थात् पूर्व भाव और प्रत्युपन्न भावको भी ज्ञापन (बोधन) करते हैं।

कालः। अत्रापि नयद्वयम्। कस्मिन्काले सिद्ध्यतीति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य अकाले सिद्धयति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य जन्मतः संहरणतश्च। जन्मतोऽवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यामनवसर्पिण्युत्सार्पिण्यां च जातः सिद्धयति। एवं तावदविशेषतः। विशेषतोऽप्यवसर्पिण्यां सुषमदुःषमायां संख्येयेषु सर्वेषु शेषेषु जातः सिद्धयति। दुःषमसुषमायां सर्वस्यां सिध्यति दुःषमसुषमायां जातो दुःषमायां सिध्यति न तु दुःषमायां जातः सिध्यति अन्यत्र नैव सिध्यति। संहरणं प्रति सर्वकालेष्ववसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यामनवसर्पिण्युत्सर्पिण्यां च सिध्यति॥

काल (के विषयमें) इस विषयमें भी दो नय है। किस काल अर्थात् किस समयमें सिद्ध होता है। प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीय नयके विषयसे अकालमें सिद्ध होता है। और पूर्वभावज्ञापनीय नयके बलसे जन्मसे तथा संहरणसे भी (सिद्ध होता है) जन्मसे अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, तथा अनवसर्पिणी कालमें उत्पन्न जीव सिद्ध होता है। इस रीतिसे अविशेष रूपसे (सिद्धताका वर्णन हुआ) और विशेषरूपसे अवसर्पिणीमें सुषम दुःषमा कालमें शेष सङ्ख्येय वर्षोंमें उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है; और दुःषमसुषमामें सब कालमें सिद्ध होता है; तथा दुःषमसुषमामें उत्पन्न प्राणी दुःषमामें सिद्ध होता है, न कि दुःषमामें उत्पन्न सिद्ध होता है; इसके अतिरिक्त अन्य कालमें नहीं सिद्ध होता, और संहरणके प्रति सब कालमें अर्थात् अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणीमें भी सिद्ध होता है॥

गतिः। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगत्यां सिध्यति। शेषास्तु नया द्विविधा अनन्तरपश्चात्कृतगतिकश्च एकान्तरपश्चात्कृतगतिकश्च। अनन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य मनुष्यगत्यां सिध्यति। एकान्तरपश्चात्कृतगतिकस्याविशेषेण सर्वगतिभ्यः सिध्यति॥

गति (के विषयमें)। प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीय नयके अनुसार सिद्धिगतिमें सिद्ध होता है। और शेष नय दो प्रकारके है, अनन्तर तथा पश्चात् जिसने गति किया है वह, और एक अन्तर करके जिसने गति किया है वह। अनन्तरपश्चात्कृतगतिक मनुष्यगतिमें सिद्ध होता है। और एकान्तरपश्चात्कृतगतिककी गतिमें तो अविशेष रूपसे सब गतिसे सिद्ध होता है॥

लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकानि । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यावेदः सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य परम्परपश्चात्कृतगतिकस्य च त्रिभ्यो लिङ्गेभ्यः सिध्यति ।

लिङ्ग स्त्री, पुरुष, तथा नपुंसक इन भेदोंसे तीन प्रकारके हैं । प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीय नयके अनुसार अवेद अर्थात् स्त्रीवेद पुंवेद तथा नपुंसक वेद, इन तीनों वेदोंसे रहित सिद्ध होता है। और पूर्वभावज्ञापनीयके अनुसार अनन्तरपश्चात्कृतगतिककी और परम्परपश्चात्कृतगतिककी गतिमें तीनो लिङ्गोंसे सिद्ध होता है ॥

तीर्थम् । सन्ति तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे नोतीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थेऽतीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे । एवं तीर्थकरीतीर्थे सिद्धा अपि ॥

तीर्थ (के विषयमें)। तीर्थकर सिद्ध तीर्थकरतीर्थमें हैं, नोतीर्थ (ईषत्तीर्थकर) सिद्ध तीर्थकरतीर्थमें होते हैं, अतीर्थकर सिद्ध तीर्थकरतीर्थमें होते है । और इसी रीतिसे तीर्थकरीतीर्थमें भी सिद्ध होते है ।

लिङ्गे पुनरन्यो विकल्प उच्यते । द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गमलिङ्गमिति प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यालिङ्गः सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य भावलिङ्गं प्रति स्वलिङ्गे सिध्यति । द्रव्यलिङ्गं त्रिविधं स्वलिङ्गमन्यलिङ्गं गृहिलिङ्गमिति तत्प्रतिभाज्यम् । सर्वस्तु भावलिङ्गं प्राप्तः सिध्यति ॥

अब लिङ्गके विषयमें पुनः दूसरा यह विकल्प कहते हैं । जैसे द्रव्यलिङ्ग, भावलिङ्ग और अलिङ्ग, इनमें प्रत्युत्पन्न ज्ञापनीय नयके अनुसार तो अलिङ्ग (लिङ्गरहित) सिद्धताको प्राप्त होता है । और पूर्वभावज्ञापनीय नयके अनुसार भावलिङ्गके प्रति निजलिङ्गमें सिद्ध होता है। द्रव्यलिङ्गके तीन भेद है, जैसे निजलिङ्ग अर्थात् अपना लिङ्ग, अन्यलिङ्ग (अलोकालिङ्ग) और गृहिलिङ्ग, उसका प्रति भाग करना चाहिये । और भावलिङ्गमे प्राप्त तो सबही सिद्धताको प्राप्त होता है ।

चारित्रम् । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्री नोऽचारित्री सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयो द्विविधः अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च । अनन्तरपश्चात्कृतिकस्य यथाख्यातसंयतः सिध्यति । परम्परपश्चात्कृतिकस्य व्यञ्जितेऽव्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते त्रिचारित्रपश्चात्कृतश्चतुश्चारित्रपश्चात्कृतः पञ्चचारित्रपश्चात्कृतश्च । व्यञ्जिते सामायिकसूक्ष्मसांपरायिकयथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्परायथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातपश्चात्कृतसिद्धाः ॥

चारित्र (के विषयमें) । प्रत्युत्पन्न भाव ज्ञापनीयके अनुसार नोचारित्र तथा नोअचारित्र सिद्ध होते हैं । और पूर्व भाव ज्ञापनीय दो प्रकारका है, एक तो अनन्तरपश्चात्कृतिक और दूसरा परम्परपश्चात्कृतिक । उसमे अनन्तरपश्चात्कृतिकके अनुरोधसे यथा-

ख्यातसंयत (यथाख्यातसंयम चारित्रवाला) सिद्ध होता है । परम्परपश्चात्कृतिकके व्यञ्जित तथा अव्यञ्जित ये दो भेद होते हैं। उसमें अव्यञ्जितमें त्रिचारित्रपश्चात्कृत, चतुश्चारित्रपश्चात्कृत तथा पञ्चचारित्रपश्चात्कृत होते हैं । और व्यञ्जितमें सामायिक सूक्ष्म सांपरायिक तथा यथाख्यातपश्चात्कृत सिद्ध होते है, तथा छेदोपस्थाप्य सूक्ष्म सम्पराय तथा यथाख्यातपश्चात्कृत सिद्ध, सामायिक छेदोपस्थाप्य सूक्ष्म सम्पराय तथा यथाख्यात पश्चात्कृत सिद्ध, ऐसेही छेदोपस्थाप्य परिहारविशुद्धि सूक्ष्म सम्पराय तथा यथाख्यात पश्चात्कृत सिद्ध, और इसी रीतिसे सामायिक, छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यात पश्चात्कृत सिद्ध होते हैं । (इस प्रकार क्रमसे त्रिचारित्रपश्चात्कृत, चतुश्चारित्रपश्चात्कृत तथा पञ्चचारित्रपश्चात्कृत व्यञ्जित भेदमें दर्शाये गये ।)

प्रत्येकबुद्धबोधितः । अस्य व्याख्याविकल्पश्चतुर्विधः । तद्यथा । अस्ति स्वयंबुद्धसिद्धः । स द्विविधः अर्हंश्च तीर्थंकरः प्रत्येकबुद्धसिद्धश्च । बुद्धबोधितसिद्धाः त्रिचतुर्थो विकल्पः परबोधकसिद्धाः स्वेष्टकारिसिद्धाः ॥

प्रत्येक-बुद्ध-बोधित (के विषयमें) । इसका अर्थात् प्रत्येक-बुद्ध-बोधितकी व्याख्याका विकल्प (भेद) चार प्रकारका है । जैसे स्वयंसिद्ध बुद्ध प्रसिद्ध प्रथम भेद है । उसके (अर्थात् स्वयंबुद्ध सिद्धके) दो भेद है, एक तो अर्हन् तीर्थंकर भगवान् और द्वितीय प्रत्येकबुद्धसिद्ध) द्वितीय बुद्धबोधितसिद्ध (बुद्धसे बोधन किये हुए सिद्ध) और तृतीय तथा चतुर्थ भेद परबोधकसिद्ध (दूसरोंको बोध करनेवाले सिद्ध) और स्वेष्टकारिसिद्ध, अर्थात् अपना इष्ट सिद्ध करनेवाले सिद्ध ये चार भेद सिद्धोंके हैं ।

ज्ञानम् । अत्र प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य केवली सिद्ध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयो द्विविधः अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च अव्यञ्जिते च व्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते द्वाभ्यां ज्ञानाभ्यां सिध्यति । त्रिभिश्चतुर्भिरिति । व्यञ्जिते द्वाभ्यां मतिश्रुताभ्याम् । त्रिभिर्मतिश्रुतावधिभिर्मतिश्रुतमनःपर्यायैर्वा । चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायैरिति ॥

ज्ञान (के विषयमे) । इस विषयमे प्रत्युत्पन्न भाव ज्ञापनीयके अनुरोधसे केवली (केवलज्ञान–सहित) सिद्ध होता है । और पूर्वभाव–ज्ञापनीय दो प्रकारका है । अनन्तरपश्चात्कृतिक, तथा परम्परपश्चात्कृतिक । इसमें भी अव्यञ्जित तथा व्यञ्जित ये दो भेद समझने । अव्यञ्जितमें तो दो ज्ञानोंसे सिद्ध होता है । तीन और चारसे भी (सिद्ध होता है) । व्यञ्जितमें दो से अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे । तीनसे मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञानसे, अथवा मति श्रुत और मनःपर्य्यायसे सिद्ध होता है । और चारसे मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्य्यायसे सिद्ध होता है ।

अवगाहना । कः कस्यां शरीरावगाहनायां वर्तमानः सिध्यति । अवगाहना द्विविधा उत्कृष्टा जघन्या च । उत्कृष्टा पञ्चधनुःशतानि धनुःपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि । जघन्या सप्तरत्नयोऽ-

ङ्गुलपृथक्त्वे हीनाः । एतासु शरीरावगाहनासु सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य तु एतास्वेव यथास्वं त्रिभागहीनासु सिध्यति ॥

अवगाहना (के विषयमें) । कौन जीव किस अवगाहनामें वर्तमान होके सिद्ध होता है (अर्थात् किस प्रकारके शरीरमें व्याप्त होकर सिद्ध होता है, यह अवगाहनाका आशय है) वह अवगाहना दो प्रकारकी है, एक उत्कृष्टा अवगाहना, अर्थात् उत्तम अवगाहना और दूसरी निकृष्ट अर्थात् नीच वा हीन अवगाहना । उसमें उत्कृष्ट तो धनुःपृथक्त्व अधिक पंचधनुःशत अर्थात् पांच सौ धनुष प्रमाणकी होती है । और जघन्या तो अङ्गुल पृथक्त्व हीन अर्थात् अङ्गुलपृथक्त्वसे (प्रमाणविशेषसे) कम सप्त अरत्निप्रमाण (प्रमाणविशेष) की होती है । सो पूर्वभावज्ञापनीय नयके अनुसार इन पूर्वोक्त शरीर अवगाहनाओंमें, अर्थात् पूर्वकथित प्रमाणसहित शरीरोंमें व्याप्त जीव सिद्ध होता है । और प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीयके अनुसार तो त्रिभागहीन, इन्हीं शरीरावगाहनाओंमें यथाक्रम सिद्ध होता है ।

अन्तरम् । सिध्यमानानां किमन्तरम् । अनन्तरं च सिध्यन्ति सान्तरं च सिध्यन्ति । तत्रानन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कृष्टेनाष्टौ समयान् । सान्तरं जघन्येनैकं समयं उत्कृष्टेन षण्मासा इति ॥

अन्तर (के विषयमें) । सिद्ध होनेवालोंका अर्थात् सिद्धता दशाको प्राप्त होनेवाले जीवोंका क्या अन्तर (फर्क वा अन्तराल) है यही अन्तरसे तात्पर्य्य है । उसमें ऐसा समझना चाहिये कि अनन्तरदशामें भी सिद्धताको प्राप्त होता है, और सान्तर (अन्तरसहित) दशामें भी सिद्ध होता है । उसमें जघन्य (निकृष्ट) रूपसे दो समय, और उत्कृष्टतासे आठ समय (सूक्ष्म कालके भाग) का ग्रहण होता है । और सान्तर जघन्य (निकृष्ट) रूपसे एक समय और उत्कृष्टतासे षट् मास (छः महीने) ग्रहण करने चाहिये ।

सङ्ख्या । कत्येकसमये सिध्यन्ति । जघन्येनैक उत्कृष्टेनाष्टशतम् ॥

संख्या (के विषयमें) । कितने एक समयमें सिद्ध होते है? । जघन्यरूपसे तो एकका ग्रहण है, और उत्कृष्टतासे अष्टशत अर्थात् आठसौ (८००) का ग्रहण है ।

अल्पबहुत्वम् । एषां क्षेत्रादीनामेकादशानामनुयोगद्वाराणामल्पबहुत्वं वाच्यम् । तद्यथा ।

अल्प बहुत्वके (विषयमें) । इन क्षेत्र काल आदि एकादश अर्थात् ग्यारह ११ अनुयोगद्वारोंका अल्प बहुत्व (न्यूनत्व तथा अधिकत्व) कहना चाहिये । वह इस प्रकारसेः—

क्षेत्रसिद्धानां जन्मतः संहरणतश्च कर्मभूमिसिद्धाश्चाकर्मभूमिसिद्धाश्च सर्वस्तोकाः संहरणसिद्धाः जन्मतोऽसङ्ख्येयगुणाः । संहरणं द्विविधम् परकृतं स्वयंकृतं च । परकृतं देवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च । स्वयंकृतं चारणविद्याधराणामेव । एषां च क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमिरकर्मभूमिः समुद्रा द्वीपा ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति लोकत्रयम् । तत्र सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः

अधोलोकसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः तिर्यग्लोकसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः द्वीपसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः। एवं तावदव्यञ्जिते व्यञ्जितेऽपि सर्वस्तोका लवणसिद्धाः कालोदसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा जम्बूद्वीपसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा धातकीखण्डसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः पुष्करार्धसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा इति ॥

क्षेत्रसिद्धोंके जन्मसे तथा संहरणसे कर्मभूमिसिद्ध और अकर्मभूमिसिद्ध सर्व स्तोक (व्याप्त करते है) और संहरणसिद्ध जन्मकी अपेक्षासे सङ्ख्येय गुण है। संहरण भी दो प्रकारका है, एक तो परकृत संहरण और दूसरा स्वयंकृत संहरण। उसमें परकृत संहरण देवोंके कर्मसे चारण तथा विद्याधरोंके द्वारा। और स्वयंकृत संहरण चारण तथा विद्याधरोंका ही होता है। इनके क्षेत्रोंका विभाग कर्मभूमि, अकर्मभूमि, द्वीप, समुद्र, ऊर्ध्वभाग, अधोभाग, तथा तिर्य्यक् इस रीतिसे तीनों लोक है। उसमें सर्वस्तोक ऊर्ध्वलोकसिद्ध अधोलोकसिद्ध सङ्ख्येय गुण है, तिर्यग्लोकसिद्ध सङ्ख्येय गुण, और सर्वस्तोक, समुद्रसिद्ध, द्वीपसिद्ध संख्येयगुण हैं। इस प्रकार अव्यञ्जित (अव्यक्त वा सामान्य) रूपमें विभाग वर्णन हुआ, और व्यञ्जित (व्यक्त स्पष्ट वा विशेष) रूपसे भी सर्वस्तोक, लवणसिद्ध तथा कालोदसिद्ध सङ्ख्येय गुण है। जंबूद्वीपसिद्ध सङ्ख्येय गुण, धातकीखण्डसिद्ध संख्येयगुण, तथा पुष्करार्द्धसिद्ध सङ्ख्येय गुण होते है।

काल इति त्रिविधो विभागो भवति अवसर्पिणी उत्सर्पिणी अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीति। अत्र सिद्धानां (व्यञ्जितानां) व्यञ्जिताव्यञ्जितविशेषयुक्तोऽल्पबहुत्वानुगमः कर्तव्यः। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धा अवसर्पिणीसिद्धा विशेषाधिका अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा इति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्याकाले सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्।

काल इसका तीन प्रकारका विभाग होता है। जैसे अवसर्पिणी, (नीचेकी ओर आनेवाली कालकी गति), उत्सर्पिणी (ऊपरकी ओर चढ़नेवाली कालकी गति) तथा अनवसर्पिणी--उत्सर्पिणी अब इसमें यहांपर सिद्धोंका व्यञ्जित सिद्धोंका व्यञ्जित तथा अव्यञ्जित विशेषोंकरके सहित अल्प तथा बहुत्वका अनुगम (विशेष प्रमाणसहित अनुभव) करना चाहिये। पूर्वभावप्रज्ञापनीयके अनुसार सर्वस्तोक (व्याप्त) उत्सर्पिणीसिद्ध (उत्सर्पिणी स्वरूप कालमें सिद्ध होनेवाले जीव) अवसर्पिणीसिद्ध (अवसर्पिणी स्वरूप कालमें होनेवाले सिद्ध जीव) विशेष अधिक है, तथा अनवसर्पिणी उत्सर्पिणी सिद्ध सङ्ख्येयगुण हैं। और प्रत्युत्पन्नज्ञापनीय नयके अनुरोधसे अकालमें सिद्ध होते हैं। इस नयकी अपेक्षा अल्प बहुत्व नहीं है।

गतिः। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगतौ सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतिकस्य मनुष्यगतौ सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। परम्परपश्चात्कृ-

तिकस्यानन्तरा गतिश्चिन्त्यते । तद्यथा । सर्वस्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धा मनुष्येभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा नारकेभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा देवेभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा इति ॥

गति (के विषयमें) । प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीयके अनुसार सिद्ध गतिमे सिद्ध होता है । इस रीतिसे इस नयकी अपेक्षा अल्प बहुत्व नहीं है । और अनन्तरपश्चात्कृतिकरूप पूर्वभावज्ञापनीयके अनुसार तो मनुष्यगतिमें सिद्ध होता है । इस प्रकार इसमे भी अल्प बहुत्व नही है । और परम्परपश्चात्कृतिककी अनन्तरगतिका विचार करते है । वह इस प्रकारसे है । सर्वस्तोक, तिर्य्यक्योनि अनन्तरगतिसिद्ध होते हैं, अनन्तरगतिसिद्ध मनुष्योंसे संख्येय गुण है तथा नारक जीवोंसे अनन्तरगतिसिद्ध सङ्ख्चेय गुण होते है और देवोंसे भी अनन्तरगतिसिद्ध सङ्ख्चेयं गुण होते है ।

लिङ्गम् । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य व्यपगतवेदः सिध्यति । नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका नपुंसकलिङ्गसिद्धाः स्त्रीलिङ्गसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः पुलिङ्गसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा इति ॥

लिङ्ग (के विषयमें अल्प बहुत्व) । प्रत्युत्पन्न ज्ञापनीयके अनुसार अपगतवेद (वेद अर्थात् स्त्रीपुंनपुंसक लिङ्गशून्य) सिद्ध होता है । इसका अल्प बहुत्व नही है । और पूर्वभावज्ञापनीयकी रीतिसे सर्वस्तोक नपुंसकलिङ्गसिद्ध, तथा स्त्रीलिङ्ग सिद्ध सङ्ख्चेय गुण होते है । और पुंलिङ्ग सिद्ध भी सङ्ख्चेय गुण है ।

तीर्थम् । सर्वस्तोकाः तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे नोतीर्थकरसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा इति । तीर्थकरतीर्थसिद्धा नपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः । तीर्थकरतीर्थसिद्धाः स्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः । तीर्थकरतीर्थसिद्धा पुमांसः सङ्ख्येयगुणा इति ॥

तीर्थ (के विषय अल्प बहुत्व) । सर्वस्तोक (सम्बन्धी) तीर्थंकर सिद्ध तीर्थंकरतीर्थमें नोतीर्थंकर सिद्ध सङ्ख्चेय गुण है । तीर्थंकरतीर्थसिद्ध नपुंसक सङ्ख्चेय गुण है । तीर्थंकरतीर्थसिद्ध स्त्रियां भी सङ्ख्चेय गुण है । तथा तीर्थंकरसिद्ध पुरुप भी सङ्ख्चेय गुण होते है ।

चारित्रम् । अत्रापि नयौ द्वौ प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च पूर्वभावप्रज्ञापनीयश्च । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्री नोअचारित्री सिध्यति । नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य व्यञ्जिते चाव्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते सर्वस्तोकाः पञ्चचारित्रसिद्धाश्चतुश्चारित्रसिद्धाः सङ्ख्येयगुणास्त्रिचारित्रसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । व्यञ्जिते सर्वस्तोकाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः सामायिकपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातसिद्धाः

सङ्ख्येयगुणाः सामायिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । छेदोपस्थाप्य-सूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः ।

चारित्र (के विषयमें अल्प बहुत्व)। यहां भी दो नय अर्थात् प्रत्युत्पन्नभाव ज्ञापनीय तथा पूर्वभावज्ञापनीय योजित करना (लगाना) चाहिये । प्रत्युत्पन्नभावज्ञापनीय नयके अनुसार नोचारित्र (पुरुष) तथा नो चारित्री (स्त्री) वा नो अचारित्र सिद्ध होते है। इसकी अपेक्षा अल्प बहुत्व नही है । और पूर्वभावज्ञापनीयके अनुसार व्यञ्जित तथा अव्यञ्जितमें भी । उसमें अव्यञ्जितमें सर्वस्तोक पञ्चचारित्र सिद्ध तथा चतुश्चारित्र सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते है। तथा त्रिचारित्र सिद्ध भी सङ्ख्येय गुण होते हैं। और व्यञ्जित (व्यक्त) रूपमें सर्वस्तोक (सम्बन्धी) सामायिक, छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, तथा यथाख्यात एतत्पंच चारित्र सिद्ध, तथा छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यात, एतत् चतुश्चारित्र सिद्ध संख्येय गुण होते हैं। तथा सामायिक, छेदोपस्थाप्य, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात, एतत् स्वरूप चतुश्चारित्र सिद्ध संख्येय गुण होते है। तथा सामायिक परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, तथा यथाख्यात एतत्स्वरूप चतुश्चारित्र सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं। तथा सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात एतत्स्वरूप त्रिचारित्रसिद्ध सङ्ख्येय गुण होते है । अथवा छेदोपस्थाप्य, सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यात एतत्स्वरूप त्रिचारित्र सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं।

प्रत्येकबुद्धबोधितः । सर्वस्तोकाः प्रत्येकबुद्धसिद्धाः। बुद्धबोधितसिद्धा नपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः। बुद्धबोधितसिद्धाः स्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः । बुद्धबोधितसिद्धाः पुमांसः सङ्ख्येयगुणा इति ।

प्रत्येक बुद्ध बोधित (के विषयमें अल्प बहुत्व)। सर्वस्तोक (सम्बन्धी) प्रत्येकबुद्धसिद्ध होते हैं। और बुद्धबोधित सिद्ध नपुंसक सङ्ख्येय गुण होते है। तथा बुद्धबोधित अर्थात् बुद्ध सिद्धोंसे बोध कराई हुई स्त्री सिद्ध (सिद्धता दशा प्राप्त स्त्रियां) भी सङ्ख्येय गुण होती हैं। और बुद्धबोधित पुरुष सिद्ध भी सङ्ख्येय गुण होते हैं।

ज्ञानम्। कः केन ज्ञानेन युक्तः सिध्यति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वः केवली सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः चतुर्ज्ञानसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः त्रिज्ञानसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । एवं तावदव्यञ्जिते व्यञ्जितेऽपि सर्वस्तोका मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः मतिश्रुतावधिज्ञान-सिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः ॥

ज्ञान (के विषयमें अल्प बहुत्वका विचार)। कौन किस ज्ञान युक्त (सहित) सिद्ध होता है। प्रत्युत्पन्न भाव ज्ञापनीय नयके अनुसार सब केवली (केवल ज्ञान युक्त) सिद्धताको प्राप्त होता है। इसकी अपेक्षासे अल्प बहुत्व भाव नहीं है। और पूर्व भाव ज्ञापनीय-

के अनुसार सर्व लोक द्विज्ञान (दो ज्ञानोंसे युक्त होनेसे) सिद्ध तथा चतुर्ज्ञानसिद्ध संङ्ख्येय गुण होते हैं । ऐसेही त्रिज्ञान (तीन ज्ञानोंसे युक्त होनेसे) सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं । इस प्रकार तो अव्यञ्जित रूपसे अर्थात् अविशेष रूपसे निरूपण हुआ और व्यञ्जित रूपसे भी सर्व लोक मतिज्ञान श्रुतज्ञान सिद्ध, तथा मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्य्याय ज्ञान सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं । ऐसेही मति, श्रुत, तथा अवधि ज्ञान (एतद्रूप त्रिज्ञान) सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं ।

अवगाहना । सर्वस्तोका जघन्यावगाहनासिद्धाः उत्कृष्टावगाहनासिद्धास्ततोऽसङ्ख्येयगुणाः यवमध्यसिद्धा असङ्ख्येयगुणाः यवमध्योपरिसिद्धा असङ्ख्येयगुणाः यवमध्याधस्तात्सिद्धा विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अवगाहना (के विषयमें अल्प बहुत्वका विचार) । सर्वस्तोक जघन्य अवगाहना सिद्ध होते है । और उत्कृष्ट अवगाहना सिद्ध उनसे असङ्ख्येय गुण होते हैं । तथा यवमध्यसिद्ध असङ्ख्येय गुण होते है, यवमध्योपरि (जवके मध्यके उपरि भाग प्रमाण शरीरको अवगाहन करनेवाले) सिद्ध भी असङ्ख्येय गुण होते हैं और यवके मध्य तथा अधोभाग सिद्ध विशेषाधिक (असङ्ख्येय) गुण वा सब विशेष अधिक इस रीतिसे होते हैं ।

अन्तरम् । सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धाः सप्तसमयानन्तरसिद्धाः षट्समयानन्तरसिद्धा इत्येवं यावद्द्विसमयानन्तरसिद्धा इति सङ्ख्येयगुणाः । एवं तावदन्तरेषु सान्तरेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः एकसमयान्तरसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः यवमध्यान्तरसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः अधस्ताद्यवमध्यान्तरसिद्धा असङ्ख्येयगुणाः उपरियवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अन्तर (के वियषमें अल्प बहुत्व) । सर्वस्तोक अष्ट समय अनन्तर सिद्ध, सप्त समय अनन्तर सिद्ध, षट् समय अनन्तर सिद्ध इसी प्रकार द्वि (दो) समय पर्य्यन्त अनन्तरसिद्ध सङ्ख्येय गुण हैं । इस रीतिसे तो अनन्तरोंमें निरूपण हुआ, और सान्तरोंमें भी सर्वस्तोक षट् मास अन्तर सिद्ध, तथा एक समय अन्तर सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं । तथा यवमध्य अन्तर सिद्ध संख्येय गुण होते हैं, और अधोभाग तथा यव मध्य अन्तर सिद्ध भी सङ्ख्येय गुण होते हैं । और उपरि भाग तथा यव मध्य अन्तर सिद्ध विशेष अधिक असङ्ख्येय गुण होते हैं । सब विशेष अधिक इसी प्रकार होते हैं ।

सङ्ख्या । सर्वस्तोका अष्टोत्तरशतसिद्धाः विपरीतक्रमात्सप्तोत्तरशतसिद्धादयो यावत्पञ्चाशत् इत्यनन्तगुणाः । एकोनपञ्चाशदादयो यावत्पञ्चविंशतिरित्यसङ्ख्येयगुणाः । चतुर्विंशत्यादयो यावदेक इति सङ्ख्येयगुणाः । विपरीतहानिर्यथा । सर्वस्तोका अनन्तगुणहानिसिद्धा असङ्ख्येयगुणहानिसिद्धा अनन्तगुणाः सङ्ख्येयगुणहानिसिद्धा सङ्ख्येयगुणा इति ॥

सङ्ख्या (के विषयमें अल्प बहुत्व) । सर्वस्तोक (सम्बन्धी) अष्टोत्तर शत अर्थात् आठ अधिक सौ १०८ सिद्ध होते हैं, और विपरीत क्रमसे सप्त उत्तर शत अर्थात् सात अधिक शत (सौ १००) सिद्ध आदि पञ्चाशत् (पचास) पर्य्यन्त ये सब अनन्त गुण होते हैं। और एक ऊन (एक कम) पञ्चाशत् अर्थात् ओनूचाससे आदि लेके पञ्चविंशति (पचीस) पर्य्यन्त, ये सब सिद्ध असङ्ख्येय गुण होते है। और चतुर्विंशति (चौबीस २४)से आदि लेके एक सिद्ध पर्य्यन्त सङ्ख्येय गुण होते हैं। और विपरीत रूपसे हानि, जैसे सर्व लोक अनन्त गुण हानि सिद्ध, असङ्ख्येय गुण हानि सिद्ध अनन्त गुण होते है, तथा सङ्ख्येय गुण हानि सिद्ध सङ्ख्येय गुण होते हैं।

एवं निसर्गाधिगमयोरन्यतरजं तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं शङ्कायतिचारवियुक्तं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं विशुद्धं सम्यग्दर्शनमवाप्य सम्यग्दर्शनोपलम्भाद्विशुद्धं च ज्ञानमधिगम्य निक्षेपप्रमाणनयनिर्देशसत्सङ्ख्यादिभिरभ्युपायैर्जीवादीनां तत्त्वानां पारिणामिकौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकानां भावानां स्वतत्त्वं विदित्वादिमत्पारिणामिकौदयिकानां च भावानामुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलयतत्त्वज्ञो विरक्तो निस्तृष्णस्त्रिगुप्तः पञ्चसमितो दशलक्षणधर्मानुष्ठानात्फलदर्शनाच्च निर्वाणप्राप्तियतनयाभिवर्धितश्रद्धासंवेगो भावनाभिर्भावितात्मानुप्रेक्षाभिः स्थिरीकृतात्मानभिष्वङ्गः संवृतत्वान्निरास्रवत्वाद्विरक्तत्वान्निस्तृष्णत्वाच्च व्यपगताभिनवकर्मोपचयः परीषहजयाद्बाह्याभ्यन्तरतपोनुष्ठानादनुभावतश्च सम्यग्दृष्टिविरतादीनां च जिनपर्यन्तानां परिणामाध्यवसायविशुद्धिस्थानान्तराणामसङ्ख्येयगुणोत्कर्षप्राप्त्या पूर्वोपचितकर्म निर्जरयन् सामायिकादीनां च सूक्ष्मसम्परायान्तानां संयमविशुद्धिस्थानानामुत्तरोत्तरोपलम्भात्पुलाकादीनां च निर्ग्रन्थानां संयमानुपालनविशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽत्यन्तप्रहीणार्तरौद्रध्यानो धर्मध्यानविजयादवाप्तसमाधिबलः शुक्लध्यानयोश्च पृथक्त्वैकत्ववितर्कयोरन्यतरस्मिन्वर्तमानो नानाविधानृद्धिविशेषान्प्राप्नोति। तद्यथा।

इस पूर्वोक्त रीतिसे निसर्गज तथा अधिगमज, इन दोनोंमेंसे अन्यन्तर (किसी एक) प्रशम (अत्यन्त शमता), संवेग (तीव्र–संसार–वासना–राहित्य), निर्वेद (संसारसे ग्लानिपूर्वक वैराग्य), अनुकम्पा (दीन जनादिके विषयमें कृपा आदि), आस्तिक्य (शास्त्र गुरु देव आदिमें आस्तिक्य बुद्धि) इत्यादिकी अभिव्यक्ति (प्रकटता रूप) लक्षणयुक्त, शङ्का आदि अतिचारोंसे शून्य, तथा विशुद्ध तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, और सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे विशुद्ध ज्ञानको प्राप्त होकर निक्षेप (नामादिनिक्षेप), प्रमाण (प्रत्यक्षादि प्रमाण), नय (नैगम सङ्ग्रह आदि), निर्देश (स्वामित्व) आदि तथा सत् सङ्ख्या आदि उपायोंसे जीव आदि तत्त्वों (जीव अजीव आदि षट्तत्त्वों) के, तथा पारिणामिक, औदयिक, औपशमिक, क्षायौपशमिक, तथा क्षायिक इन सबोंके यथार्थ तत्त्वोंको जानकर, तथा आदिमान् (आदिसहित), पारिणामिक, और औदयिक भावोंकी

उत्पत्ति, स्थिति, अन्यता (रूपान्तर परिणाम) रूप अनुग्रह तथा प्रलय (नाश) के तत्त्वको (यथार्थ स्वरूपको) जाननेवाला, अतएव विरक्त, तृष्णारहित, पञ्चसमिति-युक्त (ईर्ष्या आदि समितिसहित) तथा दशलक्षण धर्मों अर्थात् उत्तम क्षमा मार्दव आदि दशलक्षण धर्मोंके अनुष्ठान और उनके फलके दर्शनसे, निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्तिमें वर्तनोंसे पूर्ण रूपसे वृद्धिको प्राप्त श्रद्धा तथा संवेगसहित, भावनाओंसे (मैत्री करुणा आदि भावनाओंसे) भावित आत्मा अर्थात् पूजित आत्मा सहित, द्वादश अनुप्रेक्षाओंसे स्थिर आत्मा संयुक्त, इसीसे सर्वथा सङ्गरहित, तथा संवृत (संवरयुक्त) होनेसे तथा आस्रवरहित होनेसे, विरक्त होनेसे, और तृष्णासे वर्जित होनेसे नूतन (नये) कर्मोंके सञ्चयसे रहित, तथा परीषहोंके जयसे, बाह्य तथा आभ्यन्तर द्वादश प्रकारके तपके अनुष्ठानसे तथा अनुभावोंसे भी सम्यग्दृष्टि, तथा विरत आदिसे लेकर जिनपर्यन्त सिद्धोंके परिणाम, अध्यवसाय और विशुद्धि रूप स्थानान्तरोंके असङ्ख्येय गुण उत्कर्षताकी प्राप्तिसे पूर्वभवके वा पूर्वकालके कर्मोंकी निर्जरा (एकदेशकर्मनाश) करते हुए, तथा सामायिकसे आदि देके सूक्ष्मसम्परायपर्यन्त संयमविशुद्धिके स्थानान्तरोंके उत्तर उत्तर (आगे २) उपलम्भ (प्राप्ति होने)से पुलाकसे आदि लेके निर्ग्रन्थपर्यन्त सिद्धोंके संयमोंके पालनसे विशुद्धियोंके स्थानविशेषोंकी उत्तर २ प्राप्ति वा बोधसे युक्त, आर्त तथा रौद्र ध्यानोंसे सर्वथा रहित, धर्मध्यानके विजयसे प्राप्त समाधिबल, अर्थात् धर्मध्यानकी दृढतासे समाधिबल जिसको प्राप्त है ऐसा, तथा पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क इन दो प्रकारके शुक्ल ध्यानोंमेंसे किसी एक ध्यानमें वर्तमान महात्माजन नाना प्रकारकी ऋद्धि विशेषोंको अर्थात् अनेक प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त करता है। वे ऋद्धियां (सिद्धिविशेष) ये है, जैसेः—

आमर्शौषधित्वं विप्रुडौषधित्वं सर्वौषधित्वं शापानुग्रहसामर्थ्यजननीमभिव्याहारसिद्धिमीशित्वं वशित्वमवधिज्ञानं शारीरविकरणाङ्गप्राप्तितामणिमानं लघिमानं महिमानमणुत्वम्। अणिमा बिसच्छिद्रमपि प्रविश्यासीतां। लघुत्वं नाम लघिमा वायोरपि लघुतरः स्यात्। महत्त्वं महिमा मेरोरपि महत्तरं शरीरं विकुर्वीत । प्राप्तिर्भूमिष्ठोऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरभास्करादीनपि स्पृशेत्। प्राकाम्यमप्सु भूमाविव गच्छेत् भूमावप्स्विव निमज्जेदुन्मज्जेच्च। जङ्घाचारणत्वं येनाग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटतन्तुज्योतिष्करश्मिवायूनामन्यतममप्युपादाय वियति गच्छेत्। वियद्गतिचारणत्वं येन वियति भूमाविव गच्छेत् शकुनिवच्च प्रडीनावडीनगमनानि कुर्यात्। अप्रतिघातित्वं पर्वतमध्येन वियतीव गच्छेत् । अन्तर्धानमदृश्यो भवेत्। कामरूपित्वं नानाश्रयानेकरूपधारणं युगपदपि कुर्यात् तेजोनिसर्गसामर्थ्यमित्येतदादि ॥ इति इन्द्रियेषु मतिज्ञानविशुद्धिविशेषाद्दूरात्स्पर्शनास्वादनघ्राणदर्शनश्रवणानि विषयाणां कुर्यात्। संभिन्नज्ञानत्वं युगपदनेकविषयपरिज्ञानमित्येतदादि ॥ मानसं कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं पदप्रकरणोद्देशाध्यायप्राभृतवस्तुपूर्वाङ्गानुसारित्वमृजुमतित्वं विपुलमतित्वं

परचित्तज्ञानमभिलषितार्थप्राप्तिमनिष्टानवाप्तीत्येतदादि। वाचिकं क्षीरास्रवित्वं मध्वास्रवित्वं वादित्वं सर्वरुतज्ञत्वं सर्वसत्त्वावबोधनमित्येतदादि। तथा विद्याधरत्वमाशीविषत्वं भिन्ना-भिन्नाक्षरचतुर्दशपूर्वधरत्वमिति॥

आमर्श—औषधत्व (विचार मात्रसे औषधादि प्रयोग सामर्थ्य), विषय-औषधत्व (जलविन्दुमात्रसे व्याधिनाशसामर्थ्य), शाप तथा अनुग्रह (आशीर्वाद)को उत्पन्न करनेवाली वचनकी सिद्धि, ईशित्व (ऐश्वर्यवत्ता), अणिमा लघिमा, महिमा, तथा अणुत्व इत्यादि सिद्धि प्राप्त होती हैं। इनमें कमलके सूत्रके छिद्रमें भी प्रवेश करके स्थित होसके इस प्रकारका अणिमा (छोटापन) है। लघुत्वको लघिमा कहते हैं, जैसे वायुसे भी लघुतर हो जाय अर्थात् अति हलकापनका सामर्थ्य लघिमा सिद्धि है। महिमा अर्थात् मेरु पर्वतसे भी अधिक वड़ा शरीर करसके, यह महिमा ऋद्धि है। प्राप्ति, पृथिवीपर स्थित होकर अङ्गुलीके अग्रभागसे मेरुके शिखर तथा सूर्य आदिको भी स्पर्श कर (छू) सकै अर्थात् सर्वत्र प्राप्त होनेका सामर्थ्य यह प्राप्ति नामक सिद्धि है। प्राकाम्य-पृथिवीके समान जलमें भी पैरोंसे चल सकना, और जलके समान पृथिवीपर भी जब चाहै तब डूब जाय, और जब चाहै तब उतराने लगजाय, यह सामर्थ्य अर्थात् इच्छा वा कामनाके अनुसार कार्य करनेका सामर्थ्य प्राकाम्य है। जङ्घाचारणत्व-जिसके द्वारा अग्निकी शिखा, धूम, कुहिरा, जलकी धारा, मर्कटी अर्थात् मकरीके सूत (जाला) वा किसी ज्योतिर्मय पदार्थके किरण, तथा वायु, इनमेंसे किसीको ग्रहण करके अर्थात् अग्निशिखा धूम आदिमेंसे किसीके आधारसे आकाशमें गमन कर सकता है। और आकाशगतिचारणता कि जिससे आकाशमें भूमिके तुल्य गमन करै, और पक्षीके समान ऊपर उड़ना तथा नीचे उतरना आदि विशेष प्रकारके गमन आगमन करे। तथा अप्रतिघातित्व (किसी पदार्थसे प्रतिघात-राहित्य अर्थात् अवरोधका सर्वथा अभाव, जिसके द्वारा पर्वतके मध्यमें भी अवकाशसहित आकाशके सदृश चल सकता है। अन्तर्धानत्व, जिसके द्वारा लोगोंकी दृष्टिसे अदृश्य हो सकता अर्थात् लोप हो (छिप जा) ता है। कामरूपित्व, अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेका सामर्थ्य; जिससे कि एकही कालमे नाना प्रकारके आश्रयसे अनेक रूप यह योगी धारण कर सकता है। तथा तेजोनिसर्गसामर्थ्य, विशेष तेज उत्पन्न करनेकी शक्ति, इत्यादि सिद्धयां प्राप्त होती हैं। तथा इन्द्रियोंके विषयमें मतिज्ञानकी विशुद्धिकी विशेषता (विलक्षणता वा विचित्रता) से दूरसेही स्पर्शन, आस्वादन, घ्राण (सूंघना), दर्शन (देखना) और श्रवण (सुनना) आदि विषयोंको अनुभव कर सकता है। संभिन्नज्ञानत्व, एक कालमेंही पृथक् २ अनेक विषयोंका परिज्ञान प्राप्त करना, इत्यादि। और मानस कोष्ठबुद्धित्व बीजबुद्धित्व तथा पद, प्रकरण, उद्देश, अध्याय, प्राभृत, वस्तु पूर्वाङ्गानुसारिता, ऋजुमतित्व, विपुलमतित्व, परचित्तज्ञान (दूसरेके चित्तके अभिप्राय-

का ज्ञान) अभिलषित अर्थात् अपनेको अभीष्ट पदार्थकी प्राप्ति, तथा अनिष्टकी अप्राप्ति इत्यादि सामर्थ्यविशेष सिद्धियां प्राप्त होती हैं। और वाचिक (वागुजन्य सामर्थ्य ' वाणीमें क्षीरस्राविता अर्थात् ऐसा मिष्ट भाषण मानो वचनसे दुग्धप्रवाह झरता है, मधु आस्राविल्व, अर्थात् वचनसे मानो मधुप्रवाह स्रवीभूत (वहता वा झरता) होता है, प्रबल वादियोंसे भी वाद करनेका सामर्थ्यविशेष, सर्वरुतज्ञान अर्थात् सब पशु पक्षी आदिके शब्दोंका ज्ञान। और सब जीवोंका अवबोधन सब जीवमात्रका ज्ञान वा सबको बोधन (ज्ञान प्रदान करने) का सामर्थ्यविशेष, इत्यादि सामर्थ्यविशेष वाचिक सिद्ध होता है। तथा विद्याधरत्व (विद्याधरपदप्राप्तिसामर्थ्य) और भिन्न अभिन्न अक्षर चतुर्दश पदत्व, इत्यादि सिद्धिविशेष उस जीवको प्राप्त होते हैं।

ततोऽस्य निस्तृष्णत्वात्तेष्वनभिष्वक्तस्य मोहक्षपकपरिणामावस्थस्याष्टाविंशतिविधं मोहनीयं निरवशेषतः प्रहीयते। ततश्छद्मस्थवीतरागत्वं प्राप्तस्यान्तर्मुहूर्तेन ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणि युगपदशेषतः प्रहीयन्ते। ततः संसारबीजबन्धनिर्मुक्तः फलबन्धनमोक्षापेक्षो यथाख्यातसंयतो जिनः केवली सर्वज्ञः सर्वदर्शी शुद्धो बुद्धः कृतकृत्यः स्नातको भवति। ततो वेदनीयनामगोत्रायुष्कक्षयात्फलबन्धननिर्मुक्तो निर्दग्धपूर्वोपात्तेन्धनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगाद्धेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावाच्छान्तः संसारसुखमतीत्यात्यन्तिकमैकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं नित्यं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति॥

और इसके पश्चात् तृष्णाके अभावसे उन पूर्वकथित अणिमा आदि सिद्धियोंमें आसक्तता वा सङ्गरहित, तथा मोहक्षपक (मोहनीय कर्मको नाश करनेवाले) परिणाम भावमें स्थित इस जीवके अट्ठाईस (२८) प्रकारके मोहनीय कर्म सर्वथा नाशको प्राप्त होते हैं। और इसके अनन्तर छद्मस्थ वीतरागता दशाको प्राप्त इस जीवके अन्तर्मुहूर्त कालमें ही ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीनो कर्मप्रकृतियां एक कालमें-ही सर्वथा क्षीण (नष्ट) हो जाती हैं। इसके अनन्तर संसारके बीजरूप बन्धनसे विनिर्मुक्त, फलरूप बन्धनसे मोक्षकी अपेक्षा करनेवाला, यथाख्यात संयममें संयत, अर्थात् यथाख्यात चारित्ररूप संयमसहित जिन केवली(केवलज्ञानसम्पन्न) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी (सर्वद्रष्टा), शुद्ध, बुद्ध, कृतकृत्य (जो कुछ करना चाहिये था वह सब कर चुकनेवाला), स्नातक रूप यह जीव होता है। और इसके अनन्तर वेदनीय, नाम, गोत्र, तथा आयुः कर्मके क्षय होनेसे फलबन्धनसे सर्वथा विनिर्मुक्त (छूटा हुआ), पूर्व कालमें ग्रहण हुए इन्धनको भस्म करनेवाला उपादान कारण (सर्वथा इन्धन) शून्य अग्निके समान, तथा पूर्वकालमें ग्रहण किये हुए जन्मोंके वियोगसे तथा हेतु (निमित्त)के अभावसे आगेके जन्मोंके प्रादुर्भाव होनेसे सर्वथा शान्त, और संसारसुखको अतिक्रमण (लंघन) करके आत्यन्तिक (जिसका कभी अन्त न हो ऐसा), ऐकान्तिक (नित्य वा सर्वदा स्थायी)

निरुपम (उपमारहित), निरतिशय (जिससे बढ़के कोई सुख न हो ऐसा), नित्य निर्वाण जो मोक्षरूप सुख है, उस मोक्षको यह जीव प्राप्त होता है।

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥ १ ॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कार्त्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥ २ ॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥ ३ ॥
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति।
तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥ ४ ॥
ततः क्षीणचतुष्कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥ ५ ॥
शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥ ६ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥ ७ ॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवाङ्कुरः ॥ ८ ॥
तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ ९ ॥
कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ १० ॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाबुनः।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ ११ ॥
एरण्डयन्त्रपेडासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः।
कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥ १३ ॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीतयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वं गतिरात्मनाम् ॥ १४ ॥
अतस्तु गतिवैकृत्यमेषां यदुपलभ्यते।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥ १५ ॥
अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः।
ऊर्ध्वमेव तु तद्धर्मा भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ १६ ॥

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः।
समं तथैव सिद्धस्य गतिमोक्षभवक्षयाः॥ १७॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह।
युगपद्भवतो यद्वत् तथा निर्वाणकर्मणोः॥ १८॥
तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभास्वरा।
प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता॥ १९॥
नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा।
ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः॥ २०॥
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शनैः।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाहेत्वभावाच्च निष्क्रियाः॥ २१॥
ततोऽप्यूर्ध्वं गतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः॥ २२॥
संसारविषयातीतं मुक्तानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः॥ २३॥
स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्यत्र मे शृणु॥ २४॥
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च॥ २५॥
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति मन्यते॥ २६॥
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम्॥ २७॥
सुखप्रसुप्तवत्केचिदिच्छन्ति परिनिर्वृतिम्।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखानुशयतस्तथा॥ २८॥
श्रमक्लमदव्याधिमदनेभ्यश्च सम्भवात्।
मोहोत्पत्तेर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः॥ २९॥
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपगीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं सुखम्॥ ३०॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यादनुमानोपमानयोः।
अत्यन्तं चाप्रसिद्धं तद्यत्तेनानुपमं स्मृतम्॥ ३१॥
प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम्।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्नच्छद्मस्थपरीक्षया॥ ३२॥ इति॥

इस रीतिसे अर्थात् पूर्वकथित उपायोंसे तत्त्वोंके परिज्ञान अर्थात् पूर्णरूपसे सब जीव आदि तत्त्वोंके ज्ञान होनेसे सर्वथा विरक्तताको प्राप्त इस जीवके आस्रवके अभावसे

नूतन (नये) कर्मके सन्तान (कर्मपरम्परा)के छिन्न होनेपर ॥ १ ॥ और यथोक्त
(उ (शास्त्रकथित) क्षयके निमित्तोंसे पूर्व उपार्जित कर्मोंको भी नाश करते हुए संसारका
मो बीजभूत जो मोहनीय कर्म है वह भी सम्पूर्ण रूपसे नाशको प्राप्त हो जाता है;
और इस मोहनीयके क्षीण होनेके पश्चात् ज्ञान प्रदर्शन अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय ये तीनो कर्म एकही कालमें सम्पूर्ण रूपसे नाशको प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ और जिस प्रकार गर्भसूचीके नाश होनेपर तालस्तंभ नष्ट होजाता है, इसी रीतिसे मोहनीय कर्मके क्षय होनेपर (शेष)कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ और इसके पश्चात्, अर्थात् मोहनीय तथा ज्ञानावरण आदि तीन कर्मोंके नाश होनेके अनन्तर क्षीणचतुष्कर्म्मा, तात्पर्य्य यह जिसके मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा अन्तराय, ये चारो कर्म क्षीण (नष्ट) हो गये हैं, ऐसा यह जीव कहा जाता वा होता है, और पुनः आख्यात (यथाख्यात) संयममें प्राप्त होकर वीजबन्धनसे विनिर्मुक्त स्नातक तथा परमेश्वररूपही हो जाता है ॥ ५ ॥ और पुनः शेषकर्मफलापेक्ष अर्थात् आयुः नाम आदि शेष कर्मोंकी अपेक्षासे शुद्ध, बुद्ध, निरामय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन तथा केवली 'इत्यादि पदवाच्य' होता है ॥ ६ ॥ और सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयके पश्चात् आयुः नाम आदि सब कर्मोंके नाशके अनन्तर इस प्रकार निवार्ण (मोक्ष) दशा प्राप्त होती है, जैसे सम्पूर्ण इन्धनोंके भस्म करनेके पश्चात् उपादान सन्तति (उपादानप्रवाह)से रहित शुद्ध देदीप्यमान अग्नि ॥ ७ ॥ जैसे बीजके सर्वथा भस्म होनेके पश्चात् पुनः अङ्कुरका प्रादुर्भाव (उत्पत्तिरूप दर्शन) नहीं होता है, ऐसेही संसारके बीजभूत कर्मोंके सर्वथा दग्ध (भस्म वा क्षय) होनेपर पुनः यह जन्मा अथवा संसाररूप अङ्कुर नहीं उपजता (जन्मता वा उत्पन्न होता) है ॥ ८ ॥ पुनः पूर्वकर्मोंके प्रयोगसे, असङ्ग होनेसे, बन्धनसे विनिर्मुक्त होनेसे, तथा ऊर्ध्व गतिमें गौरव धारण करनेसे आलोकान्त (लोकान्त) पर्यन्त यह जीव ऊर्ध्व गमन करता है ॥ ९ ॥ कुंभकारके चक्रमें, दोला (हिंडोला वा झूलनेके यंत्र)में तथा बाणमें जैसे पूर्वप्रयोगसे भ्रमण गमन आदि क्रिया होती हैं, ऐसेही सिद्धोंके भी ऊर्ध्वगतिरूप कर्म पूर्वप्रयोगसे कहा गया है ॥ १० ॥ जैसे मृत्तिका आदिके लेपरूप सङ्गसे विनिर्मुक्त होनेपर अलाबु (तुंबीफल)की जलमें ऊर्ध्व गति दृष्ट (देखीगई) है, ऐसेही कर्मोंके सङ्गसे विनिर्मुक्त (छूटनेपर) होनेसे जीवकी भी ऊर्ध्व गति होती है ॥ ११ ॥ जैसे एरण्डफलके गुच्छके बन्धनसे छूटनेपर एरण्डबीजोंकी ऊर्ध्व गति होती है, ऐसेही कर्मरूपी बन्धनसे विनिर्मुक्त होनेपर सिद्ध जीवकी भी ऊर्ध्व गति होती है ॥ १२ ॥ उत्तम जिन महात्माओंने ऐसा कहा है कि जीव ऊर्ध्वगमनमें गौरव धर्म धारण करते हैं, और पुद्गल अधोमार्गकी गतिमें गौरवधारी होते हैं ॥ १३ ॥ जैसे पाषाण, वायु, और अग्निकी गति स्वभावसे ही अधोभाग, तिर्य्यक.

था ऊर्ध्वभागमें क्रमसे होती हैं, ऐसेही जीवोंकी स्वभावसिद्ध गति ऊर्ध्व देशमेंही तेती है ॥ १४ ॥ और पूर्वकथितके विपरीत (विरुद्ध) जो इन (जीव पुद्गल आदि) ो होती है यह कर्मसे, प्रतिघातसे तथा प्रयोगसे इष्ट है ॥ १५ ॥ जीवोंकी कर्मसे नधोभाग, तिर्य्यग्भाग तथा ऊर्ध्व भागमें भी गति होती है किन्तु क्षीणकर्म जीवोंकी नर्थात् जिनके कर्म सर्वथा क्षीण होगये हैं ऐसे जीवोंकी तो स्वाभाविक गति ऊर्ध्व भागमे ो होती है, क्योंकि जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगति धर्मवाला है ॥ १६ ॥ जैसे द्रव्य क्रि- ाकी उत्पत्ति, आरम्भ, तथा नाश साथ ही होते है, ऐसेही सिद्धकी गति, मोक्ष तथा ंसारक्षय साथ ही होते है ॥ १७ ॥ जैसे प्रकाशकी उत्पत्ति और अन्धकारका नाश क काल्में ही होते है, ऐसेही निर्वाण (मोक्ष)की उत्पत्ति तथा कर्मका नाश एक ही ालमे होते है ॥ १८ ॥ सूक्ष्म, मनोज्ञ (अतिरमणीय), सुगन्धपूर्ण, पवित्र, तथा रमप्रकाशमय, प्राग्भारा नाम पृथिवी इस लोकके शिरपर (लोकाकाशके अन्तमें ऊपर) ग्रवस्थित (वर्तमान) है ॥ १९ ॥ मनुष्यलोकके समान उसका व्यास है, और यह थिवी श्वेत छत्रके सदृश अति शुभ (परमशुद्ध श्वेतवर्ण) है, उसी पृथिवीके ऊपर ोकान्तमें सिद्धगति स्थित हैं ॥ २० ॥ तादात्म्यसम्बन्ध अर्थात् अभेद सम्बन्धसे वल ज्ञान और दर्शनसे उपयुक्त हैं, तात्पर्य्य यह कि केवल ज्ञान तथा दर्शनरूप उप- ोगमय है, तथा सम्यक्त्व सिद्धता अवस्था सहित है, और कारणके अभावसे निष्क्रिय ार्थात् क्रियारहित हैं ॥ २१ ॥ यदि कदाचित् ऐसी बुद्धि हो अर्थात् उस सिद्धस्थान । सिद्धशिलाके ऊपर भी ऊर्ध्व गति स्वभावसे सिद्ध जीवोंकी गति क्यों नहीं होती? यदि ऐसी शङ्का हो तो, इसका उत्तर यह है कि लोकान्तके ऊपर धर्मास्तिकाय नहीं है, अतः ऊर्ध्वगति नहीं होती, और धर्मास्तिकाय गतिमे परम हेतु है ॥ २२ ॥ संसारके सं- पूर्ण विषयोंसे पर नाशरहित तथा अव्याबाध (सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित) परम सुख मुक्त जीवोंको होता है, ऐसा परमर्षि महात्माओंने कहा है ॥ २३ प्रसङ्ग रहा, शरीरशून्य तथा अष्ट कर्मों (मोहनीय आदि)के नाशसहित जीवको परम सुख (मोक्षसुख) कैसे होता है, यदि ऐसी शङ्का हो तो मुझसे सुनो, अर्थात् शङ्काका उत्तर सुनो ॥ २४ ॥ इस लोकमें चार पदार्थोंमें सुख शब्दका प्रयोग (व हार किया जाता है) जैसे विषयमें, वेदना (पीडा)के अभावमें, विपाक (परिणाम तथा मोक्षमें ॥ २५ ॥ अग्नि सुख (सुखदायक) है, तथा वायु (पवन सुख अ सुखकारक है) इत्यादि रूपसे विषयोंमें सुख शब्दका प्रयोग किया जाता है, ऐसे दुःखोंके अभावमें भी मै सुखी स्थित हूं ऐसा पुरुष मानता है ॥ २६ ॥ तथा पुण्यकर्मो विपाक (फलभोगके समय)में इन्द्रिय तथा पदार्थसे उत्पन्न सुख शब्दसे सबको इष्ट क जाता है, और कर्मोंके क्लेशोंसे विमुक्त होनेपर मोक्षमें सर्वोत्तम सुख होता है ॥ २७ ॥

इस मोक्षके सुखको कोई तो उत्तम सुषुप्ति (गाढ निद्रा)के तुल्य परमशान्तिरूप चाहते (मानते) हैं, परन्तु मोक्षसुखको निद्रासदृश मानना अयोग्य है, क्योंकि सुखके सम्बन्धसे वहांपर क्रियावत्ता है ॥ २८ ॥ तथा इसकी अयोग्यता यों भी है कि इस प्रकारके सुखका सम्भव श्रम, खेद, मद, व्याधि तथा मदन (मैथुन)से भी है, और दर्शनको नाश करनेवाले कर्मके विपाक (मोहकी उत्पत्ति)से भी पूर्वोक्त असङ्गति सिद्ध होती है॥२९॥ इस सम्पूर्ण संसारभरमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसके साथ उसकी उपमा दें, इस हेतुसे वह मोक्षसुख निरुपम अर्थात् उपमाशून्य (सर्वोत्तम) है ॥ ३० ॥ अनुमान तथा उपमानका प्रामाण्य लिङ्गप्रसिद्धि (हेतुप्रसिद्धि)से होता है; सो इनकी ...यता (अनुमान आदि विषयाभाव)से जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है इसी लिये वह अ... कहा गया है ॥ ३१ ॥ और प्रत्यक्षभाव (प्रत्यक्ष ज्ञानकी विषय)ता प्राप्त अर्हत् जिनभगवानोंको है, इस लिये उनसे कहा हुआ वह प्राज्ञोंसे (मोक्ष) ग्रहण किया जाता (जानाजाता) है, न कि छद्मस्थोंकी परीक्षासे उसका ...होता है ॥ ३२ ॥

यस्त्विदानीं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणसंपन्नो भिक्षुर्... घटमानः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तिः कर्मणां चातिगुरुत्वादकृतार्थ एवोप... सौधर्मादीनां सर्वार्थसिद्धान्तानां कल्पविमानविशेषाणामन्यतमे देवतयोपपद्यते तत्र सुकृतकर्मफलमनुभूय स्थितिक्षयात्प्रच्युतो देशजातिकुलशीलविद्याविन...विषयविस्तरविभूतियुक्तेषु मनुष्येषु प्रत्यायातिमवाप्य पुनः सम्यग्दर्शनादिवि...धिमवाप्नोति । अनेन सुखपरम्परायुक्तेन कुशलाभ्यासानुबन्धक्रमेण परं त्रिर्ज...सिध्यतीति ॥

और जो सम्य...न, ज्ञान, तथा चरण (चारित्र)से युक्त साधु मोक्षके अर्थ चेष्टा करता है; काल, संहनन तथा आयुःके दोषसे अल्पशक्ति (न्यून सामर्थ्य) होनेसे और...की अति गुरुताके कारण विना कृतार्थ हुए अर्थात् मोक्षप्राप्तिरूप कृतार्थताको ...होकर उपराम भावको प्राप्त होता है, वह सौधर्म आदिसे लेकर सर्वार्थसिद्ध-...जो विमान विशेष हैं, उनमेंसे किसी एकमें देवता होकर उत्पन्न होता है। और सुकृत कर्मोंके अर्थात् पुण्यकर्मोंके फलको भोगकर, पुनः स्थिति काल (जिस ...वा देवयोनिविशेषमें जितना स्थितिका काल नियत है, उस नियत काल)के ...नेके पश्चात् वहांसे प्रच्युत होकर (गिरनेपर) देश (उत्तम देश), काल (उत्तम ...), जाति (सद्जाति), शील, विद्या, विनय, विभव (अनेक प्रकारके ऐश्वर्य्य), विषय ...के प्रकारके उत्तम विषयोंके सुख) तथा विस्तार (विस्तार वा विशालता) और ...योंसे सहित मनुष्योंमें जन्म पाकर पुनः सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध बोधि, (सम्य...ज्ञानचारित्र) को प्राप्त होता है। इस सुखपरम्परा (सुखश्रेणि)से युक्त कुशल...के अनुबन्धक्रमसे तीन चार इस संसारमें जन्म लेकर पुनः सिद्धतादशा (मोक्ष-)को प्राप्त होना है।

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुःखार्त्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

जगत्प्रकाशक यशयुक्त शिवश्री नामक वाचकमुख्यके प्रशिष्य (पौत्रशिष्य,) और एकादशा-ङ्गवेत्ता श्रीघोषनन्दि क्षमणके शिष्य, ॥१॥ तथा वाचनारूपसे महावाचक क्षमण मुण्डपादके शिष्य प्रथित (प्रसिद्ध) कीर्ति वाचकाचार्य मूल नामके शिष्य ॥ २ ॥ स्वाति (तन्नामक पुरुष)के तनय, और वात्सी (इस नामकी स्त्री)के पुत्र, न्यग्रोधिका (स्थान)में उत्पन्न, कौभीषणी नाम गोत्रयुक्त कुसुमपुरमें विहार करते हुए ॥ ३ ॥ भलीभांति गुरुक्रमसे प्राप्त (गुरुपरम्परागत) इस अमूल्य अर्हत्प्रवचन (शास्त्र)को धारण (जानकर) तथा दुःखोंसे पीडित और दुष्ट आगमोंसे नष्टबुद्धि संसारको देखकर ॥ ४ ॥ जीवोंके ऊपर कृपा कर नागरवाचक (नागरवाचक शाखोत्पन्न) पूर्वकथित विशेषणयुक्त श्रीउमास्वातिने इस विशाल तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रको स्पष्ट रूपसे भाषण किया ॥ ५ ॥ जो कोई इस तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको जानैगा, और जैसा इसमें लिखा है वैसा करैगा, वह अव्याबाध (बाधारहित) परमार्थ सुख, अर्थात् मोक्ष सुखको शीघ्रही पावेगा ॥ शम् ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

इति तत्त्वार्थधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे आचार्य्योपाधिधारि–प्रयागमण्डलान्तर्गत-हरिपुरनामकवास्तव्य–पूज्यपादमहामहोपाध्यायश्रीदामोदरशास्त्रिप्रधान-शिष्यठाकुरप्रसादशर्मप्रणीतभाषाऽनुवादे दशमोऽध्यायः ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

---

*Cover printed by
Apurva Krishna Bose, at the
Indian Press Ltd., Allahabad*



PUBLISHER:
KUMAR DEVENDRA PRASAD
Proprietor. **THE CENTRAL JAINA PUBLISHING HOUSE,
ARRAH, (India)**